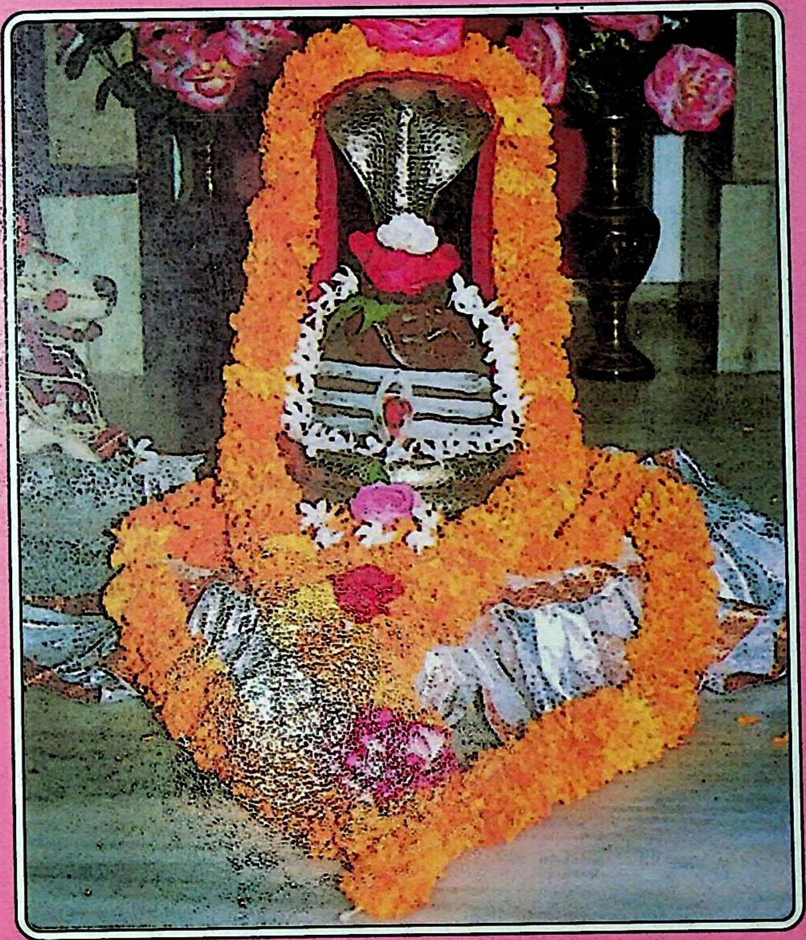
ॐ

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

श्रीभारतीतीर्थमुनिविरचिता

वैयासिकन्यायमाला

(संस्कृतसंस्करणम्)



ललिताव्याख्याकारः

वेदान्तसर्वदर्शनाचार्यः श्रीकैलासदशमपीठाधीश्वरः परमादर्शाचार्यमहामण्डलेश्

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

कैलास विद्या प्रकाशन, कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ.प्र.)

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

श्रीकैलासविद्यालोकस्यैकषष्ठीतमः (६१) सोपानः

श्रीभारतीतीर्थमुनिविरचिता

॥ वैयासिकन्यायमाला ॥

(संस्कृत संस्करणम्)

ललिता व्याख्याकार :

वेदान्तसर्वदर्शनाचार्यः श्रीकैलासदशमपीठाधीश्वरः

परमादर्शाचार्यमहामण्डलेश्वरः

श्रीमत्स्वामीविद्यानन्दगिरिजीमहाराजः

विद्वत्सम्पादकमण्डलेन सम्पादितम्

प्रकाशक :

श्रीकैलासविद्याप्रकाशनम्, हृषीकेशः (उ०प्र०)

देवानुप्रहत्रिदशकमहोत्सवप्रसङ्गे प्रकाशितम् ।

प्रथम संस्करणम्	विजयादशमी	वि० सं० २०५५	मूल्यम्
२०००	शाङ्कराब्दः १२११	सन् १९९८	१५० रुप्यकाणि

ISBN-81-900625-4-9

ग्रन्थ प्राप्तिस्थानानि: दूरभाष :

- श्री कैलास आश्रमः, कैलास गेट, हृषीकेशः—२४९२०१ (०१३५)-४३०५९८
- श्री ब्रह्मानन्द आश्रमः, मुनि की रेती, हृषीकेशः-२४९२०१
- श्री दशनाम सन्यास आश्रमः भूपतवाला, हरिद्वारः-२४९४०१ (०१३३)-४२७२०६
- श्री कैलासाश्रमः, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१९३ (०१३७४)-२३६१
- श्री कैलास धामः, कैलास धाम मार्गः, नई झूसी, इलाहाबाद-२२१५०६
- श्री कैलास विद्या तीर्थः, ६-भाई वीरसिंह मार्गः, नई दिल्ली-११०००१ (०११)-३३४७४७५
- श्री कैलासाश्रमः, कैलासाश्रम मार्गः, मॉडल टाउन, रोहतक-१२४००१
- श्री कैलास विद्यातीर्थः, गिरियक मार्गः, राजगिर, जि० नालन्दा—८०३११६
- श्री रामाश्रमः, समाना मण्डी, पटियाला-१४७१०१ (०१७६४)-२०४५०
- श्री नर्मदा सत्सङ्ग आश्रम, भिलाड़ियाघाट, शिवपुर, होशंगाबाद (म० प्र०)
- श्री कैलास विद्या धामः, सेक्टर-५, रूपनगर, जम्मूतवी-१८००९१ (०१९१)-४३३३४९
- श्री शङ्कर ब्रह्मविद्या कुटीर, ८३-ए, मुजफ्फर नगर-२५१००१

मुद्रक :

श्री कैलास विद्या प्रेस, ब्रह्मानन्दाश्रमः

मुनिकीरेती, हृषीकेशः ।

Sri Kailas Vidya Prakashana Series—61

Sri Bharati Tirtha Muni's

VAIYASIKANYAYAMALA

Sanskrit Edition

* * *

Lalita Hindi Commentary

by

Vedanta Sarvadarshanacharya
Sri Kailas Peethadheeswara Paramadarshacharya
Mahamandaleshwara
Srimatswami Vidyananda Giriji Maharaj

Edited By

Editorial Panel of Sri Kailas Ashram

Published by:
SRI KAILAS VIDYA PRAKASHANAM
Rishikesh, U.P.

In Commemoration of
DEVANUGRAHATRIDASHAKA MAHOTSAVA

First: Impression		Vikram Samvatsar	Price
2000	Vijayadasami Shankrabda 1211	2055 A.D.-1998	150.00 Rs. only.

ISBN-81-900625-4-6

The Books are available in India at:

Telephone No.

★ Shri Kailas Ashram, Rishikesh-249 201 — 0135/430598

★ Shri Brahmananda Ashram, Rishikesh-249 201

★ Sri Kailas Ashram, Ujeli, Uttarkashi-249 193 — 01374/2361

★ Shri Dashnam Sannyas Ashram, Bhupatwala, Haridwar-249 401 — 0133/427206

★ Sri Ram Ashram, Samana Mandi, Distt. Patiyala, (Punjab)-147 101 — 01764/20450

★ Shri Kailas Ashram, Model Town, Rohtak (Hariyana)—124 001

★ Shri Kailas Dham, Nai Jhusi, Allahabad-221 506

★ Shri Kailas Vidya Tirtha (Adi Shankaracharya Smaraka) 6, Bhai Vir singh Marg, New Delhi-110001 — 011/3347475

★ Shri Kailas Vidya Tirtha, Rajgir, Distt. Nalanda, (Bihar).

★ Shri Narmada Satsang Ashram, Bhiladiya Ghat, Distt. Hoshangabad—461225

★ Shri Kailas Vidya Dham, Roopnagar, Sector-5, Jammu Tawi—180001

★ Shri Shankara Brahma Vidya Kutir, 83-A, Dwarakapuri Muzaffar Nagar—251001. — 0191/433349

Printed At - Sri Kailas Vidya Press, Muni-Ki-Reti, Rishikesh-249 201

ॐ

प्राक्कथन

सनातन धर्म का मूल ग्रन्थ 'वेद' है। चतुर्वेदभाष्यकार सायणाचार्य ने ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य की रचना के अवसर पर यह सूचित किया है कि 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'। वस्तुतस्तु अनादि ज्ञानराशि ही वेद है। प्रत्येक सृष्टि के पूर्व की सृष्टि में वेद जिस क्रम से अवस्थित था, आनुपूर्वी उसी क्रम से सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर के द्वारा प्रकट होता है। अतः परमेश्वर को वेद का रचयिता नहीं कहा जा सकता। इसी कारण से वेद को अनादि और अपौरुषेय कहा जाता है। भगवान् वेद व्यास जी के शिष्य महर्षि जैमिनि ने कर्मप्रतिपादक वेद भाग (कर्मकाण्ड) के अर्थ के विचार के लिए जिस सूत्रात्मक ग्रन्थ की रचना की है उसका नाम है—पूर्वमीमांसा दर्शन और वेद विभाग के कर्ता महर्षि कृष्ण द्वैपायन भगवान् वेदव्यास जी ने स्वयं उपनिषदों (ज्ञानकाण्ड) के अर्थ के विचार के लिए और वेदविरुद्ध मतों के निराकरण के लिए जिस सूत्रात्मक ग्रन्थ की रचना की है उसका नाम है—उत्तरमीमांसा दर्शन। 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (पा० अ० ४-३-११०) के अनुसार वेदव्यासरचित सूत्र ग्रन्थ का एक नाम भिक्षु सूत्र भी है। इस वेदान्त दर्शन का अवलम्बन करके भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों ने अपने मत की पुष्टि की है। इस ब्रह्मसूत्र के ऊपर जगद्गुरु भगवान् आद्य शङ्कराचार्य जी ने अमूल्य भाष्य की रचना की है। ब्रह्मसूत्र के अन्य भाष्यों की अपेक्षा शाङ्करभाष्य इसलिए सर्वोत्कृष्ट है क्योंकि शाङ्करभाष्य में वर्णित सूत्रार्थ सम्प्रदाय परम्पराक्रम से प्राप्त है, यथा—

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्र पराशरं च।
व्यास शुकं गौड़पदं महान्तं गोविन्द योगीन्द्रमथास्य शिष्यम्॥
श्री शङ्कराचार्यमथास्य पद्मपाद च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तं तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून् संततमानतोऽस्मि॥

भगवान् वेदव्यास को ब्रह्मसूत्र का जो अर्थ विवक्षित था उसको अपने पुत्र एवं शिष्य विरक्त शिरोमणि श्री शुकदेव जी को और श्री शुकदेव जी ने अपने शिष्य श्री गौड़पादाचार्यजी को, गौड़पादाचार्य जी ने अपने शिष्य श्री गोविन्द भगवत्पाद जी को और श्री गोविन्द भगवत्पाद जी ने अपने शिष्य जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य जी को पढ़ाया। इस ग्रन्थ में समन्वय, विरोधपरिहार, साधन और फलाख्य चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रत्येक अध्याय एवं प्रत्येक पाद में वर्णित विषयवस्तु का अवलोकन सुविज्ञ पाठक मूलग्रन्थ में ही अध्याय एवं पादों के आरम्भ में कर सकते हैं।

ब्रह्मसूत्र के चारों अध्यायों पर भगवान् शङ्कराचार्य जी का सरल सहज भाषा में सूत्रों पर गम्भीर चिन्तनरूप भाष्य है जिसके विषय में श्रीवाचस्पति मिश्र ने कहा है—

नत्वा विशुद्धविज्ञानं शङ्करं करुणाकरम्। भाष्य प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीत विभज्यते॥

इस श्लोक में 'प्रसन्नगम्भीरम्' इस प्रकार भाष्य का जो विशेषण दिया गया है उसका तात्पर्य यही है कि जिनको शाब्द न्याय तत्त्व समधिगत है उनको भाष्य का श्रवण करने मात्र से अर्थ का बोध हो जाता है और जिस भाष्य का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ अत्यन्त निगूढ़ है। भामतीकार के

इस कथन से शाङ्करभाष्य की विशेषता सुस्पष्ट बोधित होती है। किन्तु जिनको शाब्द न्याय तत्त्व समधिगत नहीं है ऐसे मन्द अधिकारियों के लिए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य श्री भारती तीर्थ जी ने 'वैयासिक न्यायमाला' की रचना करके ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों का सारसंग्रह किया जिसे ग्रन्थकार ने स्वयं के द्वारा प्रणीत संस्कृत टीका में इन शब्दों से सूचित किया है—'सूत्रार्थोऽसमतिप्राज्ञविषय-स्त्वान्मन्दबुद्धिष्वनुग्रहाय श्लोकैरेषा मालास्फुटं संग्रह्यते।'

प्रकृत ग्रन्थ के रचयिता श्री भारती तीर्थ जी का संक्षिप्त परिचय यह है कि आप श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य श्री विद्या तीर्थ के कृपापात्र शिष्य हैं। इस विषय में वैयासिक न्यायमाला के मङ्गलाचरण का प्रथम श्लोक ही प्रमाणरूप से उपलब्ध होता है—'प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थ-रूपिणम्। वैयासिक न्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम्॥' आप के कृपापात्र शिष्य श्री विद्यारण्य स्वामी जी हैं जिन्होंने अपने द्वारा रचित 'जैमिनीय न्यायमाला' में आप को गुरु के रूप में स्मरण किया है—

स भव्याद् भारती तीर्थ यतीन्द्र चतुराननात्। कृपामव्याहतां लब्ध्वा पराध्यंप्रतीमोऽभवत्॥

प्रकृत ग्रन्थ वैयासिक न्यायमाला का अर्थ होता है व्यासजी के द्वारा बनायी गयी सङ्गति आदि पञ्चाङ्गों की माला। इसी अर्थ का उल्लेख करते हुए संस्कृत टीका में ग्रन्थकार ने कहा है—'व्यासेनोक्ता वैयासिकी, वेदान्तवाक्यार्थनिर्णायकान्यधिकरणानि न्याया तेषामनुक्रमेण ग्रथनं माला।' जिनको संस्कृत भाषा पर विशेष अधिकार नहीं है उनके प्रति अनुग्रह करके इस वैयासिक न्यायमाला ग्रन्थ के गूढ़ार्थ सरल सुस्पष्ट हिन्दी भाषा में ललिताव्याख्या नामक टीका की रचना वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलास दशम पीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी ने की है। संस्कृत टीका में जो उपलब्ध नहीं है ऐसे अधिकरण के पांच अवयवों का स्पष्ट उल्लेख करके ग्रन्थ के अवगाहन को ओर भी सरल बना दिया है। आप के द्वारा कैलास विद्या प्रकाशन के माध्यम से पूर्व में भी शाङ्करभाष्ययुक्त दशोपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता (प्रस्थानत्रयी) के प्रमाणिक संस्करण 'गोविन्दप्रसादिनी' टिप्पणियों एवं हिन्दी व्याख्या के सहित प्रकाशित किये जा चुके हैं जिससे उपकृत सभी जिज्ञासुजन सदैव आप के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। आपके द्वारा इस संस्करण से सम्बन्धित एक अन्य संस्करण मूल वैयासिक न्यायमाला तथा ललिता व्याख्या का भी प्रकाशन किया जा रहा है, उससे भी जिज्ञासुजन उपकृत होंगे। ऐसे ही भविष्य में अद्वैत मत के अन्य बहुमूल्य ग्रन्थों का भी प्रकाशन आपके द्वारा होता रहे, ऐसी शक्ति भगवान् श्री काशीविश्वनाथ जी के द्वारा आप को सदैव प्राप्त होती रहे, भगवान् विश्वेश के चरण कमलों में यही प्रार्थना है। इत्योम्।

भगवत्पादीय,
स्वामी सत्यानन्द गिरि वेदान्ताचार्य
रुद्रावास, उजेली (उत्तरकाशी)

श्रीमच्छङ्कराचार्यो विजयतेतराम्

सम्पादकीयम्

'पुरुषार्थचतुष्टयसम्पत्तिर्हि वेदत्रयीवास्तवार्थज्ञानाधीना' इत्यत्र नास्ति कश्चिद्विशय आस्तिकानाम् । तत्रापि मनुष्यदेहचरमलक्ष्यस्य कैवल्यापरपर्यायस्य मोक्षरूपपरमपुरुषार्थस्य सम्पत्तिः वेदशिरोमणीभूतोपनिषत्प्रतिपादितजीवब्रह्माभेदबुद्ध्यधीना; "ऋते न ज्ञानान्मुक्तिः" "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" इत्यगणितश्रुतिगणशतेभ्यः (जीवब्रह्मणोरैक्यख्यातेरेवात्र ज्ञानशब्दवाच्यत्वात्) ।

तत्र च वेदे वास्तवार्थविचिकित्सायां सम्प्राप्तायां तद्वारणाय मीमांसाशास्त्रं प्रणीतम्; वेदवाण्याः दुरवगाह्यत्वात् । यतो हि परोक्षप्रिया देवाः परोक्षशैल्या भाषन्ते स्म; "आचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया एव हि देवाः" इति श्रुतेः । तत्र कर्मविधायकानां वाक्यानां विचाररूपो प्रथमो भागः पूर्वकाण्डप्रथमतन्त्रादिविभिन्नशब्दवाच्यः पूर्वमीमांसात्वेन प्रसिद्धो महर्षिणा जैमिनिना प्रथितः । तथैवोपासनाज्ञानविषयकानां वाक्यानां विचाररूपोऽयं द्वितीयो भागः वेदान्तशारीरकसूत्रादिनैकशब्दवाच्यः ब्रह्मसूत्रेतिनाम्ना प्रसिद्धः बादरायणापरपर्यायेण महर्षिणा वेदव्यासेन ग्रथितः । ब्रह्मसूत्राख्यस्यास्य ग्रन्थरत्नस्य प्रामाणिकतममनपेक्षितविस्ताररहितं परञ्चात्यन्तमेव गभीरं गहनतमञ्च श्रीमच्छारीरकभाष्यमाचार्यशङ्करप्रणीतञ्जगत्प्रसिद्धम् । तस्मिन्हि भाष्ये समानविषयप्रतिपादकसूत्राणामधिकरणनाम्ना विभक्तिः दृश्यते । पद्धतिरियं श्रीभाष्यादिष्वन्येषु भाष्येष्वपि केनचिन्न्यूनाधिकेनान्तरेण सनाथिता दृश्यते । "विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् । सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं मतम्" इत्याकारकमधिकरणस्य लक्षणन्तु प्रसिद्धमेव । ब्रह्मसूत्राध्ययनकालेऽधिकरणस्थसूत्राध्ययनात्पूर्वमेव विषयादिपञ्चावयवविशिष्टस्याधिकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य ज्ञानं सूत्रतात्पर्यार्थस्यावगतिसारल्ये नचिरेणावबोधने च हेतुरिति विद्यार्थिनामध्यक्षसिद्धमेव न प्रमाणान्तरमपेक्षते । एतामेव हेतुतामाकलय्य ग्रन्थकारः वैयासिकन्यायमालाख्यस्यास्य ग्रन्थस्य प्रणयनमकारि ।

लेखकविषयेऽध्यवसाय इतोऽप्यधिकान्वेषणापेक्षः । पूर्वमुद्रितसंस्करणेषु श्रीभारतीतीर्थप्रणीतस्वाख्यानन्नाध्यवसायाहम्; "विद्यारण्यकृतैः श्लोकैर्न्यं तिहाश्रसूरिभिः । संदृब्धा व्याससूत्राणाम्" इत्यादिव्याससूत्रवृत्तिकाररङ्गनाथवचनविरोधात् ।

तथैव व्याख्याविषयेऽपि बोद्धव्यम्; लेखकटीकाख्यादीनाङ्कुत्राप्यनुल्लेखात् । व्याख्यायाः श्लोकव्याख्यानत्वमपि दशमश्लोकपर्यन्तमेव प्रतिभाति; ततोऽग्रे तु स्वतन्त्रनिबन्धप्रतीतिर्भवति । अस्मादेव च कारणात्केषुचित्संस्करणेषु दशमश्लोकपर्यन्तैव व्याख्या प्रकाशिता दृश्यते; ततः परन्तु श्लोका एव दृश्यन्ते ।

अत्र ह्यस्माभिरेवं चिन्त्यते–प्रस्तुतग्रन्थमङ्गलवाक्ये वन्दिताः श्रीविद्यातीर्थभगवत्पादाः श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरयोरुभयोरेव गुरव आसन्; विद्यारण्येन विवरणप्रमेयसंग्रहे "यद्विद्यातीर्थगुरवे" इत्यादिना तथैव स्वीकृतत्वात्; भारतीतीर्थगुरुत्वन्तु प्रसिद्धया नाम्ना च सिद्धमेव ।

तस्माद्ध्युभयोरेव ग्रन्थकर्तृत्वसम्भवात्. यद्यपि श्रीभारतीतीर्थरचितत्वेन प्रसिद्धिरस्य, तथाप्युभयो-
रेव ग्रन्थकर्तृत्वं स्वीक्रियते; पञ्चदश्यान्तथैव दृष्टत्वात् । सा हि पञ्चदशी विद्यारण्यमुनिरचितत्वेन
प्रसिद्धाः; तथापि 'श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरयोः संयुक्तरचना सा' इति नादृग्गोचरो विदुषाम् ।
तथैव प्रस्तुतस्यास्य ग्रन्थस्य संयुक्तरचनात्वस्वीकारः सम्भवति । गद्यपद्ययोरन्यतमं श्रीभारतीतीर्थ-
निगदितमपरन्तु विद्यारण्यमुनिविरचितमिति सम्भाव्यते ।
तथाह्यस्य ग्रन्थस्याविगीतशिष्टपरि-
अथ यत्किञ्चिदपि स्यान्नाम, अलङ्काकदन्तगणनया ।
गृहीतत्वात्प्रामाणिकत्वं विद्यार्थिजनोपकारकत्वादुपकारकत्वञ्चासन्दिग्धमेव ।
एतामेवोपकारकतामद्यतनप्रकाशितग्रन्थेषु दुर्लभताञ्चाकलय्य सच्छात्रजनकल्पद्रुमैः कैलास-
ब्रह्मविद्यापीठाधिपैः परमादर्शमहामण्डलेश्वरैः श्रीमत्स्वामिविद्यानन्दगिरिमहाराजैः वेदान्त-सर्वदर्श-
नाचार्याद्यनेकोपाधिविशिष्टैः देवानुग्रहत्रिदशकमहोत्सवोपलक्ष्ये ग्रन्थरत्नस्यास्य सव्याख्यानं संस्करण-
द्वयं संस्कृतटीकायुक्तायुक्तात्मकं प्रकाशितम् ।

सा च स्वातन्त्र्येण निबद्धा ललिताख्या व्याख्या व्याख्याकारिकात्मकाद्ग्रन्थशेषभागादपि
महत्त्वपूर्णतराः, उभयात्मकग्रन्थशेषभागे व्याख्यानावसरेषु विशयपूर्वपक्षसिद्धान्तपक्षात्मकानामधि-
करणाङ्गत्रयाणामेवोल्लेखसत्त्वात् । इह त्ववशिष्टयोरप्यङ्गद्वययोः सङ्गतिविषययोः पुनः पुनः
प्रत्यधिकरणे उल्लेखात् । एतेनानया व्याख्यया ग्रन्थशेषभागस्था न्यूनता पूरितेति सिद्धम् । तेनैव
चास्य व्याख्यानस्य महत्तरत्वं सिद्धम् ।

तथा चास्य ग्रन्थस्य शोधने कृतेऽपि प्रमादाद्याः त्रुटयः जाताः, ताव सुधीभिः क्षमाद्यनेकविद्यगुण-
गणालंकृतैः क्षन्तव्याः ।

"गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥
दृष्टं किमपि लोकेस्मिन्न निर्दोषन्न निर्गुणम् ।
व्यावृणुध्वमतो दोषान् विवृणुध्वं गुणान्बुधाः ॥"

इति प्रार्थयति विदुषां वशंवदः
ब्रह्मचारिसिद्धार्थकृष्णः "विद्वद्देशीयः"

श्रीबादरायणविरचितब्रह्मसूत्रपाठः

प्रथमाध्याये प्रथमः पादः

अधि० क्र० गुच्छः

१. जिज्ञासाधिकरणम्
१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।

२. जन्माद्यधिकरणम्
२. जन्माद्यस्य यतः ।

३. शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्
३. शास्त्रयोनित्वात् ।

४. समन्वयाधिकरणम्
४. तत्तु समन्वयात् ।

५. ईक्षत्यधिकरणम्
५. ईक्षतेर्नाशब्दम् ।
६. गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।
७. तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।
८ हेयत्वावचनाच्च ।
९. स्वाप्ययात् ।
१०. गतिसामान्यात् ।
११. श्रुतत्वाच्च ।

६. आनन्दमयाधिकरणम्
१२. आनन्दमयोऽभ्यासात् ।
१३. विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ।
१४. तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।
१५. मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ।
१६. नेतरोऽनुपपत्तेः ।
१७. भेदव्यपदेशाच्च ।

अधि० क्र० गुच्छः

१८. कामाच्च नानुमानापेक्षा ।
१९. अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ।

७. अन्तरधिकरणम्
२०. अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।
२१. भेदव्यपदेशाच्चान्यः ।

८. आकाशाधिकरणम्
२२. आकाशस्तल्लिङ्गात् ।

९. प्राणाधिकरणम्
२३. अत एव प्राणः ।

१०. ज्योतिश्चरणाधिकरणम्
२४. ज्योतिश्चरणाभिधानात् ।
२५. छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पण-निगदात्तथाहि दर्शनम् ।
२६. भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।
२७. उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्य-विरोधात् ।

११. प्रतर्दनाधिकरणम्
२८. प्राणस्तथानुगमात् ।
२९. न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्म-सम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ।
३०. शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ।
३१. जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रै-विध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ।

प्रथमाध्याये द्वितीय पादः

१. सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरणम्
३२. सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।
३३. विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।
३४. अनुपपत्तेस्तु न शारीर ।
३५. कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।
३६. शब्दविशेषात् ।

अधि० क्र०　　　　गुच्छः

३७. स्मृतेश्च ।
३८. अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न, निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ।
३९. सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न; वैशेष्यात् ।

२. अत्त्रधिकरणम्

४०. अत्ता चराचरग्रहणात् ।
४१. प्रकरणाच्च ।

३. गुहाप्रविष्टाधिकरणम्

४२. गुहां प्रविष्टावात्मनौ हि तद्दर्शनात् ।
४३. विशेषणाच्च ।

४. अन्तराधिकरणम्

४४. अन्तर उपपत्तेः ।
४५. स्थानादिव्यपदेशाच्च ।
४६. सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।
४७. श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।
४८. अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।

५. अन्तर्याम्यधिकरणम्

४९. अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।
५०. न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ।

अधि० क्र०　　　　गुच्छः

५१. शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।

६. अदृश्यत्वाधिकरणम्

५२. अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।
५३. विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ।
५४. रूपोपन्यासाच्च ।

७. वैश्वानराधिकरणम्

५५. वैश्वानरः साधारणशब्द-विशेषात् ।
५६. स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।
५७. शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशाद-सम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ।
५८. अतएव न देवता भूतं च ।
५९. साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।
६०. अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।
६१. अनुस्मृतेर्बादरिः ।
६२. सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ।
६३. आमनन्ति चैनमस्मिन् ।

प्रथमाध्याये तृतीय पादः

१. द्युभ्वाद्यधिकरणम्

६४. द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।
६५. मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।
६६. नानुमानमतच्छब्दात् ।
६७. प्राणभृच्च ।
६८. भेदव्यपदेशात् ।
६९. प्रकरणात् ।
७०. स्थित्यदनाभ्यां च ।

२. भूमाधिकरणम्

७१. भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।
७२. धर्मोपपत्तेश्च ।

३. अक्षराधिकरणम्

७३. अक्षरमम्बरान्तधृतेः ।
७४. सा च प्रशासनात् ।
७५. अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।

४. ईक्षतिकर्मव्यपदेशधिकरणम्

७६. ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ।

५. दहराधिकरणम्

७७. दहर उत्तरेभ्यः ।
७८. गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ।

प्रथमाध्याये चतुर्थ पादः

इति प्रथमाध्यायः ॥१॥

द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः

अधि० क्र० गुच्छः

१. स्मृत्यधिकरणम्

१३५. स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ।

१३६. इतरेषां चानुपलब्धेः ।

२. योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्

१३७. एतेन योगः प्रत्युक्तः ।

३. विलक्षणत्वाधिकरणम्

१३८. न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।

१३९. अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।

१४०. दृश्यते तु ।

१४१. असदिति चेन्न; प्रतिषेधमात्रत्वात् ।

१४२. अपीतौ तद्वत् प्रसङ्गादसमञ्जसम् ।

१४३. न तु दृष्टान्तभावात् ।

१४४. स्वपक्षदोषाच्च ।

१४५. तर्काऽप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।

४. शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्

१४६. एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ।

अधि० गुच्छः

५. भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ।

१४७. भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ।

६. आरम्भणाधिकरणम्

१४८. तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।

१४९. भावे चोपलब्धेः ।

१५०. सत्त्वाच्चावरस्य ।

१५१. असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न; धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ।

१५२. युक्तेः शब्दान्तराच्च ।

१५३. पटवच्च ।

१५४. यथा च प्राणादि ।

७. इतरव्यपदेशाधिकरणम्

१५५. इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।

१५६. अधिकं तु भेदनिर्देशात् ।

१५७. अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ।

८. उपसंहारदर्शनाधिकरणम्

१५८. उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न; क्षीरवद्धि ।

१५९. देवादिवदपि लोके ।

९. कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम्

१६०. कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्व-

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः (पृ० ५३८–६४३)

द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः (६४४–७४५)

अधि० क्र.	गुच्छः

२३८. स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ।

२३९. अविरोधश्चन्दनवत् ।

२४०. अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ।

२४१. गुणाद्वालोकवत् ।

२४२. व्यतिरेको गन्धवत् ।

२४३. तथा च दर्शयति ।

२४४. पृथगुपदेशात् ।

२४५. तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।

२४६. यावदात्मभावित्वाच्च नदोषस्तद्दर्शनात् ।

२४७. पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगाच्च ।

२४८. नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो नान्यथा ।

१४. कर्त्रधिकरणम

२४९. कर्ताशास्त्रार्थवत्त्वात् ।

२५० विहारोपदेशात् ।

२५१. उपादानात् ।

२५२ व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः स्यात् ।

२५३. उपलब्धिवदनियमः ।

अधि० क्र०	गुच्छः

२५४. शक्तिविपर्ययात् ।

२५५. समाध्यभावच्च ।

१५. तक्षाधिकरणम्

२५६. यथा च तक्षोभयथा ।

१६. परायत्ताधिकरणम्

२५७. परात्तु तच्छ्रुतेः

२५८. कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।

१७. अंशाधिकरणम् ।

२५९. अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमभिधीयत एके ।

२६०. मन्त्रवर्णाच्च ।

२६१. अपि च स्मर्यते ।

२६२. प्रकाशादिवन्नैवं परः ।

२६३. स्मरन्ति च ।

२६४. अनुज्ञापरिहारौ देहासम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ।

२६५. असंततेश्चाव्यतिकरः ।

२६६. आभास एव च ।

२६७. अदृष्टानियमात् ।

२६८. अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ।

२६९. प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्

द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः

१. प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ।

२७०. तथा प्राणाः ।

२७१. गौण्यसम्भवात् ।

२७२. तत्प्राक्श्रुतेश्च ।

२७३ तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ।

२. सप्तगत्यधिकरणम् ।

२७४. सप्तगतेर्विशेशितत्वाच्च ।

२७५. हस्तादयस्तु स्थितोऽतो नैवम् ।

३. प्राणाणुत्वाधिकरणम् ।

२७६. अणवश्च ।

४. प्राणश्रैष्ठ्याधिकरणम् ।

२७७. श्रेष्ठश्च ।

अधि क्रम० गुच्छः

५. न वायुक्रियाधिकरणम् ।

२७८. न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।
२७९. चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्टयादिभ्यः ।
२८०. अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ।
२८१. पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ।

६. श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ।

२८२. अणुश्च ।

७. ज्योतिराद्यधिकरणम् ।

२८३. ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ।

अधि० क्रम० गुच्छः

२८४. प्राणवताशब्दात् ।
२८५. तस्य च नित्यत्वात् ।

८. इन्द्रियाधिकरणम् ।

२८६. न इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।
२८७ भेदश्रुतेः ।
२८८. वैलक्षण्याच्च ।

९. संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ।

२८९. संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ।
२९०. मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।
२९१. वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः

तृतीयाध्याये प्रथमः पादः

१. तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम्

२९२. तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।
२९३. त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।
२९४. प्राणगतेश्च ।
२९५. अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न, भाक्तत्वात् ।
२९६. प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ।
२९७. अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।
२९८. भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ।

२. कृतात्ययाधिकरणम् ।

२९९. कृतात्ययेनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ।
३००. चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।
३०१ आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ।
३०२ सुकृतदुष्कृते एवेति बादरिः ।

३. अनिष्टादिकार्यधिकरणम्

३०३ अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्
३०४ संयमने त्वनुभूयेतरेषामरोहावरोहौ, तद्गतिदर्शनात् ।
३०५ स्मरन्ति च ।
३०६ अपि च सप्त ।
३०७ तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ।
३०८ विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ।
३०९ न तृतीये तथोपलब्धेः ।
३१० स्मर्यतेऽपि च लोकेऽपि ।
३११ दर्शनाच्च ।
३१२ तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।

४. साभाव्यापत्त्यधिकरणम्

३१३ तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ।

५. नातिचिराधिकरणम्

३१४ नातिचिरेण विशेषात् ।

अधि० क्रम० गुच्छः

६. अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ।

३१५ अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ।

३१६ अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ।

३१७ रेतस्सिग्योगोऽथ ।

३१८ योनेश्शरीरम् ।

* * *

तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः

१. सन्ध्याधिकरणम् ।

३१९. सन्ध्ये सृष्टिराह हि ।

३२०. निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।

३२१. मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्त-स्वरूपत्वात् ।

३२२. सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।

३२३. पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ।

३२४. देहयोगाद्वा सोऽपि ।

२. तदभावाधिकरणम् ।

३२५. तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।

३२६. अतः प्रबोधोऽस्मात् ।

३. कर्मानुस्मृतिशब्दविध्य-धिकरणम् ।

३२७. स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्द-विधिभ्यः ।

४. मुग्धेऽर्धसम्पत्त्यधिकरणम् ।

३२८. मुग्धेऽर्धसम्पत्तिःपरिशेषात् ।

५. उभयलिङ्गाधिकरणम् ।

३२९. न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।

३३० न, भेदादिति चेन्न; प्रत्येकमतद्वचनात् ।

३३१ अपि चैवमेके ।

३३२ अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।

३३३ प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।

३३४ आह च तन्मात्रम् ।

३३५ दर्शयति चाथोऽपि स्मर्यते ।

३३६ अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ।

३३७ अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।

३३८ वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभय-सामञ्जस्यादेवम् ।

३३९ दर्शनाच्च ।

६. प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम् ।

३४० प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।

३४१ तदव्यक्तमाह हि ।

३४२ अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

३४३ प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।

३४४ अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ।

३४५. उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।

३४६. प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्

३४७ पूर्ववद्वा ।

३४८ प्रतिषेधाच्च ।

७. पराधिकरणम् ।

३४९ परमतस्सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यप-देशेभ्यः ।

३५० सामान्यात्तु ।

३५१ बुद्ध्यर्थः पादवत् ।

३५२ स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ।

३५३ उपपत्तेश्च ।

३५४ तथान्यप्रतिषेधात् ।

तृतीयाध्याये तृतीयः पादः

अधि० क्र० गुच्छः

पूर्वहेत्वभावात् ।

३६. यथाश्रयभावाधिकरणम् ।

४२० अङ्गेषु यथाश्रयभावः ।

४२१ शिष्टेश्च ।

अधि० गुच्छः

२२२ समाहाराच्च ।

२२३ गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ।

२२४ न वा तत्सहभावाश्रुतेः ।

२२५ दर्शनाच्च ।

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः

१. पुरुषार्थाधिकरणम् ।

४२६ पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति बादरायणः ।

४२७ शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ।

४२८ आचारदर्शनात् ।

४२९ तच्छ्रुतेः ।

४३० समन्वयारम्भणात् ।

४३१ तद्वतो विधानात् ।

४३२ नियमाच्च ।

४३३ अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।

४३४ तुल्यं तु दर्शनम् ।

४३५ असार्वत्रिकी ।

४३६ विभागः शतवत् ।

४३७ अध्ययनमात्रवतः ।

४३८ नाविशेषात् ।

४३९ स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।

४४० कामकारेण चैके ।

४४१ उपमर्दं च ।

४४२ ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ।

२. परामर्शाधिकरणम् ।

४४३ परामर्शं जैमिनिरचोदनाचापवदति हि ।

४४४ अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ।

४४५ विधिर्वा धारणवत् ।

३. स्तुतिमात्राधिकरणम् ।

४४६ स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।

४४७ भावशब्दाच्च ।

४. पारिप्लवाधिकरणम् ।

४४८ पारिप्लवार्था इति चेन्न; विशेषितत्वात् ।

४४९ तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ।

५. अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ।

४५० अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।

६. सर्वापेक्षाधिकरणम् ।

४५१ सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।

४५२ शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।

७. सर्वान्नानुमत्यधिकरणम्

४५३ सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।

४५४ अबाधाच्च ।

४५५ अपि च स्मर्यते ।

४५६ शब्दश्चातोऽकामकारे ।

८. आश्रमकर्माधिकरणम्

४५७ विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ।

४५८ सहकारित्वेन च ।

४५९ सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ।

४६० अनभिभवं च दर्शयति ।

९. विधुराधिकरणम्

४६१ अन्तरा चापि तद्दृष्टेः ।

४६२ अपि च स्मर्यते ।

४६३ विशेषानुग्रहश्च ।

अधि० क्र०　　　गुच्छः

४६४ अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ।

१०. तद्भूताधिकरणम्

४६५ तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमादतद्रूपाभावेभ्यः ।

११. अधिकाराधिकरणम्

४६६ न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तद्-योगात् ।

४६७ उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्त-दुक्तम् ।

१२. बहिरधिकरणम्

४६८ बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचा-राच्च ।

१३. स्वाम्यधिकरणम् ।

४६९ स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।

४७० आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ।

४७१ श्रुतेश्च ।

१४. सहकार्यन्तरविध्य-धिकरणम् ।

४७२ सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।

४७३ कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ।

४७४ मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।

१५. अनाविष्काराधिकरणम् ।

४७५ अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।

१६. ऐहिकाधिकरणम् ।

४७६ ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।

१७. मुक्तिफलाधिकरणम् ।

४७७ एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्था-वधृतेस्तदवस्थावधृतेः

चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः

१. आवृत्त्यधिकरणम् ।

४७८ आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।

४७९ लिङ्गाच्च ।

२. आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ।

४८० आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह-यन्ति च ।

३. प्रतीकाधिकरणम्

४८१ न प्रतीके न हि सः ।

४. ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् ।

४८२ ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।

५. आदित्यादिमत्यधिकरणम् ।

४८३ आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ।

६. आसीनाधिकरणम्

४८४ आसीनः सम्भवात् ।

४८५ ध्यानाच्च ।

४८६ अचलत्वं चापेक्ष्य ।

४८७ स्मरन्ति च ।

७. एकाग्रताधिकरणम् ।

४८८ यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।

८. आप्रायणाधिकरणम्

४८९ आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ।

९. तदधिगमाधिकरणम् ।

४९० तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।

१०. इतरासंश्लेषाधिकरणम् ।

४९१ इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।

११. अनारब्धाधिकरणम् ।

४९२ अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ।

चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः

चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः

अधि० क्र० गुच्छः

५२५ विशेषितत्वाच्च ।

५२६ सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ।

५२७ कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।

५२८ स्मृतेश्च ।

५२९ परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ।

५३० दर्शनाच्च ।

५३१ न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ।

६. अप्रतीकालम्बनाधिकरणम्

५३२ अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायणः उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ।

५३३ विशेषञ्च दर्शयति ।

चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः

१. सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ।

५३४ सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।

५३५ मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।

५३६ आत्मा प्रकरणात् ।

२. अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम्

५३७ अविभागेन दृष्टत्वात् ।

३. ब्राह्माधिकरणम् ।

५३८ ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।

५३९ चितितन्मात्रेण तदात्मत्वादित्यौडुलोमिः ।

५४० एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ।

४. संकल्पाधिकरणम् ।

५४१ सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ।

५४२ अत एव चानन्याधिपतिः ।

५. अभावाधिकरणम् ।

५४३ अभावं बादरिराह ह्येवम् ।

५४४ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।

५४५ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।

५४६ तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।

५४७ भावे जाग्रद्वत् ।

६. प्रदीपाधिकरणम् ।

५४८ प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ।

५४९ स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ।

७. जगद्व्यापाराधिकरणम् ।

५५० जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।

५५१ प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ।

५५२ विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ।

५५३ दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।

५५४ भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ।

५५५ अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

॥ श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीता ॥

॥ वैयासिकन्यायमाला ॥

॥ संस्कृतटीकान्वितललिताव्याख्यायुता ॥

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

(उपोद्घातः)

प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम्। वैयासिकन्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम् ॥१॥
एको विषयसंदेहपूर्वपक्षावभासकः । श्लोकोऽपरस्तु सिद्धान्तवादी संगतयः स्फुटाः ॥२॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः
ललिता व्याख्या
दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

श्रीविद्यातीर्थरूपी परामात्मा को प्रणाम कर मैं भारती तीर्थ वैयासिकन्यायमाला का स्फुट-संग्रह श्लोकों द्वारा कर रहा हूँ।

सभी कार्यों के प्रारम्भ में सरस्वत्यादि देवता भी जिसे नमस्कार कर कृतकृत्य हुए हैं, उस गजानन को मैं नमस्कार करता हूँ। जिस ग्रन्थ को प्रारम्भ करना इष्ट है उसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए, विपुल प्रचार के लिए तथा शिष्टाचार पालन के लिए विशिष्टेष्टदेवतारूप गुरुमूर्ति उपाधिवाले परमेश्वर को नमस्कार कर ग्रन्थारम्भ की प्रतिज्ञा 'प्रणम्य' इत्यादि वाक्यों द्वारा करते हैं। भगवान वेदव्यास द्वारा रचे गये वेदान्तवाक्यार्थनिर्णायक अधिकरणों को वैयासिकन्याय कहा गया है। उन न्यायों को क्रमशः रखने पर एक माला बन गयी, उसी को वैयासिकन्यायमाला कहते हैं। यद्यपि सूत्रकार एवं भाष्यकार आदि ने इसका विस्तार किया है किन्तु वे अतिबुद्धिमान् व्यक्तियों के लिए हैं। हम तो मंदबुद्धि पाठकों के ऊपर अनुग्रह कर श्लोकों द्वारा उस माला का स्फुटसंग्रह कर रहे हैं। यहाँ पर संगति, विषय, संशय, पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष इन पाँच अवयववालों को एक अधिकरण की संज्ञा दी गयी है ॥१॥

प्रत्येक अधिकरण के विषय, संशय और पूर्वपक्ष को बतलाने के लिए एक श्लोक लिखा जायेगा और दूसरा श्लोक सिद्धान्तपक्ष का होगा। संगतियाँ पृथक् से स्फुट बतलायी जायेंगी।

प्रारिप्सितग्रन्थस्याविघ्नेन परिसमाप्तये, प्रचयगमनाय शिष्टाचारपरिपालनाय च विशिष्टेष्ट-देवतातत्त्वं गुरुमूर्त्युपाधियुक्तं नमस्कृत्य ग्रन्थं प्रतिजानीते—

प्रणम्येति। व्यासेनोक्ता वैयासिकी, वेदान्तवाक्यार्थनिर्णायकान्यधिकरणानि न्यायाः, तेषाम-नुक्रमेण ग्रथनं माला। यद्यप्येषा सूत्रभाष्यकारादिभिः प्रपञ्चिता, तथाऽपि सूत्रादीनामतिप्राज्ञविषय-त्वान्मन्दबुद्ध्यनुग्रहाय श्लोकैरेषा माला स्फुटं संगृह्यते ॥१॥

तत्रैकैकमधिकरणं पञ्चावयवम्। विषयः, संदेहः, संगतिः, पूर्वपक्षः, सिद्धान्तश्चेति पञ्चा-वयवाः। तेषां संग्रहप्रकारं दर्शयति—

शास्त्रेऽध्याये तथा पादे न्यायसंगतयस्त्रिधा । शास्त्रादिविषये ज्ञाते तत्तत्संगतिरूह्यताम् ॥३॥
शास्त्रं ब्रह्मविचाराख्यमध्यायाः स्युश्चतुर्विधाः । समन्वयाविरोधौ द्वौ साधनं च फलं तथा ॥४॥
समन्वये स्पष्टलिङ्गमस्पष्टत्वेऽप्युपास्यगम् । ज्ञेयगं पदमात्रं च चिन्त्यं पादेष्वनुक्रमात् ॥५॥

उन अवयवों को संग्रह करने का प्रकार दिखलाते हैं। एक एक अधिकरण के संग्राहक दो दो श्लोक बनाये जायेंगे। उनमें से प्रथमश्लोक के पूर्वार्द्ध द्वारा विषय एवं संशयरूप दो अवयवों का संग्रह होगा और उत्तरार्द्ध से एक अवयव का, पर दूसरे श्लोक से केवल सिद्धान्तपक्ष का निरूपण होगा। यद्यपि संगतिनामक एक अन्य अवयव भी है, फिर भी उसका संग्रह प्रत्येक अधिकरण में पृथक् से नहीं किया जायेगा। संगति की कल्पना व्युत्पन्नपुरुष को स्वयं ही करनी पड़ेगी और एक बार ग्रन्थकार भी संकेत कर देंगे ॥२॥

संगति का प्रतिपादन विभागशः करते हैं।

शास्त्र, अध्याय और पादविषयक न्यायसंगति तीन प्रकार की है। शास्त्रादि विषय का ज्ञान हो जाने पर उसकी संगति की कल्पना पाठक स्वयं भी कर सकते हैं।

'शास्त्रे' इत्यादि वाक्य से संगति को विभक्त कर के दिखलाते हैं। शास्त्रप्रतिपाद्य, अध्यायप्रतिपाद्य और पादप्रतिपाद्य अर्थ को जानकर तदनुरूप उनको त्रिविध संगति की कल्पना पाठक कर सकते हैं ॥३॥

यह शास्त्र वेदान्तविचाररूप है। इसमें समन्वय, विरोधपरिहार, साधन एवं फल नामक चार अध्याय हैं।

शास्त्रप्रतिपाद्य और अध्यायप्रतिपाद्य अर्थ को 'शास्त्रम्' इत्यादि वाक्य द्वारा पहले दिखलाते हैं। सभी वेदान्तवाक्यों का तात्पर्यतः अद्वयब्रह्म में ही पर्यवसान है, यह प्रथम अध्याय से बतलाया गया है। द्वितीय अध्याय द्वारा सम्भावित विरोध का परिहार किया गया है। तृतीय अध्याय से विद्या के साधनों का निर्णय और चतुर्थ अध्याय द्वारा विद्या का फल बतलाया गया है। बस यही चारों अध्यायों का अर्थ है ॥४॥

उनमें प्रथम समन्वयनामक अध्याय में प्रथमपाद से स्पष्टब्रह्मलिङ्गक वाक्यों का समन्वय ब्रह्म में बतलाया गया है। द्वितीयपाद से अस्पष्टब्रह्मलिङ्गक श्रुतियों का समन्वय उपास्य ब्रह्म में और तृतीयपाद से अस्पष्टब्रह्मलिङ्ग श्रुतियों का ज्ञेयब्रह्म में समन्वय दिखलाया है। चतुर्थपाद में तो

तत्रैकैकस्याधिकरणस्य संग्राहकौ द्वौ द्वौ श्लोकौ। तयोराद्यश्लोकस्य पूर्वार्धेन द्वाववयवौ संगृह्येते। उत्तरार्धेनैकः। द्वितीयश्लोकेन चैकः। यद्यपि संगत्याख्य एकोऽवयवः शिष्यते, तथाऽपि प्रत्यधिकरणं न पृथक्संग्रहीतव्यो भवति, सकृद्व्युत्पन्नस्य पुरुषस्य स्वयमेवोहितुं शक्यत्वात् ॥२॥

संगतिं विभज्य व्युत्पादयति—

शास्त्रप्रतिपाद्यं, अध्यायप्रतिपाद्यं, पादप्रतिपाद्यं चार्थमवगम्य शास्त्रसंगतिरध्यायसंगतिः पादसंगतिश्चेति तिस्रः संगतय ऊहितुं शक्यन्ते ॥३॥

शास्त्रप्रतिपाद्यमध्यायप्रतिपाद्यञ्च दर्शयति—

सर्वेषां वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि तात्पर्येण पर्यवसानं प्रथमेनाध्यायेन प्रतिपाद्यते। द्वितीयेन संभावितविरोधः परिह्रियते। तृतीयेन विद्यासाधननिर्णयः। चतुर्थेन विद्याफलनिर्णयः। इत्येतेऽध्यायानामर्थाः ॥४॥

तत्र प्रथमाध्यायगतपादार्थान्विभजते—

स्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तं वाक्यजातं प्रथमपादे चिन्त्यम्। तद्यथा–"अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" (ब्र० सू०

द्वितीये स्मृतितर्काभ्यामविरोधोऽन्यदुष्टता । भूतभोक्तृश्रुतेर्लिङ्गश्रुतेरप्यविरुद्धता ॥६॥

पदमात्र का विचार है ।

उन चार अध्यायों में से प्रथमाध्यायगत पादार्थों का विभाग 'समन्वय' इत्यादि वाक्यों द्वारा करते हैं। स्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्त श्रुतिवाक्यों का विचार प्रथमपाद में किया गया है यथा 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इस सूत्र में सार्वज्ञ्य, सर्वतादात्म्य, सर्वपापविरहत्वादि ब्रह्म का असाधारण स्पष्टलिङ्ग है। जिन वाक्यों में ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट नहीं है किन्तु वे वाक्य उपास्यब्रह्म को बतलाते हैं, ऐसे वाक्यों का विचार द्वितीयपाद में किया गया है । यथा प्रथमाधिकरणविषय शाण्डिल्योपासनाबोधक वाक्य में मनोमयत्व प्राणशरीरत्वादि सोपाधिकब्रह्मलिङ्ग हैं क्योंकि इनमें ब्रह्म एवं जीव दोनों के साधारण होने से ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट नहीं है। तृतीयपाद में ज्ञेयब्रह्मविषयक श्रुतिवाक्यों का विचार किया गया है जिनमें ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट नहीं है । यथा तृतीयपाद के प्रथमाधिकरण में मुण्डकोपनिषद् स्थित ब्रह्मात्मत्ववाक्य में द्युलोक, भूलोक और अन्तरिक्षलोक सूत्रात्मा एवं परब्रह्म में साधारणरूप से ओत-प्रोत कहे गये हैं, अतः इनमें ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट नहीं है। यद्यपि द्वितीयपाद में कठोपनिषद् स्थित ब्रह्मतत्त्वबोधक वाक्य का विचार किया गया है, वैसे ही तृतीयपाद में दहरोपासनाबोधक वाक्य का विचार किया गया है; फिर भी अवान्तरसंगति का लाभ होने से उस विचार को प्रासंगिक कहा है और इससे दोनों पादों के अर्थ में सांकर्य नहीं आता। इस प्रकार प्रथम अध्याय के तीन पाद से वाक्यार्थ-विचार सम्पन्न होता है । चतुर्थपाद द्वारा अव्यक्तपद, अजापद इत्यादि संदिग्धपदों का विचार किया गया है ॥५॥

द्वितीय अध्याय के प्रथम स्मृतिपाद द्वारा समन्वय का अविरोध बतलाया गया है एवं द्वितीय तर्कपाद द्वारा अन्यपक्ष को दुष्ट सिद्ध किया गया है। भूत एवं भोक्ताजीवविषयक श्रुतियों के विरोध का परिहार तृतीयपाद से और लिङ्गशरीर विषयक श्रुतियों का विरोधपरिहार चतुर्थपाद से किया गया है ।

द्वितीय अध्यायगत पादार्थों का विभाग 'द्वितीय' इत्यादि वाक्य से करते हैं। इनमें द्वितीय अध्याय के प्रथमपाद में सांख्य, योग, वैशेषिकादि स्मृतियों और उनके तर्कों से वेदान्तसमन्वय में जो विरोध आता है उसका परिहार किया गया है। द्वितीयपाद में सांख्यादि मतों को दोषयुक्त कहा गया है। तृतीयपाद में पूर्वार्द्ध से पञ्चमहाभूतविषयक श्रुतियों का परस्पर विरोध परिहार किया

१-१-२०) इत्यत्र सार्वज्ञ्यसार्वात्म्यसर्वपापविरहादिकं ब्रह्मणोऽसाधारणतया स्पष्टं लिङ्गम् । अस्पष्ट-ब्रह्मलिङ्गत्वे सत्युपास्यविषयवाक्यजातं द्वितीयपादे चिन्त्यम्। तद्यथा—प्रथमाधिकरणविषये शाण्डिल्यो-पास्तिवाक्ये मनोमयत्वप्राणशरीरत्वादिकं सोपाधिकब्रह्मणो जीवस्य च साधारणत्वादस्पष्टं ब्रह्म-लिङ्गम् । तृतीयपादे त्वस्पष्टलिङ्गत्वे सति ज्ञेयब्रह्मविषयं वाक्यजातं चिन्त्यम्। तद्यथा—प्रथमा-धिकरणे मुण्डकगतब्रह्मात्मतत्त्ववाक्ये द्युपृथिव्यन्तरिक्षप्रोतत्वं सूत्रात्मनः परब्रह्मणश्च साधारण-त्वादस्पष्टं ब्रह्मलिङ्गम् । यद्यपि द्वितीयपादे कठवल्ल्यादिगतब्रह्मतत्त्ववाक्यानि विचारितानि, तृतीयपादे च दहरोपासनवाक्यं विचारितं, तथाऽप्यवान्तरसंगतिलाभेन तद्विचारस्य प्रासङ्गिकत्वान्न पादार्थयोः सांकर्यापत्तिः । इत्थं पादत्रयेण वाक्यविचारः समापितः। चतुर्थपादेनाव्यक्तपदमजापदं चेत्येवमादि संदिग्धं पदं चिन्त्यम् ॥५॥

द्वितीयाध्यायगतपादार्थान्विभजते—

प्रथमपादे—सांख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः सांख्यादिप्रयुक्ततर्कैश्च विरोधो वेदान्तसमन्वयस्य परिहृतः। द्वितीयपादे—सांख्यादिमतानां दुष्टत्वं दर्शितम् । तृतीयपादे—पूर्वभागेण पञ्चमहाभूत-

तृतीये विरतिस्तत्त्वंपदार्थपरिशोधनम् । गुणोपसंहृतिर्ज्ञानबहिरङ्गादिसाधनम् ॥७॥
चतुर्थे जीवतो मुक्तिरुत्क्रान्तिर्गतिरुत्तरा । ब्रह्मप्राप्तिब्रह्मलोकाविति पादार्थसंग्रहः ॥८॥

गया है और उत्तरार्द्ध द्वारा जीवविषयक श्रुतियों का विरोधपरिहार किया गया है। चतुर्थपाद में सूक्ष्मदेहविषयक श्रुतियों का विरोध दूर किया गया है ॥६॥

तृतीय अध्याय में क्रमशः वैराग्य, तत्त्वंपदार्थशोधन, गुणोपसंहार और ज्ञान के बहिरङ्गादि साधनों का विचार किया गया है।

तृतीय अध्यायगत पादार्थों का विभाग 'तृतीय' इत्यादि वाक्यों से करते हैं। इसके प्रथमपाद में जीव के परलोक गमनागमन पर विचार कर वैराग्य का निरूपण किया गया है। द्वितीयपाद में पूर्वार्द्ध से त्वं पदार्थ और उत्तरार्द्ध से तत्पदार्थ का शोधन किया गया है। तृतीयपाद में सगुण-विद्याओं में गुणोपसंहार बतलाया गया है और निर्गुणब्रह्म में अपुनरुक्त पद का उपसंहार कहा गया है। चतुर्थपाद में निर्गुणविद्या के बहिरङ्गसाधन आश्रम, यज्ञादि का और अन्तरङ्गसाधन शमदमादि का निरूपण किया गया है ॥७॥

चतुर्थ अध्याय में जीव की मुक्ति, उत्क्रान्ति और गति कही गयी है। वैसे ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति और ब्रह्मलोक में स्थिति का निरूपण कर पादार्थ का संग्रह कहा गया है।

चतुर्थ अध्यायगत पादार्थों का विभाग 'चतुर्थ' इत्यादि वाक्य द्वारा करते हैं। इसके प्रथमपाद में श्रवणादि की आवृत्ति से निर्गुणब्रह्म का साक्षात्कार अथवा उपासना से सगुणब्रह्म का साक्षात्कार कर पुण्यपापलेप के विनाशरूप मुक्ति जीव की कही गयी है। द्वितीयपाद में मरणासन्न की उत्क्रान्ति का प्रकार दिखलाया गया है। तृतीयपाद में सगुणब्रह्मवित्पुरुष का ऊर्ध्वगमन उत्तरायणमार्ग से कहा गया है। चतुर्थपाद में पूर्वार्द्ध से निर्गुणब्रह्मवित्पुरुष की विदेहमुक्ति कही गयी है और उत्तरार्द्ध से सगुणब्रह्मवित्पुरुष की ब्रह्मलोकस्थिति का निरूपण किया गया है। इस प्रकार पादार्थों का संग्रह हो गया ॥८॥

श्रुतीनां परस्परविरोधः परिहृतः, उत्तरभागेण जीवश्रुतीनाम् । चतुर्थपादे—लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः ॥६॥

तृतीयाध्यायगतपादार्थान्विभजते—

प्रथमपादे—जीवस्य परलोकगमनागमने विचार्य वैराग्यं निरूपितम् । द्वितीयपादे—पूर्वभागेण त्वंपदार्थः शोधितः, उत्तरभागेण तु तत्पदार्थः । तृतीयपादे—सगुणविद्यासु गुणोपसंहारो निरूपितः । निर्गुणे ब्रह्मण्यपुनरुक्तपदोपसंहारश्च । चतुर्थपादे च—निर्गुणज्ञानस्य बहिरङ्गसाधनभूतान्याश्रम-यज्ञादीनि, अन्तरङ्गसाधनभूतशमदमनिदिध्यासनादीनि च निरूपितानि ॥७॥

चतुर्थाध्यायगतपादार्थान्विभजते—

प्रथमपादे—श्रवणाद्यावृत्त्या निर्गुणमुपासनया सगुणं वा ब्रह्म साक्षात्कृत्य जीवतः पापपुण्यलेप-विनाशलक्षणा मुक्तिरभिहिता । द्वितीयपादे—म्रियमाणस्योत्क्रान्तिप्रकारो निरूपितः । तृतीयपादे—सगुणब्रह्मविदो मृतस्योत्तरमार्गोऽभिहितः । चतुर्थपादे—पूर्वभागेण निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्य-प्राप्तिरभिहिता । उत्तरभागेण सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोके स्थितिर्निरूपिता । एवं पादार्थाः संगृहीताः ॥८॥

ऊहित्वा संगतीस्तिस्रस्तथाऽवान्तरसंगतीः । ऊहेदाक्षेपदृष्टान्तप्रत्युदाहरणादिकाः ॥९॥
पूर्वन्यायस्य सिद्धान्तयुक्तिं वीक्ष्य परे नये । पूर्वपक्षस्य युक्तिं च तत्राऽऽक्षेपादि योजयेत् ॥१०॥

पूर्वोक्त त्रिविधसंगति की कल्पनाकर वैसे ही आक्षेप, दृष्टान्त और प्रत्युदाहरणादिरूप अवान्तर संगति की भी कल्पना करें।

इस प्रकार शास्त्र, अध्याय एवं पाद के प्रतिपाद्य अर्थ बतला दिये गये। इससे क्या लाभ होगा ? इस प्रश्न का उत्तर 'ऊहित्वा' इत्यादि वाक्य से देते हैं। यथा ईक्षत्यधिकरण में 'तदैक्षत' इस वाक्य पर जब सन्देह हुआ कि यह वाक्य प्रधानपरक है अथवा ब्रह्मपरक है ? तब इस विचार को ब्रह्म-सम्बन्धी मानकर ब्रह्मविचारशास्त्रसंगति कही है। सभी श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म में है ऐसा निर्णय होने से समन्वयाध्यायसंगति है। ईक्षण चेतनब्रह्म का असाधारणधर्म होने से उसका स्पष्टलिङ्ग है, ऐसी संगति प्रथमपाद में कही गयी है। ऐसे ही सभी अधिकरणों में भी यथायोग्य त्रिविधसंगति की कल्पना करनी चाहिए। किन्तु अवान्तरसंगति अनेक प्रकार की हैं—आक्षेपसंगति, दृष्टान्तसंगति, प्रत्युदाहरणसंगति और प्रासंगिकसंगति इत्यादि। इस अवान्तरसंगति की कल्पना बुद्धिमान पाठक स्वयं भी कर सकते हैं ॥९॥

पूर्व अधिकरण के सिद्धान्तपक्षीययुक्ति को दृष्टि में रखकर और उत्तर अधिकरण में पूर्वपक्षीय-युक्ति को दृष्टि में रखकर वहाँ पर आक्षेपादि संगति की योजना करनी चाहिए।

'पूर्वन्यायस्य' इत्यादि वाक्य द्वारा पूर्वोक्त संगति को बतलाते हैं। यथा प्रथम अधिकरण में जब सिद्धान्ती ने ब्रह्मविचारशास्त्र आरम्भणीय सिद्ध किया और उसमें युक्ति दी कि ब्रह्म संदिग्ध है इसलिए उसका विचार करना सार्थक है। उसके बाद द्वितीय अधिकरण में पूर्वपक्षी कहता है कि जगज्जन्मादि ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि जन्म, स्थिति और भंग जगत का होता है ब्रह्म का नहीं, तब दोनों को देखकर दोनों की आक्षेपसंगति है ऐसी योजना लगावे अर्थात् संदिग्ध होने से

सन्त्वेवं शास्त्राध्यायपादप्रतिपाद्या अर्थाः, किं तत ? इत्यत आह—

तद्यथा—ईक्षत्यधिकरणे—"तदैक्षत" (छा० ६-२२) इति वाक्यं प्रधानपरं ब्रह्मपरं वा, इति विचार्यते। तस्य विचारस्य ब्रह्मसंबन्धित्वाद्ब्रह्मविचारशास्त्रसंगतिः। 'वाक्यं ब्रह्मणि तात्पर्यवत्' इति निर्णयात्समन्वयाध्यायसंगतिः। ईक्षणस्य चेतने ब्रह्मण्यसाधारणत्वेन स्पष्टब्रह्म-लिङ्गत्वात्प्रथमपादसंगतिः। एवं सर्वेष्वप्यधिकरणेषु यथायथं संगतित्रयमूहनीयम्। अवान्तरसंगति-स्त्वनेकधा भिद्यते—आक्षेपसंगतिर्दृष्टान्तसंगतिः प्रत्युदाहरणसंगतिः प्रासङ्गिकसंगतिरि-त्येवमादिः ॥९॥

सेयमवान्तरसंगतिर्व्युत्पन्नेनोहितुं शक्यते। अतस्तां व्युत्पादयति—

तद्यथा प्रथमाधिकरणे 'ब्रह्मविचारशास्त्रमारम्भणीयम्' इति सिद्धान्तः। तत्र युक्तिः—'ब्रह्मणः संदिग्धत्वात्' इति। द्वितीयाधिकरणस्य 'जगज्जन्मादि ब्रह्मलक्षणं न भवति' इति पूर्वपक्षः। तत्र युक्तिः—'जन्मादेर्जगन्निष्ठत्वात्' इति। तदुभयमवलोक्य तयोराक्षेपसंगतिं योजयेत्। 'संदिग्ध-त्वाद्ब्रह्म विचार्यम्' इत्येतदयुक्तम्। जन्मादेरन्यनिष्ठत्वेन ब्रह्मणो लक्षणाभावे सति ब्रह्मैव नास्ति कुतस्तस्य संदिग्धत्वं विचार्यत्वं चेत्याक्षेपसंगतिः। दृष्टान्तप्रत्युदाहरणसंगती चात्र योजयितुं शक्येते। 'यथा संदिग्धत्वेन हेतुना ब्रह्मणो विचार्यत्वम्, तथा जन्माद्यन्यनिष्ठत्वेन हेतुना ब्रह्मणो लक्षणं नास्ति' इति दृष्टान्तसंगतिः। 'यथा विचार्यत्वे हेतुरस्ति, न तथा लक्षणसद्भावे हेतुं पश्यामः' इति प्रत्यु-

(१) जिज्ञासाधिकरणम् ॥१॥

अविचार्यं विचार्यं वा ब्रह्माध्यासानिरूपणात् । असन्देहाफलत्वाभ्यां न विचारं तदर्हति ॥११॥

ब्रह्म विचारणीय है ऐसा जो आप ने कहा था इस पर यह आक्षेप होता है कि जन्मादि जगन्निष्ठ होने के कारण ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता। लक्षण के अभाव में जब ब्रह्म ही नहीं है तो उसे संदिग्ध और विचारणीय कोई कैसे कह सकेगा? ऐसा सन्देह होने पर द्वितीय अधिकरण के सूत्र से ब्रह्म का लक्षण किया गया है। दृष्टान्त और प्रत्युदाहरण संगति की योजना भी यहाँ लगा सकते हैं। जैसे संदिग्ध होने से ब्रह्म को आप ने विचारणीय कहा, वैसे ही जन्मादि जगन्निष्ठ होने से ब्रह्म का लक्षण जन्मादि नहीं है। अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्तसंगति है। वैसे ही ब्रह्म के विचारणीय होने में जैसा हेतु है वैसा लक्षण हम नहीं देखते हैं इस प्रकार प्रत्युदाहरणसंगति भी सम्भव जान पड़ती है। ये दृष्टान्त और प्रत्युदाहरण संगति सर्वत्र सुलभ है। पूर्वाधिकरण के सिद्धान्त में उत्तराधिकरण पूर्वपक्ष हेतु की समता उत्तराधिकरण के सिद्धान्त में हेतुशून्यत्ववैलक्षण्य की कल्पना मंदव्यक्ति भी कर सकता है। इस प्रकार आक्षेपसंगति का उन्नयन भी यथायोग्य हो सकता है। प्रासंगिकसंगति इस प्रकार की है—देवताधिकरण अधिकारविचारपरक होने से समन्वयाध्याय में ज्ञेयब्रह्मवाक्यविषयक तृतीयपाद में संगति के न रहने पर भी बुद्धिस्थ अवान्तर संगति तो है ही उसे समझाते हैं कि पूर्वाधिकरण में 'अङ्गुष्ठमात्र' वाक्य ब्रह्मपरक वाक्य होने से ब्रह्म अङ्गुष्ठमात्र है इसमें मनुष्य का अधिकार शास्त्र इसलिए कहता है, क्योंकि मनुष्य का हृदय अङ्गुष्ठपरिमाण है। इस प्रसङ्ग से देवताधिकार भी बुद्धिस्थ हो जाता है, बस यही प्रासंगिकसंगति है। इस प्रकार अधिकरणों की संगति बतला दी गयी। अब प्रत्येक अधिकरण में दो-दो श्लोक द्वारा निरुक्त अवयवचतुष्टय का संग्रह किया जाता है ॥१०॥

प्रथमाध्याय प्रथम पाद में स्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्त श्रुतिवाक्यों का विचार किया गया है।

१. जिज्ञासाधिकरण

१. संगति—जिज्ञासाधिकरण पहला है इससे पूर्व कोई अधिकरण नहीं है। अतः इसकी अधिकरण संगति बतलाना आवश्यक नहीं है।

२. विषय—जिज्ञासाधिकरण का विचारणीय विषय वेदान्त शास्त्र है।

३. संशय—ब्रह्म विचारणीय है या नहीं?

दाहरणसंगतिः। ते एते दृष्टान्तप्रत्युदाहरणसंगती सर्वत्र सुलभे। पूर्वाधिकरणसिद्धान्तवदुत्तराधिकरणपूर्वपक्षे हेतुमत्त्वसाम्यस्य, उत्तराधिकरणसिद्धान्ते हेतुशून्यत्ववैलक्षण्यस्य च मन्दैरप्युत्प्रेक्षितुं शक्यत्वात्। आक्षेपसंगतिर्यथायोगमुन्नेया। अथ प्रासङ्गिकसंगतिरुदाह्रियते–देवताधिकरणस्याधिकारविचाररूपत्वात्समन्वयाध्याये ज्ञेयब्रह्मवाक्यविषये तृतीयपादे च संगत्यभावेऽपि बुद्धिस्थावान्तरसंगतिरस्ति। तथा हि पूर्वाधिकरणे—'अङ्गुष्ठमात्रवाक्यस्य ब्रह्मपरत्वादङ्गुष्ठमात्रत्वं ब्रह्मणो मनुष्यहृदयापेक्षम्, मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य' इत्युक्तम्। तत्प्रसङ्गेन देवताधिकारो बुद्धिस्थः। सेयं प्रासङ्गिकसंगतिः। तदेवं न्यायसंगतिर्निरूपिता ॥१०॥

अथेदानीं प्रत्यधिकरणमवयवचतुष्टयं श्लोकाभ्यां संगृह्यते—

प्रथमाधिकरणमारचयति—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० २-४-५) इत्यत्राऽऽत्मदर्शनफलमुद्दिश्य तत्साधनत्वेन श्रवणं विधीयते। श्रवणं नाम वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि तात्पर्यं निर्णेतुमनुकूलो न्यायविचारः। तदेतद्विचारविधायकं वाक्यं विषयः। न चायं विषयः श्लोकयोर्न संगृहीतः? इति शङ्क्यम्। संदेहसंग्रहेणार्थात्तत्संग्रहप्रतीतेः। 'ब्रह्म-

अध्यासोऽहंबुद्धिसिद्धोऽसङ्गं ब्रह्म श्रुतीरितम् । सन्देहान्मुक्तिभावाच्च विचार्यं ब्रह्म वेदतः ॥१२॥

(२) जन्माद्यधिकरणम् ॥२॥

लक्षणं ब्रह्मणो नास्ति किंवाऽस्ति नहि विद्यते । जन्मादेरन्यनिष्ठत्वात्सत्यादेश्चाप्रसिद्धितः ॥१३॥

---

४. पूर्वपक्ष—अध्यास का निरूपण न होने से सन्देह तथा फल भी नहीं दीखते, अतः ब्रह्म विचारणीय नहीं है।

५. सिद्धान्त—अहंबुद्धि में अध्यास सिद्ध होता है और श्रुति ने ब्रह्म को असङ्ग कहा है। अतः ब्रह्म के विषय में सन्देह है और ब्रह्मज्ञान से मोक्षरूप फल भी होता है इसलिए श्रुति के आधार पर ब्रह्म का विचार करना चाहिए।

२. जन्माद्यधिकरण

१. संगति—जिज्ञास्य ब्रह्म का जब लक्षण ही नहीं बनता फिर स्वरूप को सिद्धि कैसे ? ऐसी स्थिति में ब्रह्म विचार का विषय कैसे होगा ? इस प्रकार आक्षेप होने पर जन्माद्यधिकरण लिखना पड़ा।

२. विषय—जन्माद्यधिकरण में ब्रह्मलक्षण पर विचार किया गया है।

३. संशय—ब्रह्म का लक्षण है या नहीं ?

विचारात्मकं न्यायनिर्णयात्मकं शास्त्रमनारम्भ्यम्, आरम्भ्यं वा' इति संदेहः। पूर्वोत्तरपक्षयुक्तिद्वयं सर्वत्र संदेहबीजमुन्नेयम्।

तत्र 'अनारम्भ्यम्' इति तावत्प्राप्तम्। विषयप्रयोजनयोरभावात्। संदिग्धं हि विचारविषयो भवति। ब्रह्म त्वसंदिग्धम्। तथाहि—तत्किं ब्रह्माकारेण संदिह्यते, आत्माकारेण वा। नाऽऽद्यः। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २-१) इति वाक्येन ब्रह्माकारस्य निश्चयात्। न द्वितीयः। अहंप्रत्ययेनाऽऽत्माकारस्यापि निश्चयात्। अध्यस्तात्मविषयत्वेन भ्रान्तोऽहंप्रत्यय इति चेत्। न, अध्यासानिरूपणात्। तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोर्जडाजडयोर्देहात्मनोः शुक्तिकारजतवदन्योन्यतादात्म्याध्यासो न निरूपयितुं शक्यते। तस्मादभ्रान्ताभ्यां श्रुत्यहंप्रत्ययाभ्यां निश्चितस्यासंदिग्धत्वाद्विचारस्य न विषयोऽस्ति। नापि प्रयोजनं पश्यामः। उक्तप्रकारेण ब्रह्मात्मनि निश्चितेऽपि मुक्त्यदर्शनात्। तस्मात्–'ब्रह्म विचारानर्हम्' इति शास्त्रमनारम्भणीयमिति पूर्वपक्षः॥

अत्रोच्यते—शास्त्रमारम्भणीयम्। कुतः? विषयप्रयोजनसद्भावात्। श्रुत्यहंप्रत्यययोर्विप्रतिपत्त्या संदिग्धं ब्रह्मात्मवस्तु। "अयमात्मा ब्रह्म" (बृ० २-५-१९) इति श्रुतिरसङ्गं ब्रह्माऽऽत्मत्वेनोपदिशति। 'अहं मनुष्यः' इत्याद्यहंबुद्धिर्देहतादात्म्याध्यासेनाऽऽत्मानं गृह्णाति। अध्यासस्य च दुर्निरूपत्वमलंकाराय। तस्मात्संदिग्धं वस्तु विषयः। तन्निश्चयेन मुक्तिलक्षणप्रयोजनं श्रुत्या विद्वदनुभवेन च प्रसिद्धम्। तस्मात्—वेदान्तवाक्यविचारमुखेण ब्रह्मणो विचारार्हत्वाच्छास्त्रमारम्भणीयमिति सिद्धान्तः॥१॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" [तै० ३-१] इति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २-१) इति वाक्यद्वयं विषयः। प्रयन्ति त्रिप्रमाणानीत्यर्थः। तत्र 'श्रूयमाणं ब्रह्मलक्षणं न घटते घटते वा' इति संशयः।

ब्रह्मनिष्ठं कारणत्वं स्याल्लक्ष्म स्रग्भुजङ्गवत् । लौकिकान्येव सत्यादीन्यखण्डं लक्षयन्ति हि ॥१४॥

(३) शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥३॥

प्रथमं वर्णकम्)

न कर्तृ ब्रह्म वेदस्य किंवा कर्तृ न कर्तृ तत् । विरूप नित्यया वाचेत्येवं नित्यत्ववर्णनात् ॥१५॥
कर्तृ निःश्वसितात्युक्तेर्नित्यत्वं पूर्वसाम्यतः । सर्वावभासिवेदस्य कर्तृत्वात्सर्वविद्भवेत् ॥१६॥

---

४. पूर्वपक्ष—जन्मादि जगन्निष्ठ है और सत्यादि पद का अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए ब्रह्म का लक्षण नहीं वन सकता है।

५. सिद्धान्त—ब्रह्म जगज्जन्मादि का कारण है। अतः जगज्जन्मादिकारणता ब्रह्म में है। जैसे रज्जुसर्पादि के जन्म का कारण रज्जु है ऐसे ही जगज्जन्मादि का कारण अधिष्ठान रूप से ब्रह्म है। वैसे ही लौकिक वाक्यों को भांति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य भी लक्षण से ब्रह्म का वोध कराते हैं।

३ः शास्त्रयोनित्वाधिकरण

(प्रथम वर्णक)

१. संगति—निखिल जगत् का कारण होने से आप ने ब्रह्म में सर्वज्ञत्व कहा, वह ठीक नहीं है क्योंकि जगदन्त.पाती वेद भी है और वह नित्य है, फिर तो निखिलजगत्कारणत्व ब्रह्म में कहना प्रयुक्त है ऐसा आक्षेप होने पर शास्त्रयोनित्वाधिकरण प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—शास्त्रयोनित्वाधिकरण में वेदकर्ता-ब्रह्म का विचार किया गया है।

३. संशय—वेद का कर्ता ब्रह्म है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'वाचा विरूप नित्यया' इस वेदवाक्य में वेद को नित्य कहा गया है, उसका कर्ता कोई नहीं हो सकता। अतः वेद का कर्ता ब्रह्म नहीं है।

न घटते। तथा हि—किं जन्मादिकं तल्लक्षणम्, उत सत्यादिकम्। नाऽऽद्यः। तस्य जगन्निष्ठत्वेन ब्रह्मसंबन्धाभावात्। द्वितीयेऽपि लोकप्रसिद्धस्य सत्यज्ञानादेः स्वीकारे भिन्नार्थत्वादखण्डं ब्रह्म न सिध्येत्। अप्रसिद्धस्य तु सत्यादेर्लक्षणत्वमयुक्तम्। तस्मात्—तटस्थलक्षणं स्वरूपलक्षणं च न विद्यते।

अत्रोच्यते-यल्लक्षणं रूपानन्तर्भूतं सत्पदार्थान्तरव्यवस्थाहेतुः, तत्तटस्थलक्षणम्। जन्मादेरन्यनिष्ठत्वेऽपि तत्कारणत्वं ब्रह्मणि कल्पनया संबद्धं तटस्थलक्षणं भविष्यति। "यो भुजङ्गः सा स्रक्" इतिवत् 'यज्जगत्कारणं तद्ब्रह्म' इति कल्पितेनापि वस्तुनोपलक्षयितुं शक्यत्वात्। भिन्नार्थानामपि पितृसुतभ्रातृजामात्रादिशब्दानामेकदेवदत्तपर्यवसायित्वे यथा न विरोधः, तथा लोकसिद्धभिन्नार्थवान्त्रिसत्यादिशब्दानामखण्डब्रह्मपर्यवसायित्वे स्वरूपलक्षणसिद्धिः। इत्युभयमप्युपपन्नम् ॥२॥

तृतीयाधिकरणस्य प्रथमं वर्णकमारचयति—

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः" [बृ० २-४-१०] इति वाक्यं विषयः। 'यदृग्वेदादिकमस्ति तदेतस्य नित्यसिद्धस्य ब्रह्मणो निःश्वास इवायत्नेन सिद्धम्' इत्यर्थः। 'ब्रह्म वेदं करोति न करोति वा' इति संदेहः।

न करोति। वेदस्य नित्यत्वात् "वाचा विरूप ! नित्यया " इत्यस्मिन्मंत्रे 'विरूप !' इति देवतां संबोध्य 'नित्यया वाचा स्तुतिं प्रेरय' इत्येवं प्रार्थ्यते। नित्या वाग्वेद एव, "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः" इति स्मृतेः। अतः—न वेदकर्तृ ब्रह्म।

(द्वितीयं वर्णकम्)

अस्त्यन्यमेयताऽप्यस्य किंवा वेदैकमेयता । घटवत्सिद्धवस्तुत्वाद्ब्रह्मान्येनापि मीयते ।।१७।।
रूपलिङ्गादिराहित्यान्नास्य मान्तरयोग्यता । तं त्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता ।।१८।।

---

५. सिद्धान्त—वेदकर्ता ब्रह्म ही है, क्योंकि वेद परमेश्वर का श्वास-निःश्वास है, नित्यता तो समानता को लेकर कही गयी है । सब का प्रकाशक वेद का कर्ता होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है ।

(द्वितीय वर्णक)

१. संगति—पूर्वाधिकरण में सम्पूर्ण जगत् का कारणत्व ब्रह्म का लक्षण किया, वह तो प्रमाणान्तर गम्य है, ऐसी शङ्का हो सकती है । अतः 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' इस नियम के अनुसार लक्षण और प्रमाण दोनों ही ब्रह्म के निर्णायक हैं । अतः पूर्वाधिकरण के साथ इस अधिकरण की एकफलकत्व संगति है । अर्थात् पूर्वाधिकरण से ब्रह्म का लक्षण किया गया और इस अधिकरण से ब्रह्म के विषय में प्रमाण प्रस्तुत किया गया है ।

२. विषय—यहाँ पर ब्रह्मविषयक प्रमाणों का विचार किया गया है ।

३. संशय—सिद्धब्रह्म शास्त्रैकगम्य है अथवा अन्य प्रमाणों का भी विषय है ।

४. पूर्वपक्ष—घटादि की भाँति सिद्धवस्तु होने से ब्रह्म वेदभिन्न प्रमाण से भी जाना जा सकता है ।

५. सिद्धान्त—रूप, लिङ्गादि से रहित होने के कारण वेदभिन्न प्रमाण से ब्रह्म जानने योग्य नहीं है । साथ ही 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (मैं तुझे औपनिषद पुरुष के विषय में पूछता हूँ) इत्यादि श्रुतिवाक्य में ब्रह्म को वेदैकगम्य बतलाया गया है । अतः वेदभिन्न किसी भी प्रमाण से ब्रह्म नहीं जाना जा सकता ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्म वेदस्य कर्तृ भवितुमर्हति । कुतः? निःश्वसितन्यायेनाप्रयत्नोत्पत्त्यवगमात् । 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (शु० सं० ३१-७) इति, सर्वैर्यज्ञैर्हूयमानाद्यज्ञशब्दवाच्याद् ब्रह्मणो विस्पष्टमेव वेदोत्पत्तिश्रवणाच्च । अप्रयत्नोत्पत्तौ चार्थं बुद्ध्वा रचितैः कालिदासादिवाक्यैर्वैलक्षण्यादपौरुषेयत्वम् । प्रतिसर्गं पूर्वसाम्येनोत्पत्तेः प्रवाहरूपेण नित्यता । सर्वजगद्व्यवस्थावभासिवेदकर्तृत्वनिरूपणेन ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं निरूपितं भवति ।

द्वितीयं वर्णकमाह—

"तं त्वौनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ० ३·९·२६) इति शाकल्यं प्रति याज्ञवल्क्येनोक्तवाक्ये परब्रह्मरूपस्य पुरुषस्योपनिषद्वेद्यत्वं प्रतीयते । तद्वाक्यं विषयः । तत्र—'ब्रह्मणः प्रत्यक्षादिगम्यत्वमस्ति, न वा' इति संशयः । पूर्वपक्षस्तु विस्पष्टः ।

रूपरसाद्यभावान्नेन्द्रिययोग्यता । लिङ्गसादृश्यादिराहित्याच्च नानुमानोपमानादियोग्यता । 'उपनिषत्स्वेवाधिगतः' इति व्युत्पत्त्या "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" (इतिहा० २०) इत्यन्यनिषेधश्रुत्या च वेदैकमेयत्वम् । भाष्यकारैः जन्मादिसूत्रे—"श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासम्भवमिह प्रमाणम्" इत्यन्यमेयत्वमङ्गीकृतम्—इति चेत् । बाढम् । प्रथमतः श्रुत्यैव प्रमिते ब्रह्मणि पश्चादनुवादरूपेणानुमानानुभवयोरङ्गीकारात् । अतो वेदैकमेयं ब्रह्म ।।३।।

(४) समन्वयाधिकरणम् ।।४।।

(प्रथमं वर्णकम्)

वेदान्ताः कर्तृदेवादिपरा ब्रह्मपरा उत । अनुष्ठानोपयोगित्वात्कर्त्रादिप्रतिपादकाः ।।१९।।
भिन्नप्रकरणाल्लिङ्गषट्काच्च ब्रह्मबोधकाः । सति प्रयोजनेऽनर्थहानेऽनुष्ठानतोऽत्र किम् ।।२०।।

(द्वितीयं वर्णकम्)

प्रतिपत्तिं विधित्सन्ति ब्रह्मण्यवसिता उत । शास्त्रत्वात्ते विधातारो मननादेश्च कीर्तनात् ।।२१।।

---

४. समन्वयाधिकरण

(प्रथम वर्णक)

१. सङ्गति—ब्रह्म में शास्त्रप्रमाणकत्व आप ने कैसे कहा, जब कि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (ज० १-२-१) इस वाक्य से महर्षि ने शास्त्र में क्रियापरत्व दिखलाया है, ऐसा आक्षेप होने पर समन्वयाधिकरण लिखना पड़ा।

२. विषय—इस अधिकरण में सभी वेदान्तवाक्य विचार के विषय हैं।

३. संशय—वेदान्त कर्ता, देवतादि के प्रकाशक होने से क्रिया के शेष हैं अथवा नित्यसिद्धब्रह्मप्रतिपादक होने से ब्रह्मपरक हैं ? ऐसा सन्देह होता है।

४. पूर्वपक्ष—वेदान्त अनुष्ठानोपयोगी होने से कर्ता, देवतादि अर्थ के ही बोधक हैं।

५. सिद्धान्त—वेदान्त कर्मकाण्ड से भिन्न प्रकरण है। अतः वे कर्मशेष नहीं किन्तु ब्रह्मबोधक हैं। साथ ही तात्पर्यनिर्णायक षड्विध लिङ्गों के कारण भी वेदान्त ब्रह्मतत्त्व के बोधक हैं। जब अनर्थ की निवृत्ति वेदान्तज्ञान का स्वतन्त्र प्रयोजन है, फिर भला क्रिया का शेष इसे क्यों माना जाय।

(द्वितीय वर्णक)

१. संगति—मान लिया ब्रह्म शास्त्रप्रमाण से सिद्ध है फिर भी यूपादि की भाँति विधि के शेषरूप से ही शास्त्र ने ब्रह्म को बतलाया है। ऐसा प्रसंग उपस्थित होने पर समन्वयाधिकरण लिखना पड़ा, अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की प्रसंग संगति है।

२. विषय—वेदान्त में स्वातन्त्र्य का विचार किया गया है।

चतुर्थाधिकरणस्य प्रथमवर्णकमाह—

स्पष्टौ विषयसंदेहौ। जीवप्रकाशकवाक्यानि कर्तृपराणि। ब्रह्मप्रकाशकवाक्यानि देवतापराणि। सृष्टिप्रकाशकवाक्यानि साधनपराणि। तथा सति वेदान्तानामनुष्ठानोपयोगित्वं भविष्यति। ब्रह्मपरत्वे त्वनुष्ठानासम्भवान्निष्प्रयोजनत्वं स्यात्। तस्मात् वेदान्ताः कर्तृदेवतासाधनप्रतिपादकाः।

अत्रोच्यते—ब्रह्मपरा वेदान्ताः। कुतः ? भिन्नप्रकरणपठितानां तेषां कर्त्रादिप्रतिपादकतया कर्मशेषत्वासम्भवात्। तात्पर्यनिश्चयहेतुलिङ्गषट्केन ब्रह्मपरत्वसम्भवाच्च। लिङ्गषट्कं पूर्वाचार्यवर्णितम्—

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिश्चये' इति।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छा० ६-२-१) इत्युपक्रमः। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा० ६-१६-३) इत्युपसंहारः। 'तयोर्ब्रह्मविषयत्वेनैकरूप्यमेकं लिङ्गम्। असकृत् "तत्त्वमसि" इत्युक्तिरभ्यासः। मानान्तरागम्यत्वमपूर्वत्वम्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं फलम्। उत्पत्तिस्थितिप्रलयप्रवेशनियमनानि पञ्चार्थवादाः। मृदादिदृष्टान्ता उपपत्तयः। एतैर्लिङ्गैर्ब्रह्मपरत्वं निश्चेयम्। न चानुष्ठानमन्तरेण प्रयोजनाभावः, 'नायं सर्पः' इत्यादाविव बोधादनर्थनिवृत्तेः सम्भवात्।

नाकर्तृतन्त्रेऽस्ति विधिः शास्त्रत्वं शंसनादपि । मननादिः पुरा बोधाद्ब्रह्मण्यवसितास्ततः ॥२२॥

(५) ईक्षत्यधिकरणम् ॥५॥

तदैक्षतेतिवाक्येन प्रधानं ब्रह्म वोच्यते । ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात्प्रधानं सर्वकरणम् ॥२३॥

---

३. संशय—वेदान्त उपासनाविधि के विषयरूप से ब्रह्म को बतलाते हैं अथवा स्वतन्त्र्यरूप से ? ऐसा संशय होता है।

३. पूर्वपक्ष—प्रवृत्यादि के बोधकवाक्य को शास्त्र कहते हैं, सिद्ध अर्थ में तो शक्तिग्रह होता ही नहीं, ऐसी स्थिति में विधिविषयरूप से ही वेदान्तशास्त्र ब्रह्म का सम्पर्क है।

५. सिद्धान्त—सिद्धवस्तु में विधि की प्रवृत्ति नहीं होती और हित का उपदेशक होने से भी वेदान्त शास्त्र कहा गया है। ब्रह्मसाक्षात्कार से पूर्व मन एवं निदिध्यासन का विधान है। अतः अद्वैतब्रह्म में ही वेदान्तशास्त्र का पर्यवसान माना गया है, क्रिया में नहीं।

५. ईक्षत्यधिकरण

१. संगति—कूटस्थ होने के कारण जब ब्रह्म में क्रियाशक्ति ही नहीं, तो भला वह जगत् का कारण कैसे हो सकेगा ? इस प्रकार आक्षेप होने पर इस अधिकरण का प्रारम्भ हुआ, अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की आक्षेप संगति है।

२. विषय—यहाँ पर 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१) इत्यादि श्रुति-वाक्य विचार का विषय है।

३. संशय—'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-३) इस वाक्य द्वारा प्रधान बतलाया गया है अथवा ब्रह्म ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—ज्ञान एवं क्रियाशक्ति से युक्त होने के कारण सब का कारण सच्छब्दवाच्य प्रधान ही है।

५. सिद्धान्त—जगत्स्रष्टा को ईक्षणकर्ता कहा गया है, जो चेतन का धर्म है। कूटस्थ ब्रह्म में

द्वितीयं वर्णकमाह—

एकदेशी मन्यते—ब्रह्मपरत्वेऽपि वेदान्ता न ब्रह्मण्येव पर्यवस्यन्ति। किं तर्हि ? पारोक्ष्येण ब्रह्मतत्त्वं प्रतिपाद्य पश्चादपरोक्षप्रतिपत्तिं विदधति। तथा च सति वेदान्तानां शासनाच्छास्त्रत्वमुपपद्यते। किंच 'श्रोतव्यः' इति श्रवणं शब्दज्ञानात्मकं विधायाथ "मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यनुभवज्ञानात्मकं मननादिकं स्पष्टमेव विधीयते। तस्मात्—प्रतिपत्तेर्विधातारो वेदान्ता इति प्राप्ते—

ब्रूमः—न प्रतिपत्तेर्विधिः सम्भवति। कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यत्वादपुरुषतन्त्रत्वात्। शास्त्रत्वं तु नानुष्ठेयशासनादेव नियतम्। सिद्धवस्तुशंसनेनापि तदुपपत्तेः। शाब्दज्ञाने जाते पश्चादनु-भवात्मकं मननादिकं विधीयत इति वक्तुं न युक्तम्। 'दशमस्त्वमसि' इतिवच्छब्दस्यैवापरोक्षानु-भवजनकत्वेन शाब्दबोधात्पुरैवासम्भावनादिनिवृत्तये व्यापाररूपस्य कर्तृतन्त्रस्य मननादेर्विधानात्। तस्मात् "तत्त्वमसि" इत्यादयो वेदान्ता ब्रह्मण्यवसिताः ॥४॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्ये षष्ठाध्याये—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६-२-१) इति प्रस्तुत्य "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति "तत्तेजोऽसृत" (छा०उ०६-२-३) इति श्रूयते। तत्र सांख्या मन्यन्ते—सच्छब्दवाच्यं सर्वजगत्कारणं प्रधानम्। न तु ब्रह्म, प्रधानस्य सत्त्वगुणयुक्ततया परिणामितया च ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिसंभवात्। निर्गुणस्य कूटस्थस्य ब्रह्मणस्तदसंभवात्—इति।

ईक्षणाच्चेतनं ब्रह्म क्रियाज्ञाने तु मायया । आत्मशब्दात्मतादात्म्ये प्रधानस्य विरोधिनो ॥२४॥

(६) आनन्दमयाधिकरणम् ॥६॥

[एकदेशिमतम्]

संसारी ब्रह्म वाऽऽनन्दमयः संसार्ययं भवेत् । विकारार्थमयट्शब्दात्प्रियाद्यवयवोक्तितः ॥२५॥
अभ्यासोपक्रमादिभ्यो ब्रह्माऽऽनन्दमयो भवेत् । प्राचुर्यार्थौ मयट्शब्दः प्रियाद्याः स्युरुपाधिगाः ॥२६॥

माया से ज्ञान एवं क्रियाशक्ति सम्भव हो जाती है। साथ ही सच्छब्दवाच्य तत्त्व को आत्मा कहा है, इसके साथ तादात्म्य होने पर मोक्ष मिलता है। ये सभी बातें प्रधानपक्ष विरोधी हैं।

६. आनन्दमयाधिकरण

(एकदेशी मत)

१. संगति—ईक्षत्यधिकरण में 'तत्तेज ऐक्षत' (छा० ६-२-३) इत्यादि वाक्यगत ईक्षण अमुख्यप्राय कहा गया है, अतः जिस प्रकार वह जगत्कारणत्व का निर्णायक नहीं है, वैसे ही 'आत्माऽनन्दमयः' (तै० २-५) इस वाक्य में मयट् प्रत्यय विकारार्थक होने से तत्त्वनिर्णायक नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्व के साथ इस अधिकरण की प्रत्युदाहरण संगति है।

२. विषय—यहाँ पर 'आत्माऽनन्दमयः' इस तैत्तिरीय श्रुतिवाक्य पर विचार किया गया है।

३. संशय—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१) इस वाक्य द्वारा प्रक्रान्त ब्रह्म को ही 'आनन्दमयः' शब्द से कहा गया है अथवा कोई दूसरा पदार्थ आनन्दमयपदवाच्य है?

४. पूर्वपक्ष—'आनन्दमय' इस पद में विकारार्थक मयट् प्रत्यय रहने के कारण ब्रह्म से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ आनन्दमयपदवाच्य होना चाहिए। जिसके प्रिय, मोद एवं प्रमोद अवयव हैं।

अत्रोच्यते—ईक्षितृत्वश्रवणाच्चेतनं ब्रह्म सच्छब्दवाच्यम्। अचेतनस्य प्रधानस्येक्षितृत्वायोगात्। ज्ञानक्रियाशक्ती तु ब्रह्मणि मायया संभवतः। किंच "अनेन जीवेनाऽऽत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० उ० ६-३-२) इति नामरूपव्याकरणकर्त्री जगत्कारणदेवता स्ववाचकेनाऽऽत्मशब्देन चेतनं जीवं व्यपदिशति। तथा "तत्त्वमसि" इति चेतनस्य श्वेतकेतोर्जगत्कारणतादात्म्यं गुरुरुपदिशति। तदुभयमप्यचेतनस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वे विरुध्यते। तस्मात्—चेतनं ब्रह्म सच्छब्देनोच्यते ॥५॥

षष्ठाधिकरणमेकदेशिमतेनाऽऽह—

तैत्तिरीयके देहप्राणमनोबुद्ध्यानन्दरूपा अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयसंज्ञकाः पञ्च पदार्थाः क्रमेणैकैकस्मादनन्तराः पठिताः। तत्र–'सर्वान्तर आनन्दमयः संसारी, परमात्मा वा' इति संदेहः।

'संसारी' इति प्राप्तम्। कुतः? आनन्दस्य विकार आनन्दमय इति व्युत्पत्तेः संसारिणि संभवात्। अविकृते तु परमात्मन्यसौ न संभवति। "किंच तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" (तै०२-५) इत्यानन्दमयस्य पञ्चावयवा उच्यन्ते। अपेक्षितविषयदर्शनजन्यं सुखं प्रियम्। तल्लाभजन्यो मोदः। तद्भोगजन्यः प्रमोदः। सुषुप्त्यादौ भासमानमज्ञानोपहितं सुखसामान्यमानन्दः। निरुपाधिकं सुखं ब्रह्म। प्रियादीनां पञ्चावयवानां शिरआदिरूपत्वं प्रतिपत्तिसौकर्याय कल्प्यते। पक्षित्वेन कल्पितस्याऽऽनन्दमयस्य शिरः पक्षौ च, इत्यवयवत्रयम्। आत्मशब्देन मध्यशरीरं चतुर्थावयवत्वेनोच्यते। पुच्छमपरभागः। प्रतिष्ठा पादौ। अयं पञ्चमोऽवयवः। न च निरंशस्य परमात्मनोऽवयवा युक्ताः। तस्मात्—संसार्येवाऽऽनन्दमय

[सिद्धान्तमतम्]

अन्याङ्गं स्वप्रधानं वा ब्रह्म पुच्छमिति श्रुतम् । स्यादानन्दमयस्याङ्गं पुच्छेऽङ्गत्वप्रसिद्धितः ॥२७॥
लाङ्गूलासम्भववादत्र पुच्छेनाऽऽधारलक्षणा । आनन्दमयजीवोऽस्मिन्नाश्रितोऽतः प्रधानता ॥२८॥

५. सिद्धान्त—पुनरावृत्ति और उपक्रमादि को देखते हुए 'आनन्दमय' पद का अर्थ ब्रह्म ही करना चाहिए। मयट् प्रत्यय यहाँ पर प्राचुर्य अर्थ में है, विकार अथ में नहीं। विशुद्ध निरवयव ब्रह्म में प्रियादि अवयव औपाधिक हैं, परमार्थतः नहीं है।

(सैद्धान्तिक मत)

१. संगति—भगवत्पादीय मतानुसार जैसे पूर्वाधिकरण में मुख्य-ईक्षण के अनुरोध से ब्रह्मनिर्णय में गौण प्रवाहपाठ निश्चायक नहीं है, ऐसे ही 'पुच्छ' शब्द आधार एवं अवयव दोनों अर्थ के लक्षक समानरूप हैं; ऐसी स्थिति में अवयवप्राय पठित होने पर भी 'पुच्छ' शब्द किसी भी अथ का निश्चायक नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्वाधिकरण के साथ इसको प्रत्युदाहरण संगति है।

२. विषय—सिद्धान्तपक्ष में 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २·५) यह वाक्य विचारणीय है।

३. संशय—'आनन्दमय' के पुच्छरूप से इस तैत्तिरीय श्रुतिवाक्य में ब्रह्म का उपदेश है अथवा स्वप्रधानरूप से ?

४. पूर्वपक्ष—ब्रह्म आनन्दमय का अङ्ग है क्योंकि पुच्छ में अङ्गत्व प्रसिद्ध है।

५. सिद्धान्त—निरवयव ब्रह्म में पुच्छत्व का होना सम्भव नहीं है, अतः 'पुच्छ' शब्द का आधार अर्थ लक्षणा करनी चाहिए। साथ ही आनन्दमय पद का अथ जीव है जो ब्रह्म के आश्रित है, इसलिए 'पुच्छ' वाक्य में ब्रह्म को ही स्वरूपतः प्रधानता है।

इत्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः—आनन्दमयः परमात्मा । कुत ? । अभ्यासात् । "सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति" "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" (तै० २ ८) इत्यादिनाऽऽनन्दमयोऽभ्यस्यते। अभ्यासश्च तात्पर्य-लिङ्गम्। तात्पर्यं च वेदान्तानां ब्रह्मण्येव—इत्यवोचाम। किंच "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २ १) इति ब्रह्मोपक्रमात् "इदं सर्वमसृजत" (तै० २·६) इति सर्वस्रष्टृत्वादिभ्यश्चाऽऽनन्दमयो ब्रह्म। न च ब्रह्मणि मयट्शब्दानुपपत्तिः । प्राचुर्यार्थत्वसंभवात् । प्रियाद्यवयवा अपि विषयदर्शनाद्युपाधिकृता भविष्यन्ति। तस्मात्—परमात्माऽऽनन्दमय इत्येकदेशिनां मतम्।

इदानीं स्वमतानुसारेणाधिकरणं रच्यते—

"ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" (तै० २·५) इति यच्छ्रुतं ब्रह्म, तत्किमानन्दमयस्याङ्गत्वेन निर्दिश्यते ? उत स्वयं प्राधान्येन प्रतिपाद्यत इति संशयः।

आनन्दमयस्यावयवत्वेन—इति तावत्प्राप्तम्। लोके पुच्छशब्दस्यावयववाचित्वेन प्रसिद्धत्वात्।

उच्यते—न पुच्छशब्दोऽवयववाची। किंतु लाङ्गूलवाची। न चाऽऽनन्दमयस्य लाङ्गूल संभवति। लाङ्गूलस्य गवादिलक्षणान्नमयावयवत्वादानन्दमयस्यावयवत्वायोगात् । अतः पुच्छशब्देन मुख्यार्था-संभवे सति योग्यतावशादत्राऽऽधारो लक्ष्यते । ब्रह्म आनन्दमयस्य जीवस्याऽऽधारः, तत्कल्पना-धिष्ठानत्वात्। न च आनन्दमयः परमात्मा, प्राचुर्यार्थस्वीकारेऽप्यल्पदुःखसद्भावप्रतीतेः। तस्मात्—जीवाधारो ब्रह्म प्राधान्येन प्रतिपाद्यते। तथा च—

'असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" (तै० २-६) इत्यादि ब्रह्माभ्यासः। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० २-१) इति ब्रह्मोपक्रमश्चानुकूलो भवति ॥६॥

(७) अन्तरधिकरणम् ।।७।।

हिरण्मयो देवतात्मा किंवाऽसौ परमेश्वरः । मर्यादाधाररूपोक्तेर्देवतात्मैव नेश्वरः ।।२९।।
सार्वात्म्यात्सर्वदुरितराहित्याच्चेश्वरो मतः । मर्यादाद्या उपास्त्यर्थमीशेऽपि स्युरुपाधिगाः ।।३०।।

७. अन्तरधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में ब्रह्म पद, आनन्दमय पद एवं आनन्दाभ्यास पद को देखकर अनेक प्रमाण होने के कारण जैसे निर्विशेष ब्रह्म का निर्णय किया गया था, ऐसे ही पूर्वोक्त युक्ति से रूपवत्त्वादि अनेक प्रमाणों को देखते हुए हिरण्मय पुरुष कोई ससारी है ऐसा पूर्वपक्ष का उत्थान होता है। अतः पूर्वाधिकरण के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त संगति है।

२. विषय—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १-६-६) यह छान्दोग्य श्रुतिवाक्य इस अधिकरण में विचारणीय विषय है।

३. संशय—कर्म और उपासना के अनुष्ठान से उत्कर्ष को प्राप्त सूर्यमण्डल एवं नेत्र में उपास्य कोई देवता है अथवा परमेश्वर हैं ?

४. पूर्वपक्ष—मर्यादा, आधार और रूप का वर्णन होने से इन दोनों स्थानों में देवता ही उपास्य कहा गया है, ईश्वर नहीं।

५. सिद्धान्त—सर्वात्मा तथा सम्पूर्ण पापों से रहित पुरुष का वर्णन उक्त दोनों स्थानों में किया गया है जो ईश्वर में ही सम्भव है। मायामहिमा से लोकानुग्रहार्थं उसमें रूपवत्ता उपासना के लिए सम्भव है। मर्यादा एवं आधार परमेश्वर में औपाधिक है। अतः आदित्यमण्डल एवं नेत्र में उपास्य हिरण्मय पुरुष परमात्मा ही है।

सप्तमाधिकरणमारभयति—

छान्दोग्यस्य प्रथमाध्याय उद्गीथोपासनायामुपसर्जनान्युपास्यान्यभिधाय प्रधानमुपास्यमभिधातुमिदमाम्नायते—"अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते" (छा० १-६-६) इति। तत्र—आदित्यमण्डले विद्याकर्मातिशयवशात्कश्चिज्जीवो देवभावमुपेत्य जगदधिकारं निष्पादयन्नवतिष्ठते। ईश्वरश्च सर्वगतत्वान्मण्डलेऽपि वर्तते। अतस्तयोः संशयः।

तत्र 'देवतात्मा' इति तावत्प्राप्तम्। कुतः ? मर्यादाधाररूपाणामुच्यमानत्वात्। "ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकाः, तेषां चेष्टे देवकामानां च" इत्यैश्वर्यमर्यादोक्तिः। "अन्तरादित्ये" इत्याधारोक्तिः। 'हिरण्मयः' इति रूपोक्तिः। न हि सर्वेश्वरस्य सर्वाधारस्य नीरूपस्य परमेश्वरस्यैश्वर्यमर्यादाधाररूपाणि संभवन्ति। तस्मात्-देवतात्मा। इति प्राप्ते—

उच्यते—हिरण्मय ईश्वरो भवेत्। कुतः ? सर्वात्मत्वश्रवणात्। "सैवर्क्, तत्साम, तदुक्थम्, तद्यजुः, तद्ब्रह्म" (छा० १-७-५) इति वाक्ये तच्छब्दैः प्रकृतं हिरण्मयं पुरुषं परामृश्य तस्य ऋक्सामाद्यशेषजगदात्मकत्वमुपदिश्यते। तच्चाद्वितीये परमेश्वरे मुख्यमुपपद्यते। न तु सद्वितीयायां देवतायाम्। तथा—'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः" (छा० १-६-७) इति श्रूयमाणं सर्वपापराहित्यं ब्रह्मणोऽसाधारणं लिङ्गम्। यद्यपि देवतायाः कर्मण्यनधिकारात्क्रियमाणकरिष्यमाणपापयोरभावः। तथाऽप्यसुरादिजनित दुःखसद्भावात्तद्धेतुभूतं जन्मान्तरसंचितदुरितमनुवर्तत एव। मर्यादाधाररूपाणि तूपाधिधर्मतया सोपाधिके परमात्मन्युपास्ये वर्तितुमर्हन्ति। तस्मात्-ईश्वरो हिरण्मयः ।।७।।

(८) आकाशाधिकरणम् ॥८॥

आकाश इति होवाचेत्यत्र खं ब्रह्म वाऽत्र खम् । शब्दस्य तत्र रूढत्वाद्वाय्वादेः सर्जनादपि ॥३१॥
साकाशजगदुत्पत्तिहेतुत्वाच्छ्रौतरूढितः । एवकारादिना चात्र ब्रह्मैवाऽऽकाशशब्दितम् ॥३२॥

---

८. आकाशाधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में सर्वपापराहित्यादि ब्रह्मलिङ्ग के आधार पर रूपवत्त्वादि का जिस प्रकार अन्यथा अर्थ किया गया था वैसा यहाँ पर लिङ्गप्रमाण के आधार पर आकाशश्रुति का अन्यथानयन नहीं हो सकता, क्योंकि लिङ्गप्रमाण से श्रुतिप्रमाण बलवान होता है । अतः पूर्वाधिकरण के साथ इसकी प्रत्युदाहरण संगति हैं ।

२. विषय—'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच' (छा० १-९-१) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण में विचार का विषय है ।

३. संशय—आकाश शब्द से परब्रह्म का उपदेश है अथवा भूताकाश का ?

४. पूर्वपक्ष—लोकप्रसिद्धि को देखते हुए आकाश शब्द का अर्थ भूताकाश ही होना चाहिए, ब्रह्म में तो सादृश्य को लेकर आकाश शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं पर किया गया है । वायु आदि क्रम से आकाश भी जगत् का स्रष्टा हो जाता है ।

५. सिद्धान्त—आकाश के सहित सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का हेतु होने से, लौकिकरूढ़ की अपेक्षा श्रौतरूढ बलवान होने से एव एवकार आदि शब्द का प्रयोग देखते हुए भी यहाँ पर आकाश शब्द का ब्रह्म ही अर्थ सुनिश्चित है, अन्य नहीं ।

पूर्वोक्ताद्धिरण्मयवाक्यादुत्तरास्मिन्वाक्ये शालावत्येन महर्षिणा सर्वलोकाधारवस्तुनि पृष्टे सति प्रवाहणो राजोत्तरमाह । तत्रत्यं वाक्यमेतत्—"आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान् आकाशः परायणम्" (छा० १-९-१) इति । तत्र—आकाशशब्दार्थो वियत्, ब्रह्म वा इति संदेहः ।

रूढत्वात् 'वियत्' इति प्राप्तम् । सर्वभूतोत्पत्तिलयहेतुत्वं च वियत उपपद्यते । "आकाशाद्वायुः वायोरग्निः" (तै०२-१) इत्यादौ वाय्वादीनां सर्वभूतानां वियत्कार्यत्वश्रवणात् ।

अत्रोच्यते—ब्रह्मैवाऽऽकाशशब्दार्थः । "सर्वाणि ह वै" इत्यत्रासंकुचितसर्वशब्देन वियत्सहितसर्वभूतोत्पत्तिहेतुत्वश्रवणात् । न च वियतो वियद्धेतुत्वं संभवति । रूढिस्तु लौकिकी वियत्येवास्तु, श्रौती तु ब्रह्मण्यनामपि "आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता" (छा० ८-१४-इति) इति प्रयोगदर्शनात् । किंच "आकाशादेव" इत्येवकारः कारणान्तरं व्युदस्यति । न चैतद्वियत्पक्षे संभवति । घटादिषु वियद्व्यतिरिक्तानां मृदादिकारणानामुपलम्भात् । ब्रह्मपक्षे तु ब्रह्मणः सद्रूपस्य सर्वानन्यतया कारणान्तरव्युदास उपपद्यते । ज्यायस्त्वपरायणत्वे च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मणः श्रूयते—"ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्" (छा० ३-१४-३), "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्" (बृ० ३-९-२८) इति । कर्मफलं दातुं समर्थमित्यर्थः । तस्मात्—ब्रह्मैवाऽऽकाशशब्देन विवक्षितम् ॥८॥

(९) प्राणाधिकरणम् ॥९॥

मुखस्थो वायुरीशो वा प्राणः प्रस्तावदेवता । वायुर्भवेत्तत्र सुप्तौ भूतसारेन्द्रियक्षयात् ॥३३॥
सङ्कोचोऽक्षपरत्वे स्यात्सर्वभूतलयश्रुतेः । आकाशशब्दवत्प्राणशब्दस्तेनेशवाचकः ॥३४॥

(१०) ज्योतिश्चरणाधिकरम् ॥१०॥

कार्यं ज्योतिरुत ब्रह्म ज्योतिर्दीप्यत इत्यतः । ब्रह्मणोऽसंनिधेः कार्यं तेजोलिङ्गबलादपि ॥३५॥

---

९. प्राणाधिकरण

१. संगति—अतिदेश होने के कारण यहाँ पर भी पूर्वोक्त प्रत्युदाहरण संगति ही लेनी चाहिए।

२. विषय—'कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच' (छा० १-११-४) यह छान्दोग्य श्रुतिवाक्य ही यहाँ पर विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या यहाँ पर प्राण शब्द से ब्रह्म का उपदेश किया गया है अथवा मुखस्थ वायु का ?

४. पूर्वपक्ष—प्रस्ताव देवता के रूप में वायु का उपदेश ही यहाँ पर मानना उचित होगा, क्योंकि सुषुप्ति में भूतों का सार इन्द्रियों का प्रलय प्रत्यक्षसिद्ध है और प्राण की (व्यापारयुक्त होने से) जागृति भी प्रसिद्ध है।

५. सिद्धान्त—यदि वायु का अर्थ प्राण करोगे, तो सर्वभूतलय श्रुति का संकोच हो जायेगा। अतः सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय का कारण होने से जैसे पूर्व अधिकरण में आकाश शब्द का अर्थ ब्रह्म किया गया था, वैसे ही यहाँ पर भी सर्वभूतलय श्रुति को देखते हुए प्राण शब्द परमात्मा अर्थ का वाचक होगा।

१०. ज्योतिश्चरणाधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में ब्रह्मलिङ्ग के सद्भाव से जैसे प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म किया था, वैसा यहाँ पर ब्रह्मलिङ्ग नहीं है, जिससे कि ज्योति शब्द का अर्थ ब्रह्म कर सकें, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति है।

२ विषय—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते, विश्वतः पृष्ठेषु' (छा० ३-१३-७) इत्यादि

नवमाधिकरणमारचयति—

आकाशवाक्यादुत्तरस्मिन्वाक्ये प्रस्तावनाम्नः सामभागस्य देवता प्रस्तोत्रा पृष्टायामुषस्तिरुत्तरं ददौ। तत्रत्यं वाक्यमेतत्—"प्राण इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते। सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता" (छा० १-११-५) इति। तत्र प्राणशब्दार्थो मुखबिलान्तर्वर्तिवायुः, ब्रह्म वा'–इति संदेहः।

मुखबिलान्तवर्ती वायुर्भवेत्। सर्वभूतलयस्य तत्र सुसंपादत्वात्। सुषुप्तिकाले सर्वभूतसाराणामिन्द्रियाणां प्राणवायौ प्रविलयादिति प्राप्ते—

उच्यते—इन्द्रियमात्रलयपरत्वे व्याख्यायमाने 'सर्वाणि ह वै' इत्यसौ सर्वशब्दः संकुचितः स्यात्। आकाशशब्दवत्प्राणशब्दोऽपि श्रौतरूढ्येवकारस्यां ब्रह्मवाचकः। अस्ति हि प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि श्रौतरूढिः। "प्राणस्य प्राणम्" (बृ०४·४-१८) इत्यत्र ब्रह्मविवक्षया द्वितीयप्राणशब्दप्रयोगात्–ईश्वरः प्राणः ॥९॥

छान्दोग्यस्य तृतीयेऽध्याये गायत्रीविद्यायां हृदयच्छिद्रोपासनमभिधायेदमाम्नायते– "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" (छा० ३-१३-७) इति। तत्र द्युलोकात्परं दीप्यमानं वस्तु किं कार्यरूपं नेत्रानुग्राहकं तेजः, उत ब्रह्म, इति संशयः। 'कार्यम्' इति तावत्प्राप्तम् ब्रह्मणोऽसंनिहितत्वेन वाक्यस्य

चतुष्पात्प्रकृतं ब्रह्म यच्छब्देनानुवर्त्यते । ज्योतिः स्याद्भासकं ब्रह्म लिङ्गं तूपाधियोगतः ॥३६॥

(११) प्रतर्दनाधिकरणम् ॥११॥

प्राणोऽस्मीत्यत्र वाय्विन्द्रजीवब्रह्मसु संशयः । चतुर्णां लिङ्गसद्भावात्पूर्वपक्षस्त्वनिर्णयः ॥३७॥

वाक्य यहाँ पर विचारणीय विषय है ।

३. संशय—क्या ज्योति शब्द आदित्यादि का वाचक है अथवा ब्रह्मपरक है ?

४. पूर्वपक्ष—ब्रह्म की सन्निधि न होने के कारण कार्यरूप तेज ही ज्योति शब्द का अर्थ यहाँ पर करना चाहिए । वाक्यप्रमाण से लिङ्गप्रमाण बलवान होता है । इसलिए भी ज्योति शब्द का अर्थ कार्यज्योति ही करना चाहिए ।

५. सिद्धान्त--ज्योति शब्द का अर्थ परब्रह्म लेना ही उचित है, क्योंकि इस वाक्य में उसके चार पाद कहे गये हैं । प्रकाशक को बहुधा ज्योति शब्द से सम्बोधित भी करते हैं, इसलिए चतुष्पात् प्रकरणागत ब्रह्म के लिए ही 'यत्' शब्द का प्रयोग हुआ है । प्रदेशविशेष ब्रह्म में औपाधिक हो हो सकता है, अधिकरणनिर्देश भी उपासना के लिए उचित ही है । अतः 'ज्योतिर्दीप्यते' इस वाक्य में भी ब्रह्म का सुस्पष्ट उपदेश किया गया है ।

११. प्रतर्दनाधिकरण

१. संगति--पूर्वाधिकरण में प्रकरणागत त्रिपादब्रह्म के परामर्शक 'यत्' शब्द के साथ सामानाधिकरण होने के कारण 'ज्योतिः' शब्द का अर्थ भले ही ब्रह्म कर लिया गया हो, किन्तु इस अधिकरण में 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' (कौ० ३-२) यहाँ पर असाधारणब्रह्मलिङ्ग न होने से प्राण शब्द ब्रह्मपरक नहीं हो सकता, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण प्रतंदनाधिकरण कहा गया है ।

२. विषय—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्व' यह कौषीतकि श्रुति यहाँ पर विचारणीय है ।

३. संशय—क्या प्राण शब्द से वायु, इन्द्र देवता, जीव या परब्रह्म का उपदेश किया गया है ?

४. पूर्वपक्ष—जब चारों अर्थों के बोधक लिङ्ग विद्यमान हैं तो किसी एक अर्थ का निर्णय करना उचित नहीं होगा ।

ब्रह्मपरत्वायोगात् । तेजः परत्वं तूपपद्यते, तल्लिङ्गसद्भावात् । "इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः" (छा० ३-१३-७) इति श्रूयमाणो जठराग्न्यभेदस्तेजोलिङ्गम् । अत्रोच्यते—असिद्धोऽसंनिधिः । पूर्वस्मिन्गायत्रीखण्डे--

'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३-१२-६)

इति चतुष्पदो ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् । तस्य चात्र प्रकृतवाचिना यच्छब्देनानुवर्तनात् । 'अस्य ब्रह्मणः सर्वाणि भूतान्येकांशः' पादत्रयोपलक्षितमनन्तस्वरूपं द्योतनात्मके दिवि स्वस्मिन्नेवावतिष्ठत इत्यर्थः । न च ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्त्यनुपपत्तिः । भासकत्वाविशेषात् । ब्रह्मणो जगद्भासकत्वात् । तेजोलिङ्गं त्वौपाधिके ब्रह्मण्यवकल्पते, तस्मात्--ज्योतिर्ब्रह्म ॥१०॥

एकादशाधिकरणमारचयति--

कौषीतकीनामुपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिकायां प्रतर्दनं प्रतीन्द्रो वक्ति—"प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व" (कौ० ३-२) इति । तत्र चतुर्विधलिङ्गवशाच्चतुर्धा संशयः । "इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" (कौ० ३-३) इति प्राणवायोर्लिङ्गम् । 'अस्मि' इति वक्तुरिन्द्रस्याहंकारवाद इन्द्रलिङ्गम् । "वक्तारं विद्यात्" (कौ० ३-८) इति वक्तृत्वं जीवलिङ्गम् । "आनन्दोऽजरोऽमृतः" (कौ० ३-९) इति ब्रह्मलिङ्गम् । तत्र प्राबल्यदौर्बल्यविवेकाभावादनिर्णय इति पूर्वपक्षः ।

ब्रह्मणोऽनेकलिङ्गानि तानि सिद्धान्यनन्यथा। अन्येषामन्यथासिद्धेर्व्युत्पाद्यं ब्रह्म नेतरत् ॥३८॥

॥ इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

॥ अथ द्वितीयः पादः ॥

(१२) सर्वत्र प्रसिद्धयधिकरणम् ॥१॥

मनोमयोऽयं शारीर ईशो वा प्राणमानसे। हृदयस्थित्यणीयस्त्वे जीवे स्युस्तेन जीवगाः ॥१॥

---

५. सिद्धान्त—प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म ही लेना चाहिए क्योंकि वे अनेक लिङ्ग ब्रह्म में ही अव्यभिचरितरूप से सिद्ध हैं, ब्रह्मभिन्न अर्थ में तो वे लिङ्ग अन्यथासिद्ध हैं। अतः 'प्राण' शब्द का अर्थ ब्रह्म ही लेना चाहिए, अन्य नहीं।

प्रथमाध्याय—द्वितीय पाद

उपास्यब्रह्मविषयक अस्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्त श्रुतिवाक्यों का द्वितीय पाद में विचार किया गया है।

१२. सर्वत्र प्रसिद्धयधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में जीवादि लिङ्ग का बाध हो जाने और अव्यभिचरितब्रह्म-लिङ्ग होने के कारण ब्रह्मपरक ही माना गया था, वैसा यहाँ पर 'मनोमयादि' वाक्य में अव्यभि-चरितब्रह्मलिङ्ग नहीं है जिससे कि उस वाक्य को ब्रह्मपरक माना जाय, ऐसो प्रत्युदाहरण संगति के कारण इस अधिकरण का प्रारम्भ हुआ।

२. विषय—छान्दोग्य उपनिषद् शाण्डिल्यविद्या में कहा है 'स क्रतुं कुर्वीत', 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३-१४-१२) इत्यादि मन्त्र इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—मनोमय जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—प्राण एवं मन जीव के होते हैं। हृदय में स्थिति और अणीयस्त्व भी जीव के धर्म हैं। अतः मनोमयत्वादि-धर्मविशिष्ट जीव ही यहाँ पर उपास्यरूप से कहा गया है।

सिद्धान्तस्तु—सन्त्यत्र ब्रह्मणोऽनेकलिङ्गानि। तद्यथा—"त्वमेव मे वृणष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे" (कौ० ३-१) इति हिततमत्वमेकं लिङ्गम्। "यो मां विजानीयात्। नास्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन। न पितृवधेन" (कौ० ३-१) इति। ज्ञानमात्रेण महापातकाद्यले-पोऽपरं लिङ्गम्। एवमन्यान्यपि लिङ्गान्युदाहर्तव्यानि। न चैतानि प्राणेन्द्रजीवपक्षेषु कथंचिदप्युपपा-दयितुं शक्यन्ते। प्राणादिलिङ्गानि तु ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। प्राणादीनां ब्रह्मबोधद्वारत्वात्। तथा सति ब्रह्मलिङ्गानामनेकत्वादनन्यथासिद्धत्वाच्च प्राबल्यम्। तस्मात्-ब्रह्मैवात्र व्युत्पाद्यम्, न प्राणादि, इति सिद्धम् ॥११॥

प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

(प्रथमाध्यायस्य द्वितीय पादः)

द्वितीयपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्यस्य तृतीयेऽध्याये शाण्डिल्यविद्यायामिदमाम्नायते—'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः" (छा० ३-१४-३) इति। तत्र 'जीव ईशो वा' इति संदेहः।

शमवाक्यगतं ब्रह्म तद्धितादिरपेक्षते। प्राणादियोगश्चिन्तार्थश्चिन्त्यं ब्रह्म प्रसिद्धितः ॥२॥

(१३) अत्रधिकरणम् ॥२॥

जीवोऽग्निरीशो वाऽत्ता स्यादोदने जीव इष्यताम्। स्वाद्वत्तीति श्रुतेर्वह्निर्वाऽग्निरन्नाद इत्यतः ॥३॥

५. सिद्धान्त—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म इति शान्त उपासीत' इस शमवाक्यगत ब्रह्म की उपासना से जीव का हित कहा गया है। अतः उसी को उपासना का विधान शाण्डिल्यविद्या में किया गया है। सर्वत्र वेदान्त में जो जगत्कारण ब्रह्म प्रसिद्ध है उसी को वाक्यारम्भ में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य से कहा गया है और वही मनोमयत्वादि-धर्मविशिष्टरूप से उपासना के लिए उपदिष्ट है। प्राणादि का सम्बन्ध उपासना के लिए बतलाया गया हैं ऐसा मानने से प्रसंग का त्याग नहीं होता और अप्रासंगिक बात का ग्रहण भी नहीं होता। अतः शाण्डिल्यविद्या में मनोमयत्वादिधर्मविशिष्ट ब्रह्म ही उपास्य है, यह निश्चित हुआ।

१३. अत्रधिकरण

१. संगति—पहले ब्रह्म में भोक्तृत्व का अभाव कहा था, वैसे ही यहाँ पर ब्रह्म में कर्तृत्व का अभाव भी कहा जा रहा है, अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त संगति है।

२. विषय—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः' (क० १-२-२४) इस कठ श्रुति में कोई अत्ता सुना जाता है वही यहाँ पर विचारणीय विषय है।

३. संशय—इस श्रुति में जीव, अग्नि या ईश्वर अत्ता कहा गया है?

४. पूर्वपक्ष—ओदन जीव को इष्ट है और "स्वाद्वत्ति" ऐसी श्रुति भी वहाँ है, अतः जीवात्मा को अत्ता मानना चाहिए। अथवा अग्नि को अत्ता मानिये, क्योंकि 'अग्निरन्नादः' (बृ० १-४-६) ऐसी श्रुति है, एवं प्रसिद्धि भी है।

५. सिद्धान्त—ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि सम्पूर्ण जगत् जिसका भोज्य हो ऐसा ईश्वर ही भोक्ता

जीवः इति तावत्प्राप्तम्। मनः संबन्धादीनां जीवे सुसंपादत्वात्। 'मनसो विकारो मनोमयः' इति मनःसंबन्धः। 'प्राणः शरीरमस्य' इति प्राणसंबन्धः। न चेदं द्वयमीश्वरे सुसंपादम्। "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" (मु०२-१-२) इति निषेधात्। तथा—"एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्" (छा०३-१४-३) इति श्रूयमाणं हृदयेऽवस्थानम्: अणीयस्त्वं च निराधारस्य सर्वगतस्य न कथंचिदुपपद्यते। तस्मात्—जीव इति प्राप्ते—ब्रूमः—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छा० ३-१४-१) इत्येतस्मिञ्शमविधिपरे पूर्ववाक्ये श्रूयमाणं यद्ब्रह्म, तदेव 'मनोमयः प्राणशरीरः' इत्येताभ्यां तद्धितबहुव्रीहिभ्यां विशेष्यत्वेनापेक्ष्यते। शमवाक्यस्यायमर्थः—'यस्मात्सर्वमिदं ब्रह्म तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वाच्च तस्मात्सर्वात्मके ब्रह्मणि रागद्वेषविषयासंभवादुपास्तिकाले शान्तो भवेत्' इति। एतद्वाक्यगते ब्रह्मणि विशेष्यत्वेनान्विते मनोमयवाक्यमपि ब्रह्मपरं भविष्यति। न च ब्रह्मणो मनः मनः प्राणसंबन्धानुपपत्तिः। निरुपाधिके तदनुपपत्तावपि सोपाधिकस्योपास्यस्य चिन्तनार्थतया तदुपपत्तेः। तस्मात्–सर्वेष्वपि वेदान्तवाक्येषु यद्ब्रह्मोपास्यत्वेन प्रसिद्धं तदेवात्राप्युपास्यम्। नहि क्वचिदपि वेदान्ते जीवस्योपास्यत्वं प्रसिद्धम्। ततो 'ब्रह्मैव' इति सिद्धान्तः ॥१॥

(१३) अत्रधिकरणम् ॥१३॥

कठवल्लीषु द्वितीयवल्ल्यवसाने पठ्यते—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः (क० १-२-२४) इति।

अयमर्थः—'ब्राह्मक्षत्रियजाती यस्यौदनस्थानीये, मृत्युश्चोपसेचनस्थानीयः, स पुरुषो यत्र वर्तते, तत्स्थानम्। 'इदमित्थम्' इति को वेद? न कोऽपि जानातीत्यर्थः। अत्र–ओदनोपसेचनशब्दाभ्यां कश्चिद्भक्षकः प्रतीयते। स जीवः, अग्निः, ईशो वा, इति त्रेधा संदिह्यते।

ब्रह्मक्षत्रादिजगतो भोज्यत्वात्स्यादिहेश्वरः । ईशप्रश्नोत्तरत्वाच्च संहारस्तस्य चात्तृता ॥४॥

(१४) गुहाधिकरणम् ॥३॥

गुहां प्रविष्टौ धीजीवौ जीवेशौ वा हृदि स्थितौ । छायातपाभ्यां दृष्टान्ताद्धीजीवौ स्तो विलक्षणौ ॥५॥
पिबन्ताविति चैतन्यं द्वयोर्जीवेश्वरौ ततः । हृत्स्थानमुपलब्ध्यै स्याद्वैलक्षण्यमुपाधितः ॥६॥

हो सकता है । ईश्वर के विषय में प्रश्न का उत्तर यहां दिया जा रहा है एवं अत्तृता का संहार अर्थ यहां पर लेना उचित होगा, अतः परमात्मा ही इस श्रुति में भोक्तारूप से कहा गया है ।

१४. गुहाधिकरण

१. संगति--जिस प्रकार पूर्वाधिकरण में ब्रह्म एवं क्षत्र पद मृत्यु पद की सन्निधि में होने के कारण अनित्यवस्तुपरक कहा था, वैसे ही 'पिबत्' शब्द के सन्निहित 'गुहाप्रवेशादि' होने के कारण यहां पर भी बुद्धि और जीवपरक मानना चाहिए, ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण इस अधिकरण का प्रारम्भ हुआ है ।

२. विषय--'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे' (क० १-३-१) यह कठ श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय--क्या यहां पर गुहा में प्रविष्ट बुद्धि और जीव कहे गये हैं अथवा जीवात्मा और परमात्मा कहे गये हैं ?

४. पूर्वपक्ष--छाया और धूप के समान परस्पर विलक्षण जड़बुद्धि और चेतन जीवात्मा ही ही गुहा में प्रविष्ट कहे गये हैं ।

जीव इति तावत्प्राप्तम् । कुतः ? "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" (मु०३·१ १) इति जीवस्यात्तृत्वश्रवणात् । अथवा वह्निर्भवत्, "अग्निरन्नादः" (बृ० १·४ ६) इत्यत्तृत्वावगमात् ।

इति प्राप्ते उच्यते--ब्रह्मक्षत्त्रयोरुपलक्षणत्वेन कृत्स्नं जगदिह भोज्यत्वेनावगम्यते । नहि तादृशस्य भोज्यस्येश्वरादन्योऽत्ता संभवति । किंच--

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥

इति धर्माधर्मकार्यकारणकालत्रयातीते परमेश्वरे नचिकेतसा पृष्टे सति "यस्य ब्रह्म च" इति वाक्येन यम उत्तरं ददौ । तस्मादीश्वरोऽत्र प्रतिपाद्यः । "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (मु०३-१-१) इतीश्वरे भोक्तृत्वं निषिध्यत इति चेत् । तर्ह्यत्रात्तृत्वं नाम संहर्तृत्वं भविष्यति । तच्चेश्वरस्य सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धम् ॥२॥

तृतीयाधिकरणमारचयति--

कठवल्लीष्वेव तृतीयवल्ल्यादौ श्रूयते--

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥इति॥ (क० १-३-१)

अयमर्थः--"सुकृतस्य फलभूतं यद्ब्राह्मणादिशरीरं तत्परस्यार्धं परब्रह्मण उपलब्धिस्थानम् तच्च परमम्, विद्याधिकारहेतुशमदमाद्युपेतत्वात् । तादृशस्य शरीरस्य मध्ये स्थितं हृदयपुण्डरीकं गुहा तां प्रविष्टौ । यद्वा--ऋतशब्दवाच्यं कर्मफलं पिबन्तौ छायातपवत्परस्परविलक्षणौ वेदविदो वदन्ति, इति । तौ द्वौ बुद्धिजीवौ जीवेशौ वा ? इति संदेहः ।

'बुद्धिजीवौ' इति प्राप्तम् । तयोः परिच्छिन्नयोर्गुहाप्रवेशसंभवात् । जडाजडरूपत्वेन छायातपद्वैलक्षण्याच्च ।

अत्रोच्यते--'पिबन्तौ' इति द्विवचनेन द्वयोश्चेतनत्वं प्रतीयते । ततः--चेतनाविह जीवेश्वरौ भवतः ।

(१५) अन्तराधिकरणम् ॥४॥

छायाजीवौ देवतेशौ वाऽसौ योऽक्षिणि दृश्यते । आधारदृश्यतोक्त्येशादन्येषु त्रिषु कश्चन ॥७॥
कं खं ब्रह्म यदुक्तं प्राक्तदेवाक्षिण्युपास्यते । वामनीत्वादिनाऽन्येषु नामृतत्वादिसंभवः ॥८॥

५. सिद्धान्त—जीव और परमात्मा यहाँ पर गुहा प्रविष्ट पदार्थ मानना चाहिए क्योंकि 'पिबन्तौ' ऐसा द्विवचन का प्रयोग होने से यदि एक जीव चैतन्य है, तो दूसरा चैतन्य ईश्वर मानना उचित होगा। हृदय में उसकी उपलब्धि होती है इसीलिए उसे हृदयस्थ कहा गया है। उपाधि के कारण ईश्वर में परस्पर वैलक्षण्य बताना भी सम्भव हो जाता है। अतः चेतन जीवात्मा एवं परमात्मा ही गुहाप्रविष्ट पदार्थ यहाँ मानना चाहिए।

१५. अन्तराधिकरण

१ सङ्गति—पूर्वाधिकरण में जिस प्रकार प्रथम "पिबन्तौ" यह पदगत द्वित्व होने से जीव और परमेश्वर में चेतनत्वेन सादृश्य मानकर 'गुहाप्रवेशादि' चरमश्रुति को जीवपरमेश्वरपरक माना था, वैसे ही यहाँ पर 'दृश्यते' इस प्रथमप्रत्यक्षत्वकथन से नेत्र में प्रतिबिम्बबोध के अनुरोध से अमृतत्वादि' चरमश्रुति को स्तावक मानना चाहिए। इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया।

२- विषयः—छान्दोग्य की उपकोशलविद्या में 'य एषो ऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति' (छा० ४·१५·१) ऐसी श्रुति है, वही यहाँ पर विचारणीय है।

३. संशय—क्या नेत्राधिकरणक निर्दिष्टतत्त्व प्रतिबिम्बादि हैं अथवा परमात्मा है? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—आधार एवं दृश्यता का कथन होने से ईश्वर को छोड़कर अन्य छाया, जीवात्मा अथवा देवता-इन तीनों में से कोई एक अक्षिस्थपुरुष हो सकता है।

५. सिद्धान्त—'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (सुख ब्रह्म है और विभु ब्रह्म है) ऐसा जिसे पहले कहा जा चुका है वही यहाँ पर नेत्र में वामनत्वादि धर्म में उपास्य कहा गया है। परमेश्वर को छोड़कर छायादि तीनों ही पदार्थों में अमृतत्वादि का होना सम्भव नहीं।

सर्वगतस्यापीश्वरस्य हृदयेऽवस्थानमुपलब्ध्यै वर्ण्यते । द्वयोश्चेतनत्वसाम्येऽपि सोपाधिकत्वानिरुपाधिकत्वाभ्यां वैलक्षण्यमुपपद्यते ॥३॥

छान्दोग्यस्य—चतुर्थाध्याय उपकोसलविद्यायामुपकोसलं शिष्यं प्रति सत्यकामो गुरुराह। तत्रत्यं वाक्यमेतत्—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' (छा० ४-१५) इति तत्र चतुर्धा संशये सति 'अक्षिणि सर्वैर्दृश्यमाना छाया' इति तावत्प्राप्तम् । अक्ष्याधारत्वदृश्यत्वयोस्तस्यामपि स्पष्टत्वात् । यद्वा—जीवोऽयं भवितुमर्हति । रूपदर्शनवेलायां तस्य चक्षुष्यवस्थितत्वेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां दृश्यमानत्वात् । अथवा देवता स्यात् । "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" (ऐ० २·४) इति दर्शनात् । सर्वथा न परमात्मा । तस्याऽऽधारत्वदृश्यत्वासम्भवात् । तस्मात्—छायाजीवदेवेषु यः कोऽप्यस्तु ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"कं ब्रह्म खं ब्रह्म" (छा० ·४·१०-१) इति सुखरूपम् । आकाशवत्परिपूर्णं यद्ब्रह्म पूर्ववाक्येणोक्तम्, तदेव "य एषोऽक्षिणि" इति प्रकृतवाचकेनैतच्छब्देन परामृश्याक्षण्युपास्यत्वेनोपदिश्य वामनीत्वभामनीत्वसंयद्वामत्वादिगुणानुपासना योपदिशति । वामनीत्वं कामप्रापकत्वम् । भामनीत्वं जगद्भासकत्वम् । संयद्वामत्वं प्राप्तकामत्वम् । एतैर्गुणैरुपास्यब्रह्मणः सोपाधिकत्वादक्ष्याधारत्वं शास्त्रदृष्ट्या दृश्यमानत्वं च न विरुध्यते । छायाजीवदेवतेषु त्वमृतत्वाभयत्वादीनि न सम्भवन्ति । तस्मात्—ईश्वरोऽत्रोपास्यः ॥४॥

(१६) अन्तर्याम्यधिकरणम् ॥५॥

प्रधानं जीव ईशो वा कोऽन्तर्यामी जगत्प्रति । कारणत्वात्प्रधानं स्याज्जीवो वा कर्मणो मुखात् ॥९॥
जीवैकत्वामृतत्वादेरन्तर्यामी परेश्वरः । द्रष्टृत्वादेर्न प्रधानं न जीवोऽपि नियम्यतः ॥१०॥

(१७) अदृश्यत्वाधिकरणम् ॥६॥

भूतयोनिः प्रधानं वा जीवो वा यदि वेश्वरः । आद्यौ पक्षावुपादाननिमित्तत्वाभिधानतः ॥११॥

---

१६ अन्तर्याम्यधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (बृ० ३-७-२) इत्यादि अन्तर्यामीब्राह्मण के अन्तर्गत 'यः चक्षुषि तिष्ठन्' इत्यादि वाक्य को उदाहरण के रूप में रखकर 'स्थानादिव्यपदेशाच्च' इस सूत्र में अन्तर्यामी को ब्रह्म कहा था। अब उस पर आक्षेप उठाकर समाधान देने के लिए इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है। अतः पूर्व के साथ इसको आक्षेप संगति है।

२. विषय—बृहदारण्यक अन्तर्यामिब्राह्मण में 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३-७-२) इत्यादि वाक्य है, इसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—यहां पर अन्तर्यामी प्रधान है अथवा अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्त कोई योगीपुरुष है ?

४. पूर्वपक्ष—जगत का कारण होने से प्रधान उसका नियामक हो सकता है अथवा कर्म की प्रधानता से जीवात्मा भी जगन्नियन्ता सम्भव है।

५. सिद्धान्त—जीव के साथ एकत्व एवं अमृतत्वादि अन्तर्यामी के धर्म कहे गये हैं जो ईश्वर में ही सम्भव हैं। द्रष्टृत्वादि अचेतन प्रधान के गुण नहीं हो सकते और जीव भी नियम्य है, वह अपना नियामक नहीं हो सकता। अतः यहां पर परमात्मा ही अन्तर्यामीरूप से उपास्य कहा गया है।

१७. अदृश्यत्वाधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में जिस प्रकार प्रधानविरोधी द्रष्टृत्वादि धर्म होने से प्रधान में अन्तर्यामित्व सिद्ध न हो सका, वैसा यहाँ पर मुण्डक श्रुति में प्रधानविरोधी धर्म नहीं सुना जाता है। अतः अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतों की योनि प्रधान ही है, ऐसो प्रत्युदाहरण संगति के कारण इस

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

बृहदारण्यके—पञ्चमाध्याये याज्ञवल्क्य उद्दालकं प्रत्याह—"यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" (बृ० ३-७-३) इति । तत्र—पृथिव्यादिजगत्प्रतियोऽन्तर्यामी श्रूयते, तस्मिंस्त्रेधा संशये सति 'प्रधानम्' इति प्राप्तम्। तस्य सकलजगदुपादानत्वेन स्वकार्यं प्रति नियामकत्वसंभवात्। अथवा जीवोऽन्तर्यामी । स हि धर्माधर्मरूपं कर्मानुष्ठितवान। तच्च कर्म स्वफलदानाय फलभोगसाधनं जगदुत्पादयति। अतः कर्मद्वारा जगदुत्पादकत्वाज्जीवोऽन्तर्यामी।

इति प्राप्ते ब्रूम—"एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" (बृ० ३-७-६) इत्यन्तर्यामिणो जीवतादात्म्यममृतत्वं च श्रूयते। तथा पृथिव्यन्तरिक्षादिषु सर्ववस्तुष्वन्तर्यामित्वोपदेशेन सर्वव्यापित्वं प्रतीयते। तेभ्यो हेतुभ्योऽन्तर्यामी परमेश्वरः । न च प्रधानस्यान्तर्यामित्वं संभवति। "अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता" (बृ० ३-७-२३) इयि द्रष्टृत्वश्रोतृत्वाद्यवगमादचेतनस्य प्रधानस्य तदसंभवात्। नापि जीवोऽन्तर्यामी। "य आत्मानमन्तरो यमयति" इति जीवस्य नियम्यत्वश्रवणात्। तस्मात्-अन्तर्यामी परमेश्वरः ॥५॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

मुण्डकोपनिषदि श्रूयते—"तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" (मु० १-१-६) इति।

ईश्वरो भूतयोनिः स्यात्सर्वज्ञत्वादिकीर्तनात् । दिव्यःह्यक्तेर्न जीवः स्यान्न प्रधानं भिदोक्तितः ।।१२।।

(१८) वैश्वानराधिकरणम् ।।७।।

वैश्वानरः कौक्षभूतदेवजीवेश्वरेषु कः । वैश्वानरात्मशब्दाभ्यामीश्वरान्येषु कश्चन ।।१३।।

अधिकरण का आरम्भ हुआ है ।

२. विषय—"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" (मु० १-१-६) इत्यादि मुण्डक श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—भूतयोनि प्रधान है, जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ? ऐसा संशय होता है ।

४. पूर्वपक्ष—उपादान होने से प्रधान भूतयोनि हो सकता है और निमित्त कारण होने से जीवात्मा भी भूतयोनि हो सकता है। अतः इन दोनों में से कोई भी अर्थ लिया जा सकता है ।

५. सिद्धान्त—सर्वज्ञत्वादि धर्म के कथन से भूतयोनि का परमात्मा अर्थ लेना ही उचित होगा । 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' (मु० २-१-२) ऐसा दिव्यत्वादि के कथन से जीव नहीं और 'अक्षरात्परतः परः' इस वाक्य में प्रधान से भिन्न, भूतयोनि को कहा है । अतः प्रधान भी भूतयोनि नहीं है. किन्तु परमात्मा ही इस श्रुति में भूतयोनिरूप से कहा गया है ।

१८ वैश्वानराधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में प्रारम्भिक अदृश्यत्वादि साधारण धर्म को वाक्यशेषस्थ सर्वज्ञत्वादि लिङ्ग के आधार पर जैसे ब्रह्मपरक माना गया था, वैसे ही यहाँ भी उपक्रमस्थ वैश्वानर शब्द को वाक्यशेषस्थ होमाधिकरणत्वलिङ्ग के आधार पर जाठराग्निपरत्व मानना चाहिए । इस प्रकार दृष्टान्त संगति के कारण वैश्वानराधिकरण की रचना हुई ।

तत्र त्रेधा संशये सति–प्रधानं जीवो वा, इति पक्षद्वयं तावत्प्राप्तम् । योनिशब्दस्योपादाननिमित्त-लक्षणार्थद्वयवाचित्वात् । प्रधानस्य विश्वाकारेण परिणममानस्योपादानत्वात् । जीवस्य च धर्माधर्म-द्वारेण निमित्तत्वात् ।

अत्रोच्यते—

"यः सर्वज्ञः सर्वविद्, यस्य ज्ञानमयं तपः" । (मु० १-१-९) इति सामान्याकारेण सर्वज्ञत्वम् । विशेषकारेण सर्वविस्वम् पर्यालोचनात्मकं तपश्च । इत्येतादृशस्य ब्रह्मलिङ्गस्य कीर्तनाद्भूतयोनिः परमेश्वरः । न च जीवस्य भूतयोनित्वं युक्तम् ।

"दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" । (मु० २-१-२)

इति बाह्याभ्यन्तरव्यापित्वजन्मराहित्ययोः श्रुतत्वात्परिच्छिन्नस्य जन्मादिमतो जीवस्य तदसंभवात् । नापि प्रधानस्य भूतयोनित्वं युक्तम् । "अक्षरात्परतः परः" (मु० २-१-२) इत्यक्षर-शब्दवाच्यत्प्रधानाद्भेदेन भूतयोनेः परत्वाभिधानात् । तस्मादीश्वरो भूतयोनिः ।।६।।

सप्तमाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्यस्य पञ्चमाध्याये वैश्वानरविद्याप्रामाम्नायते "आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते" (छा० ५-१८ १) इति । किमयं वैश्वानरः कुक्षिस्थितोऽग्निः किंवा भूताग्निः, आहोस्वित् अग्निदेवता किंवा

द्युमूर्धत्वादितो ब्रह्मशब्दाच्चेश्वर इष्यते । वैश्वानरात्मशब्दौ तावीश्वरस्यापि वाचकौ ॥१४॥

(इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः)

(आदितः श्लोकसंख्या–५२)

---

२. विषय—वैश्वानरतत्त्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—छान्दोग्य की वैश्वानरविद्या में कहा गया द्युमूर्धादि भाव वाला तत्त्व वैश्वानर जाठराग्नि है, भूताग्नि है, आदित्यादि देवता है, जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ?

४. पूर्वपक्ष—वैश्वानर एवं आत्मा शब्द का प्रयोग होने से ईश्वर से भिन्न कोई भी पदार्थ ग्रहण किया जा सकता है।

५. सिद्धान्त—'मूर्धत्वादि' श्रुति को देखते हुए और ब्रह्म शब्द का प्रयोग होने से भी परमेश्वर ही वैश्वानर पद का अर्थ लेना यहाँ पर उचित होगा । ईश्वर के लिए भी शास्त्रों में वैश्वानर एवं आत्म शब्द का प्रयोग बहुधा देखा जाता है।

जीवात्मा, अथवा परमात्मा, इति संशयः । तत्र वैश्वानरशब्दवशादाद्यं पक्षत्रयं प्राप्तम् । "अयमग्नि-र्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते" (बृ० ५-९-१) इति श्रुतौ वैश्वानरशब्दो जाठराग्नौ प्रयुक्तः । "विश्वस्मा अग्नि भुवनाय देवा वैश्वानरम्" (ऋ० सं० १०-८८-१२) इति बाह्येऽग्नौ प्रयुक्तः । "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम्" (ऋ०सं० १-९८-१) इति देवतायां प्रयुक्तः । अतः पक्षत्रयमुपपद्यते । आत्मशब्दस्य जीवे रूढत्वाज्जीवो वा वैश्वानरः स्यात् । न त्वीश्वरः, तद्गमकाभावात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—वैश्वानरो ब्रह्म भवितुमर्हति । द्युमूर्धत्वादिश्रवणात् । "तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" (छा० ५-१८-२) इत्यादिना द्युलोकाद्यशेषजगतो वैश्वानरावयवत्वं श्रूयते । न चैतदीश्वरादन्यत्र संभवति । किंच "को न आत्मा, किं ब्रह्म" (छा० ५-११ १) इति ब्रह्म-शब्दश्चेश्वरे मुख्यः । वैश्वानरशब्दस्तु योगवृत्त्या ब्रह्मणि वर्तते । विश्वश्चासौ नरश्च विश्वानरः । सर्वात्मकपुरुष इत्यर्थः । विश्वानर एव वैश्वानरः । आत्मशब्दश्च जीवब्रह्मण्यपि वर्तते । तस्मात्—वैश्वानरः परमेश्वरः ॥७॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

।। अथ तृतीयः पादः ।।

(१६) द्युभ्वाधिकरणम् ।।१।।

सूत्रं प्रधानं भोक्तेशो द्युभ्वाद्यायतनं भवेत् । श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभ्यां भोक्तृत्वाच्चेश्वरेतरः ।।१।।

प्रथमाध्याय—तृतीय पाद

इस तृतीय पाद में ज्ञेयब्रह्मविषयक अस्पष्टब्रह्मलिङ्ग वाली श्रुतियों का विचार किया गया है।

१६. द्युभ्वाद्यधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में त्रैलोक्य आत्मा वैश्वानर परमात्मा कहा गया था, तब तो तीनों लोकों का आयतनतत्त्व परमात्मा से कोई भिन्न ही होगा; ऐसा आक्षेप होने पर उसका समाधान देने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ होता है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप संगति है।

२. विषय—'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ।।' (मु० २-२-५) यह वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—द्युलोकादि का आयतन प्रधान है, जीव है अथवा परमात्मा है ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—स्मृति प्रसिद्ध प्रधान जगत् का कारण होने से सबका आयतन कहा गया है, अथवा भोक्ता होने से भोग्यप्रपञ्च का आयतन जीव को मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—द्युलोक, भूलोक आदि का आयतन परमात्मा ही हो सकता है, प्रधान या जीव नहीं हो सकते, क्योंकि उसके लिए ही आत्म शब्द का प्रयोग है। मुक्तपुरुषों का गन्तव्य प्रधान या

(प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः)

प्रथमाधिकरणमारचयति—

मुण्डकोपनिषदि श्रूयते—

"यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः" (मु० २-२-५) इति।

द्युलोकभूलोकाद्यशेषं जगद्यस्मिन्नाधार आश्रितम्, तमाधारमेकमेवाऽऽत्मानं जानीथ, न त्वाश्रितं द्युपृथिव्यादि। इतोऽतिरिक्ता अनात्मप्रतिपादिकास्तर्कशास्त्रादिवाचो विमुञ्चथ। अपुरुषार्थत्वात्, इत्यर्थः। अत्र संशयः—किं द्युभ्वाद्यायतनं सूत्रात्मा, किंवा प्रधानम्, अथवा भोक्ता, आहोस्विदीश्वरः, इति संदेहः। सूत्रात्मा स्यात्। "वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति" (बृ० ३-७-२) इति श्रुतिप्रसिद्धया वायोः सूत्रात्मनो द्युभ्वाद्यायतनत्वावगमात्। प्रधानं वा स्यात्। तस्य सांख्यस्मृतिप्रसिद्धया सर्वाधारत्वावगमात्। भोक्ता वा स्यात्। "तमेवैकं जानथाऽऽत्मानम्" इत्यात्मशब्दात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावदाद्यौ पक्षौ संभवतः। उक्तस्याऽऽत्मशब्दस्य तयोरसंभवात्। नापि भोक्ता।

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मु० ३-१-३)

इति द्युभ्वाद्यायतनस्य मुक्तपुरुषप्राप्यत्वश्रवणाद्भोक्तुर्जीवस्य तत्प्राप्यत्वासंभवात्। "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"(मु० १-१-३)इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपक्रान्तम्। "ब्रह्म वेद

नाऽऽद्यो पक्षावात्मशब्दान्न भोक्ता मुक्तगम्यतः । ब्रह्मप्रकरणादीशः सर्वज्ञत्वादितस्तथा ॥२॥

(२०) भूमाधिकरणम् ॥२॥

भूमा प्राणः परेशो वा प्रश्नप्रत्युक्तिवर्जनात् । अनुवर्त्यातिवादित्वं भूमोक्तेश्चासुरेव सः ॥३॥
विच्छिद्यैष त्विति प्राणं सत्यस्योपक्रमात्तथा । महोपक्रम आत्मोक्तेरीशोऽय द्वैतवारणात् ॥४॥

जीव नहीं हो सकता। साथ ही ब्रह्म का प्रकरण चल रहा है, जिसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान माना है। अतः द्युलोकादि का आयतन परमात्मा ही है, अन्य नहीं।

२०. भूमाधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में आत्म शब्द का प्रयोग होने से द्युलोकादि का आयतन परमात्मा माना गया था, वह ठीक नहीं है; क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७-१-३) इस प्रकरण में प्रश्नोत्तर की परम्परा प्राण से आगे न दिखाई पड़ने के कारण प्राण में भी आत्म शब्द का प्रयोग सम्भव हो सकता है। ऐसा आक्षेप होने पर इस अधिकरण का प्रारम्भ हुआ है, इसलिए पूर्व के साथ इसकी आक्षेप संगति है।

२. विषय—'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' इति 'भूमानं भगवो विजिज्ञास' इति। 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७-२३, २४) यह श्रुतिवाक्य यहाँ का विचारणीय विषय है।

३. संशय—भूमा शब्द का अर्थ प्राण है या परमात्मा ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—नाम से लेकर आशापर्यन्त प्रश्नोत्तर देखा गया है, उसके आगे प्रश्नोत्तर नहीं दीखते। अतः अनुगत अतिवादित्व भूमा में कहे जाने के कारण भूमा शब्दार्थ वायु ही है।

५. सिद्धान्त—एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति (छा० ७-१६) इस वाक्य द्वारा प्राण का प्रकरण पृथक्कर सत्य का प्रसंग प्रारम्भ होने से परमात्मा ही भूमा पद का अर्थ है। वैसे ही महोपक्रम परमात्मा का है। समस्त द्वैत का अभाव भी परमात्मा में ही होता है। अतः भूमा पद का अर्थ परमात्मा ही निश्चित है।

ब्रह्मैव भवति" मु० ३-२-९) इत्युपसंहृतम्। ततो ब्रह्मप्रकरणाद्भूतयोन्यधिकरणोक्तसर्वज्ञत्वादियुक्तेरपि ब्रह्मैव द्युभ्वाद्यायतनम् ॥१॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्ये सप्तमाध्याये नारदं प्रति सनत्कुमारो नामादीन्युत्तरोत्तरभूयांसि बहूनि तत्त्वान्युपदिश्यान्ते निरतिशयं भूमानमुपदिशति—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" (छा० ७-२४-१) इति। तत्र भूमशब्दवाच्ये द्विधा संदिग्धे सति 'प्राण' इति तावत्प्राप्तम्। प्रश्नप्रत्युक्तिवर्जनात्। पूर्वेषु नामादितत्त्वेषु "अस्ति भगवो भूयः" (छा० ७-१-५) इति नारदः पदे पदे पृच्छति। सनत्कुमारश्च 'अस्ति' इति प्रतिवक्ति। एवं च प्रश्नप्रतिवचनपूर्वकतया नामादीनि प्राणान्तानि तत्त्वान्युपदिश्य प्राणस्योपरि विनैव प्रश्नप्रत्युक्तिभ्यां भूमानमवतारयति। अतः प्राणभूम्नोर्मध्ये विच्छेदकस्याभावात्प्राण एव भूमा। किंच प्राणतत्त्वमुपदिश्य प्राणोपासकतयाऽतिवादित्वनामकमुत्कर्षमभिधाय प्रकरणविच्छेदशङ्कानिवृत्तये तदेवातिवादित्वमनुवर्त्य भूमानमुपदिशन्प्राणभूम्नोरभेदं गमयति। तस्मात्प्राणो भूमा।

(२१) अक्षराधिकरणम् ॥३॥

अक्षरं प्रणवः किंवा ब्रह्म लोकेऽक्षराभिधा । वर्णे प्रसिद्धा तेनात्र प्रणवः स्यादुपास्तये ॥५॥
अव्याकृताधारतोक्तेः सर्वधर्मनिषेधतः । शासनादद्रष्टृतादेश्च ब्रह्मैवाक्षरमुच्यते ॥६॥

(२२) ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरणम् ॥४॥

त्रिमात्रप्रणवे ध्येयमपरं ब्रह्म वा परम् । ब्रह्मलोकफलोक्त्यादेरपरं ब्रह्म गम्यते ॥७॥

---

२१. अक्षराधिकरण

१ सङ्गति--जिस प्रकार पिछले अधिकरण में ब्रह्म में सत्य शब्द रूढ़ होने के कारण भूमा का अर्थ ब्रह्म माना था, वैसे ही यहाँ भी अक्षर शब्द वर्ण अर्थ में रूढ़ होने के कारण वर्ण ही अक्षर हो सकता है। इस प्रकार दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. विषय— 'स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि? ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमिति (बृ० ३-८-७/८) यह वाक्य यहाँ पर विचारणीय है।

३ संशय— अक्षर शब्द से वर्ण अर्थ को कहा गया है अथवा परमात्मा? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष— अक्षर नाम वर्ण में प्रसिद्ध है। अतः यहाँ पर उपासना के लिए अक्षर का अर्थ प्रणवाक्षर करना चाहिए।

५. सिद्धान्त— पृथ्वी से लेकर अव्याकृतपर्यन्त समस्त जगत् का आधार होने से, सम्पूर्ण धर्मों का निषेध होने से, शासनकर्ता और द्रष्टृत्वादि चैतन्यधर्म को देखने से भी ब्रह्म ही अक्षर शब्द का अर्थ मानना ठीक है।

२२. ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में वर्ण अर्थ में रूढ़ अक्षर शब्द का भी अर्थ ब्रह्म इसलिए किया गया क्योंकि अम्बरान्त जगत् का धारणकरनारूपलिङ्ग और 'न क्षरति अश्नुते वा' ऐसी व्युत्पत्ति भी

इति प्राप्ते ब्रूमः—अयं भूमा परमेश्वरः। कुतः ? "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति" (छा० ७-१६-१) इत्यत्रातिवादित्वहेतुं प्राणोपासनं तुशब्देन व्यावर्त्य मुख्यातिवादित्वहेतोर्ब्रह्मणः सत्यशब्देन पृथगुपक्रमात्। तथा परमोपक्रमे "तरति शोकमात्मवित्" (छा० ७-१-३) इति वेद्यतया परमात्मोच्यते। तथा "यत्र नान्यत्पश्यति" इति द्वैतनिषेधेन भूम्नो लक्षणमभिधीयते। तस्माद्द्वैतः परमात्मैव भूमा ॥२।

तृतीयाधिकरणमारचयति—

बृहदारण्यके पञ्चमाध्याये गार्गीं प्रति याज्ञवल्क्य आह—"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" (बृ० ३ ८-८) इति। अत्र 'अक्षरशब्देन प्रणवो ब्रह्म वाऽभिधीयते' इति संदेहे 'प्रणवः'इति प्राप्तम्। कुतः? लोके "येनाक्षरसमाम्नायमाधगम्य"इत्यादौ वर्णेऽक्षरशब्दप्रसिद्धेः। प्रणवाक्षरस्यात्रोपास्यतया वक्तव्यत्वात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः। ब्रह्मैवाक्षरशब्दवाच्यम्। कुतः ? 'एतस्मिन्न्खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च"(बृ०३-८ ११)इत्याकाशशब्दवाच्यमव्याकृतं प्रत्यक्षरस्याऽऽधारतोक्तेः। प्रणवस्य तदसम्भवात्। किंच "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" इत्यक्षरे सर्वसंसारधर्मा निषिध्यन्ते। तथा "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" (बृ० ३-३-९) इति तस्यैवाक्षरस्य जगच्छासितृत्वमुच्यते। तथा "तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ" (बृ० ३-८-११) इत्यादिना द्रष्टृत्वादिकं प्रमाणाविषयत्वं चाऽऽम्नातम्। तदेतत्सर्वं न प्रणवपक्षेऽवकल्पते। तस्माद्ब्रह्मैवाक्षरम् ॥३॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

प्रश्नोपनिषदि श्रूयते—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत"(प्र० ५-५) इति।

ईक्षितव्यो जीवघनात्परस्तत्प्रत्यभिज्ञया । भवेद्ध्येयं परं ब्रह्म क्रममुक्तिः फलिष्यति ॥८॥

(२३) दहराधिकरणम् ॥५॥

दहरः को वियज्जीवो ब्रह्म वाऽऽकाशशब्दतः । वियत्स्यादथवाऽल्पत्वश्रुतेर्जीवो भविष्यति ॥९॥

मिलती है, ठीक वैसे ही यहाँ पर भी देशपरिच्छिन्नफलश्रुतिलिङ्ग को देखते हुए पर शब्द आपेक्षिक-परत्वविशिष्ट हिरण्यगर्भपरक लेना चाहिए । ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है ।

२. विषय—'यःपुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायति' (प्र० ५-५) यह वाक्य यहाँ पर विचारणीय है ।

३. संशय —इस श्रुति में परब्रह्म ध्येय है अथवा अपर ब्रह्म? ऐसा संशय होता है ।

४. पूर्वपक्ष—'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकमिति' (प्र० ५-५) ऐसे देशपरिच्छिन्नफल का कथन होने से अपरब्रह्म ही ध्येय मानना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—ध्यातव्यरूप से परब्रह्म का ही यहाँ पर उपदेश है, जो जीवघन से पर है, साथ ही ध्यान का कर्म अथवा भूतपदार्थ भी हो सकता है; किन्तु सम्यग्दर्शन का विषयभूत कर्म ब्रह्म ही है । पुरुष और पर शब्द से उसी ध्येय की प्रत्यभिज्ञा भी होती है, परिच्छिन्न फल तो क्रममुक्ति के अभिप्राय से कहा गया है जो विरुद्ध नहीं है ।

२३. दहराधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में परपुरुष शब्द ब्रह्म अर्थ में रूढ़ होने के कारण ब्रह्म ही उपास्य कहा गया था, वैसे ही यहाँ पर आकाश शब्द भूताकाश में रूढ़ होने के कारण उसी को उपास्य क्यों न माना जाये ? ऐसी आपेक्ष सङ्गति होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्-यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' (छा० ८-१-१) यह वाक्य यहाँ पर विचारणीय विषय है ।

तत्र 'ध्येयं वस्तु हिरण्यगर्भाख्यमपरं ब्रह्म, उत परं ब्रह्म' इति संशये सति 'अपरम्' इति तावत्प्राप्तम् । कुतः ? "स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्" (प्र० ५-५) इति कमलासनलोकप्राप्ति-फलश्रवणात् । परब्रह्मध्यानस्य परमपुरुषार्थस्य तावन्मात्रफलत्वानुपपत्तेः । "परं पुरुषम्" इति परशब्दविशेषणमपरस्मिन्नपि ब्रह्मण्युपपद्यते । तस्यापतीरापेक्षया परत्वात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—परमेव ब्रह्माभिध्येयम् । कुतः ? ईक्षितव्यस्य परस्य ध्येयत्वेन प्रत्यभिज्ञानात् । "स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्र० ५-५) इति वाक्यशेषे श्रूयते । तस्यायमर्थः—य उपासनया ब्रह्मलोकं प्राप्तः 'स एतस्मात्सर्वजीवसमष्टिरूपादुत्कृष्टाद्धिरण्यगर्भादप्युत्कृष्टं सर्वप्राणि-हृदये शयानं परमात्मानं पश्यति' इति । तत्रेक्षितव्यो यः परमात्मा, स एव वाक्योपक्रमे ध्यानविषय-त्वेनाभिप्रेत इत्यवगम्यते । परपुरुषशब्दाभ्यां तस्य प्रत्यभिज्ञानात् । न च ब्रह्मलोकप्राप्तिमात्रं फलम् । क्रममुक्तिसम्भवात् । तस्माद्ब्रह्मैव ध्येयम् ॥४॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्यस्याष्टमाध्याये श्रूयते "यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन्यदन्तः, तदन्वेष्टव्यम्, तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्"(छा० ३ १ १)इति । ब्रह्मण उपलब्धिस्थानत्वेन शरीरं ब्रह्मपुरम् । 'तत्राल्पं हृदयपुण्डरीकं वेश्म यदवतिष्ठते, तस्मिन्वेश्मन्यल्प आकाशो वर्तत इत्यर्थः ।

बाह्याकाशोपमानेन द्युभूम्यादिसमाहितेः । आत्माऽपहतपाप्मत्वात्सेतुत्वाच्च परेश्वरः ॥१०॥

(२४) प्राजापत्यविद्याधिकरणम् ॥६॥

यः प्रजापतिविद्यायां स किं जीवोऽथवेश्वर । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्युक्तेस्तद्वाञ्जीव इहोचितः ॥११॥

---

३. संशय—'दहरं पुण्डरीकं' में कहा गया दहराकाश क्या भूताकाश है, जीव है अथवा परमात्मा है? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—भूताकाश के रूढ़ होने के कारण भूताकाश ही दहरपदवाच्य मानना चाहिए, अथवा उपाधिपरिच्छिन्न होने के कारण जीव भी दहरपदवाच्य माना जा सकता है।

५. सिद्धान्त—बाह्याकाश की उपमा दहराकाश के लिए दी गयी है और द्युलोक, भूलोक का आधार भी है। अपहतपाप्मत्व एवं सेतुत्व विशेषण को भी देखते हुए दहराकाश का सुनिश्चित अर्थ परमात्मा ही है।

२४. प्राजापत्यविद्याधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में कहे गये असम्भव हेतु पर आक्षेप उठाकर इस अधिकरण में समाधान दिया गया है। अतः पिछले अधिकरण के साथ इसकी सङ्गति है।

२. विषय—'य आत्माऽपहतपाप्मा'—(छा० ८-७-१) प्रजापति का यह वाक्य ही इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—जाग्रदादि अवस्था से युक्त जीव अपहतपाप्मा कहा गया है अथवा ब्रह्म? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था वाले जीव का ही इस प्रसङ्ग में निरूपण मानना उचित होगा।

तत्राऽऽकाशस्य त्रेधा संशये सति 'वियत्' इति तावत्प्राप्तम्। आकाशशब्दस्य वियति रूढत्वात्। यद्वा दहरशब्देनाल्पत्वोक्तेः परिच्छिन्नो जीवो भविष्यति, न तु ब्रह्म।

इति प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मैवाऽऽकाशशब्दवाच्यम्। "यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" (छा० ८-३-१) इति प्रसिद्धेन वियतोपमितत्वात्। न हि वियतो वियदुपमानं सम्भवति। नाप्यल्पपरिमाणो जीवो वियत्परिमाणेनोपमातुं शक्यः। लौकिकरूढिस्तु श्रौतरूढ्या परिहृता। किंच "उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते" (छा० ८-१-३) इत्यादिना द्यावापृथिव्याद्यशेषजगदाधारत्वं दहराकाशस्य श्रूयते। "अथैष आत्माऽपहतपाप्मा" (छा० ८-१-५) इत्यात्मत्वमपहतपाप्मत्वं च। "य आत्मा स सेतुर्विधृतिः" (छा० ८-४-१) इति जगन्मर्यादानामसांकर्याय विधारकत्वलक्षणसेतुत्वं च। तस्मादेतेभ्यो हेतुभ्यः परमात्मा ॥५॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

दहरविद्याया उपरि प्रजापतिविद्यायामिन्द्रविरोचनप्रजापतिसंवादे श्रूयते—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाच' इति। तत्र—'जीवात्मा' इति प्राप्तम्। कुतः? अवस्थात्रयोपन्यासात्। "अक्षिणि पुरुषः" इति जागरणोपन्यासः।

"य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति" (छा० १० १०-१) इति स्वप्नोपन्यासः। "सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति,' इति सुषुप्त्युपन्यासः। एवमवस्थात्रय उपन्यस्ते सत्यवस्थावाञ्जीवो ग्रहीतुमुचित ईश्वरस्यावस्थाराहित्यात्।

आत्माऽपहतपाप्मेति प्रक्रम्यान्ते स उत्तमः। पुमानित्युक्त ईशोऽत्र जाग्रदाद्यवबुद्धये ॥१२॥

(२५) अनुकृत्यधिकरणम् ॥७॥

न तत्र सूर्यो भातीति तेजोन्तरमुतात्र चित् । तेजोभिभावकत्वेन तेजोन्तरमिदं महत् ॥१३॥

---

५. सिद्धान्त — 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इस प्रसंग के अन्त में 'स उत्तमः पुरुषः' ऐसा कहा गया है, अतः ईश्वर इस प्रसंग का प्रतिपाद्यतत्त्व निश्चित होता है, जो जीव का निष्कृष्ट स्वरूप है, उसी स्वरूप के बोध के लिए जीव की जाग्रदादि अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

२५ अनुकृत्यधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य' (परम ज्योति को प्राप्तकर) इस वाक्य-शेष से दहराकाश का अर्थ ब्रह्म किया गया था। तब ज्योति का प्रसंग होने से अब 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (मु० २-२-१०) यह वाक्य विचारणीय हो जाता है। इस प्रसंग संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' यह वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—सूर्यादि सम्पूर्ण जगत के प्रकाशकरूप से प्रतीत होने वाला तेज कोई धातुविशेष है अथवा परमात्मा? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—प्रबल तेज से दुर्बल तेज का अभिभव देखा गया है, अतः कोई धातुविशेष ही तेज शब्द से कहा गया है।

५. सिद्धान्त—सूर्यादि जगत् के अवभासकरूप से जाना गया तेज ब्रह्म ही है, क्योंकि उसी का अनुकरण अन्य सभी तेज कर रहे हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त सूर्य के समान अन्य कोई तेज प्रसिद्ध नहीं है जो सूर्यादि का भी प्रकाशक माना जा सके। अतः चेतन आत्मा ही सूर्यादि का अवभासक है जो सूर्यादि से प्रकाशित नहीं होता है, किन्तु उसी ब्रह्मतेज से सूर्यादि तेज का प्रकाश होता है, ऐसा 'तस्य

इति प्राप्ते ब्रूमः - ईश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः। कुतः? "य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः" (छा० ८-७-१) इति परमात्मानमुपक्रम्य "स उत्तमः पुरुषः" (छा० ८-१२-३) इत्यनेन परमात्मन एवोपसंहारात्। न चैवं सति जागरणाद्युपन्यासवैयर्थ्यम्, शाखाचन्द्रन्यायेन परमात्मबोधोपयुक्तत्वात्। तस्मादीश्वरोऽक्षिपुरुषः ॥६॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

मुण्डकोपनिषदि श्रूयते—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मु० २-२-१०) इति।

अयमर्थः—'तत्र पूर्वप्रकृते ज्योतिषां ज्योतिषि चन्द्रसूर्यादयो न भान्ति, किन्तु तमेव ज्योतिषां भासकं पुरतो भासमानं पदार्थमनु सर्वं जगद्भाति। भासनदशायां न स्वतन्त्रेण भानेन जगद्भाति। किं तर्हि? तस्य भासकपदार्थस्य भासा सर्वमिदं विभाति इति अस्मिन्वाक्ये श्रूयमाणं जगद्भासकं किं सूर्यादिसदृशं चाक्षुषं तेजोन्तरम्, उत चैतन्यम्' इति संशये 'तेजोन्तरम्' इति प्राप्तम्। कुतः? सूर्यादितेजोभिभावकत्वात्। महतस्तेजसः संनिधौ स्वल्पं तेजोऽभिभूयते। यथा सूर्यसंनिधौ दीपः। तथा च सूर्यादीनां यदभिभावकं, तत्सूर्यादिभ्योऽप्यधिकं तेजोन्तरमेव।

इति प्राप्ते उच्यते—सूर्यादिभिरभास्यतया श्रूयमाणं वस्तु चैतन्यम्। कुतः? सूर्याद्यभिभावकस्य महतस्तेजोन्तरस्याप्रसिद्धत्वात्। किंच "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" इति सर्वस्मात्पुरोभासमानत्वं

चित्स्यात्सूर्याद्यभास्यत्वात्तद्धक्तेजोप्रसिद्धितः । सर्वास्मात्पुरतो भानात्तद्भासा चान्यभासनात् ॥१४॥

(२६) प्रमिताधिकरणम् ॥८॥

अङ्गुष्ठमात्रो जीवः स्यादीशो वाऽल्पप्रमाणतः । देहमध्ये स्थितेश्चैव जीवो भवितुमर्हति ॥१५॥

भूतभव्येशता जीवे नास्त्यतोऽसाविहेश्वरः । स्थितिप्रमाणे ईशेऽपि स्तो हृद्यस्योपलब्धितः ॥१६॥

(२७) देवताधिकरणम् ॥९॥

नाधिक्रियन्ते विद्यायां देवाः किंवाऽधिकारिणः । विदेहत्वेन सामर्थ्यहानेर्नैषामधिक्रिया ॥१७॥

भासा सर्वमिद विभाति' (क० २-२-१५) इस श्रुति और 'यदादित्यगत तेजो जगद्भासयते ऽखिलम्' (गी० १५-१२) इस स्मृतिवाक्य से सभी सूर्यादि तेज का अवभासक ब्रह्मचैतन्य ही सिद्ध होता है।

२६. प्रमिताधिकरण

१. संगति—पूर्व अधिकरण के निर्णीत विषय को दृष्टान्त मानकर इस अधिकरण का उत्थापन हुआ है, इसलिए पूव के साथ इसकी दृष्टान्त सगति है ।

२. विषय—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति', 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥' (क० २-४-१२,१३) इत्यादि वाक्य इसका विचारणीय विषय है ।

३. संशय—क्या अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जीव है अथवा ईश्वर है ? ऐसा संशय होता है ।

४. पूर्वपक्ष—अल्प प्रमाण एवं शरीर के मध्य स्थिति को देखते हुए अङ्गुष्ठमात्र पुरुष को जीव ही मानना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—भूत, भविष्यत् एव वर्तमान का शासक जीव नहीं हो सकता, किन्तु ईश्वर ही हो सकता है। शरीरमध्यवर्ती हृदय में ईश्वर की भी उपलब्धि होती है, अतः उपलब्धि को दृष्टि से ईश्वर को भी अल्पपरिमाण और शरीर के मध्य में स्थित माना जा सकता है।

२७ देवताधिकरण

१. संगति—पूर्व अधिकरण में ब्रह्मविद्या में मनुष्य का अधिकार बतलाया गया; तब तो मनुष्य से भिन्न देवादि का उसमें अधिकार नहीं माना जा सकता, ऐसा आक्षेप उठाकर समाधान देने के लिए

चैतन्यधर्मः । तथा "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति प्रकाशाप्रकाशस्वरूपसर्वजगद्भासकत्वं चैतन्यधर्म एव । तस्माच्चैतन्य वाक्यप्रतिपाद्यम् ॥७॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

कठवल्लीषु चतुर्थवल्ल्यामाम्नायते—

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते" (क० २ ४- १२) इति ।

तत्राङ्गुष्ठमात्रो जीवः । कुतः ? । "अङ्गुष्ठमात्रः" इत्यल्पप्रमाणत्वात् । "मध्य आत्मनि तिष्ठति" इति देहमध्यदेशावस्थानाच्च ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—परमात्माऽङ्गुष्ठमात्रः । कुतः ? "ईशानो भूतभव्यस्य" इत्यतीतानागतजगदीशितृत्वश्रवणात् । नचेशितृत्वं जीवेऽस्ति । जीवस्येशितव्यत्वात् । अल्पप्रमाणत्वं देहमध्येऽवस्थानं चेश्वरस्यापि संभवतः । हृदयपुण्डरीके ब्रह्मण उपलम्भात्तदपेक्षया तदुभयसंकीर्तनात् । तस्मादङ्गुष्ठमात्रः परमेश्वरः ॥८॥

नवमाधिकरणमारचयति—

बृहदारण्यके तृतीयाध्याये श्रूयते—"तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्, तथर्षीणाम्"

अविरुद्धाज्ञातवादिमन्त्रादेर्देहसत्त्वतः । अर्थित्वादेश्च सौलभ्याद्देवाद्या अधिकारिणः ॥१८॥

(२८) अपशूद्राधिकरणम् ॥१०॥

शूद्रोऽधिक्रियते वेदविद्यायामथवा नहि । अत्रैवर्णिकदेवाद्या इव शूद्रोऽधिकारवान् ॥१९॥

अथवा अधिकार प्रसंग से देवताओं का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार बतलाने के लिए इस अधिकरण का प्रारम्भ होता है। इसलिए इस अधिकरण की आक्षेप संगति अथवा प्रसंग संगति कही जाती है।

२. विषय—'इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज' (छा० ८-७-२) 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' (बृ० १-४-१०) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण के विचारणीय विषय हैं।

३. संशय—क्या देवादि का ब्रह्मविद्या में अधिकार है, अथवा नहीं ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—शरीरधारी न होने के कारण देवता शक्तिहीन हैं, अतः उनका ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।

५. सिद्धान्त—अविरुद्ध अथवाद आदि मन्त्रों से देवता भी शरीरधारी सिद्ध होते हैं। कारण-सहित दुखों से छूटकर परमानन्द प्राप्ति की इच्छा देवादियों में भी सुलभ है। अतः शरीर एवं सामर्थ्य की सिद्धि हो जाने पर देवादि भी ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं।

२८. अपशूद्राधिकरण

१. संगति—श्रुति में देवादि सुने जाने से जैसे ब्रह्मविद्या में उनका अधिकार कहा गया, वैसे ही श्रुति में शूद्र शब्द का श्रवण होने से शूद्र का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है, ऐसे पूर्व अधिकरण

(बृ० १-४-१०) इति। 'देवानां मध्ये यो ब्रह्म बुबुधे' स एव ब्रह्माभवत्' इत्यर्थः। तत्र देवर्षयो विद्यायां नाधिक्रियन्त इति प्राप्तम्। कुतः ? 'अर्थी समर्थो विद्वाञ्शास्त्रेणापर्युदस्तोऽधिक्रियते' इत्युक्तानाम-धिकारहेतूशरीरेषु देवेष्वसंभवात्। न च मन्त्रार्थवादादिभ्यो देवानां विग्रहवत्त्वम्। विध्येक-वाक्यतापन्नानां मन्त्रादीनां स्वार्थे तात्पर्याभावात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—त्रिविधो ह्यर्थवादः—गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति। तथा चाऽऽह—
"विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः" इति।
"आदित्यो यूपः" "यजमानः प्रस्तरः" इत्यादिषु प्रत्यक्षविरोधे सत्यादित्यादिवद्यागनिर्वाहकत्वगुण आदित्यादिशब्दैरुपलक्ष्यत इति गुणवादः। "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादिषु मानान्तरसिद्धार्थानुवादित्वादनुवादत्वम्। तयोरुभयोः स्वार्थे तात्पर्यं मा भूत्। "इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्" इत्यादिष्वविरुद्धेष्वननुवादेषु च भूतार्थवादेषु स्वतःप्रामाण्यवादे स्वार्थे तात्पर्यस्य निवारयितुमशक्यत्वात्पदैकवाक्यतया स्वार्थेऽवान्तरतात्पर्यं प्रतिपाद्य पश्चाद्वाक्यैकवाक्यतया विधिषु महातात्पर्यं भूतार्थवादाः प्रतिपद्यन्ते। मन्त्रेष्वप्ययं न्यायो योज्यः। तथा च मन्त्रार्थवादादिबलाद्देवा-दीनां विग्रहवत्त्वे सति श्रवणादिषु सामर्थ्यं सुलभम्। अर्थित्वं चैश्वर्यस्य क्षयित्वसातिशयत्वदर्शनान्मोक्ष-साधनब्रह्मविद्याविषयमुपपद्यते। विद्वत्ता चोपनयनाध्ययनरहितानामपि स्वयंभातवेदत्वात्सुलभैव। तस्माद्देवानां विद्याधिकारो न निवारयितुं शक्यः। यद्यप्यादित्यादिदेवतानामादित्यादिध्यानमिश्रासु सगुणब्रह्मविद्यासु ध्येयानामन्येषामादित्यादीनामसंभवात्, आदित्यत्वादिप्राप्तिलक्षणस्य विद्याफलस्य सिद्धत्वाच्च माऽस्त्वधिकारः, तथाऽपि निर्गुणविद्यायामधिकारे को दोषः। तस्मादस्त्येवा-धिकारः ॥९॥

दशमाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्यस्य चतुर्थाध्याये संवर्गविद्यायामाम्नायते "आजहारेमाः शूद्र, अनेनैव मुखेनाऽऽलाप-

(२९) कम्पनाधिकरणम् ॥११॥

जगत्कम्पनकृत्प्राणोऽशनिर्वायुरुतेश्वरः । अशनिर्भयहेतुत्वाद्वायुर्वा देहचालनात् ॥२१॥

निर्णीत विषय को दृष्टान्त बनाकर इसका उत्त्थापन हुआ है। इसलिए पूर्व के साथ इसकी दृष्टान्त संगति है।

२. विषय—'अहहारे त्वा शूद्र ? तवैव सह गोभिरस्तु' (छा० ४-२-३) यह वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या वेदविद्या में शूद्र का अधिकार है, या नहीं ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—त्रवर्णिक से भिन्न होने पर भी जैसे देवादि ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं वैसे ही शूद्र भी अधिकारी माना जायेगा।

५. सिद्धान्त—देवादियों को वेद का ज्ञान जन्मसिद्ध होता है और विद्या का फल भी उन्हें अभीष्ट है, अतः वे वेदविद्या में अधिकारी माने जाते हैं; किन्तु वेदाध्ययन शूद्रों के लिए निषिद्ध होने के कारण विद्याफलाकांक्षा उनमें रहने पर भी वेदोक्त ज्ञान में उनका अधिकार नहीं। श्रुति एवं स्मृति में उनके वेदाध्ययन का निषेध भी किया गया है।

२९. कम्पनाधिकरण

१. संगति—पिछले प्रमिताधिकरण में जैसे ब्रह्मज्ञान के लिए जीव का अनुवाद कहा गया है वैसा यहाँ पर 'यदिद किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' (क० २-६-२) इस कठ श्रुतिवाक्य में प्राणानुवाद मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वह कल्पित है, इसीलिए उसका स्वरूपतः ब्रह्म के साथ अभेद नहीं हो सकता; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति इसकी है।

यिष्यथाः" (छा० ४-२-३) इति। जातश्रुतिर्नाम कश्चिच्छिष्यो गोसहस्रं दुहितरं मुक्ताहारं रथं कश्चिद ग्रामांश्चोपायनत्वेनाऽऽनीय रैक्वनामानं गुरुमुपससाद। तत्र रैक्ववचनमेतत्—'हे शूद्र जानश्रुते, इमा गोसहस्राद्या आहृतवानसि, अनेनैव दुहित्राद्युपायनमुखेन मच्चित्तं प्रसाद्योपदेशयिष्यसि' इति। तत्र 'शूद्रोऽपि वेदविद्यायामधिकारवान्' इति प्राप्तम्। अत्रैवर्णिकदेवदृष्टान्ताच्छूद्रस्याप्यत्रैवर्णिकस्य तत्संभवात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अस्ति देवशूद्रयोर्वैषम्यम्। उपनयनाध्ययनाभावेऽपि स्वयंभातवेदाः देवाः। तादृशस्य सुकृतस्य पूर्वमुपार्जितत्वात्। शूद्रस्तु तादृशसुकृतराहित्यान्न स्वयंभातवेदः। नापि तस्य वेदाध्ययनमस्ति उपनयनाभावात्। अतो विद्वत्ताख्यस्याधिकारहेतोरभावान्न श्रौतविद्यायां शूद्रोऽधिकारी। कथं तर्हि—उदाहृते वाक्ये जानश्रुतिविषयः शूद्रशब्दः ? यौगिकोऽयं न रूढ इति ब्रूमः। 'विद्याराहित्यजनितया शुचा गुरुं दुद्राव' इति शूद्रः। न च रूढचा योगापहारः। रूढेरत्रासंभवात्। अस्मिन्नुपाख्याने क्षत्तृप्रेरणाद्यैश्वर्योपन्यासेन जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगमात्। ननु 'शूद्रस्य वेदविद्यायामनधिकारे सति मुमुक्षायां सत्यामपि मुक्तिर्न सिध्येत्' इति चेत्। न। स्मृतिपुराणादिमुखेन ब्रह्मविद्योदये सति मुक्तिसिद्धेः। तस्मान्न शूद्रो वेदविद्यायामधिक्रियते ॥१०॥

एकादशाधिकरणमारचयति—

कठवल्लीषु षष्ठवल्ल्यामाम्नायते—

"यदिदं किच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" इति।

वेदनादमृतत्वोक्तेरीशोऽन्तर्यामिरूपतः । भयहेतुश्चालनं तु सर्वशक्तियुतत्वतः ॥२२॥

(३०) ज्योतिरधिकरणम् ॥१२॥

परं ज्योतिस्तु सूर्यस्य मण्डलं ब्रह्म वा भवेत् । समुत्थायोपसंपद्येत्युक्त्या स्याद्रविमण्डलम् ॥२३॥

---

२. विषय—'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजतिनिःसृतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—जगत् को कँपानेवाला क्या प्राणपदवाच्य वायु है, विद्युत है, अथवा ईश्वर है? ऐसा संशय होता।

४. पूर्वपक्ष—भय का कारण होने से विद्युत अथवा देह का चालक होने से वायु प्राणपदवाच्य माना जा सकता है।

५. सिद्धान्त—जिसके ज्ञान से अमरत्व की प्राप्ति कही जाती है, जो अन्तर्यामीरूप से सबका नियामक होने के कारण भय का हेतु है और सर्वशक्ति से युक्त होने के कारण सबका प्रेरक है; ऐसा ईश्वर ही प्राण शब्द का सुनिश्चित अर्थ है, विद्युत या वायुविकार नहीं।

३०. ज्योतिरधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में सर्व शब्द श्रुति का संकोच असंगत होने के कारण प्रकरण को देखते हुए जसे प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म किया था, वैसा सम्प्रसादवाक्य में प्रकरणानुग्राहक कोई प्रमाण नहीं है जिससे ज्योतिःशब्दवाच्य ब्रह्म को माना जाय ऐसी प्रत्युदाहरण संगति यहाँ पर मानी गयी है।

२. विषय—'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते' (छा० ८-१२-३) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या इस वाक्य में ज्योतिःशब्दवाच्य आदित्यादि तेज है, अथवा परब्रह्म है? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—रूढ़ होने के कारण आदित्यादि तेज को ही ज्योतिःशब्दवाच्य मानना चाहिए साथ ही 'समुत्थायोपसम्पद्य' ऐसी युक्ति होने से सूर्यमण्डल ही ज्योति शब्द का अर्थ है।

अयमर्थः—'निःसृतमुत्पन्नं यदिदं जगत्सर्वं प्राणे निमित्तभूते सति कम्पते। तच्च प्राणशब्दवाच्यं वस्तूद्यतं वज्रमिव महाभयहेतुः। एतत्प्राणशब्दवाच्यं ये विदुः, ते मरणरहिता भवन्ति' इति। तत्र जगत्कम्पनकारिणि प्राणे त्रेधा संदिग्धे सति 'अशनिः' इति तावत्प्राप्तम्। कुतः? "महद्भयम्" इति भयहेतुत्वश्रवणात्। वायुर्वा भविष्यति। "प्राण एजति" इति प्राणशब्दवाच्यस्य देहादिचालनकर्तृत्वावगमात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—ईश्वरः प्राणशब्दवाच्यो भवितुमर्हति, "य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" इति तद्वेदनादमृतत्वोक्तेः। भयहेतुताऽप्यन्तर्यामिरूपेणेश्वरस्य भविष्यति। 'भीषाऽस्माद्वातः पवते" इति श्रुत्यन्तरात्। देहादिकम्पनत्वं च सर्वशक्तित्वादीश्वरस्योपपद्यते। तस्मात्—ईश्वरः प्राणशब्दवाच्यः ॥११॥

द्वादशाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्येऽष्टमाध्याये प्रजापतिविद्यायामाम्नायते—"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः" (छा० ८-१२-३) इति। अस्यायमर्थः—'सम्यक्प्रसीदत्यस्यामवस्थायाम्' इति सम्प्रसादः सुषुप्तिः। तस्यामवस्थायां तद्वाञ्जीव उपलक्ष्यते। 'एष जीवोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय' इति। शेषं सुगमम्। तत्र ज्योतिःशब्दवाच्ये द्वेधा संदिग्धे सति

समुत्थानं त्वंपदार्थशुद्धिर्वाक्यार्थबोधनम् । सम्पत्तिरुत्तमत्वोक्तेर्ब्रह्म स्यादस्य साक्षतिः ॥२४॥

(३१) अर्थान्तरव्यपदेशाधिकरणम् ॥१३॥

वियद्वा ब्रह्म वाऽऽकाशो वै नामेति श्रुतं, वियत् । अवकाशप्रदानेन सर्वनिर्वाहकत्वतः ॥२५॥

---

५. सिद्धान्त––त्वम् पदार्थ की शुद्धि समुत्थान पद का अर्थ है और वाक्यार्थबोध सम्पत्ति पद का अर्थ है। अतः यहाँ पर ज्योति पद का सुनिश्चित अर्थ ब्रह्म है क्योंकि वही उत्तम पुरुष है और वही नेत्र का साक्षी भी है।

३१. अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरण

१. संगति—पूर्व अधिकरण में उपक्रमानि को देखते हुए अर्थान्तर में प्रसिद्ध ज्योतिः शब्द का भी ब्रह्म अर्थ किया गया था, वैसे ही आकाश उपक्रमादि को देखते हुए ब्रह्मादि शब्द भी स्वार्थ से भिन्नापरक माना जायेगा, ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण इस अधिकरण का उत्थापन हुआ है।

२: विषय—'आकाशो वैनाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० ८-१४-१) यह वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या यहाँ पर आकाश शब्द का अर्थ भूताकाश है, अथवा परब्रह्म है ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष––अवकाश देकर सम्पूर्ण जगत् का निर्वाहक होने से भूताकाश ही आकाश पद का अर्थ मानना चाहिए।

'रविमण्डलम्' इति तावत्प्राप्तम् । कुतः? "शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य" इति 'देहान्निर्गत्य ज्योतिः प्राप्नोति' इत्युच्यमानत्वात् । ब्रह्मप्राप्तौ निर्गमाभावात्प्राप्तृप्राप्तव्यभेदानुपपत्तेश्च ।

इति प्राप्ते ब्रूमः––ज्योतिःशब्दाच्यं ब्रह्म स्यात् । कुतः? "स उत्तमः पुरुषः" इत्युत्तमपुरुषकीर्तनाद्रविमण्डलस्य तदयोगात् । "यो वेद—इदं जिघ्राणि—इति, स आत्मा । यो वेद—इदं शृण्वानि–इति, स आत्मा" (छा० ८ १२-४) इत्यादिना घ्रातृ–घ्राण—घ्रेय–श्रोतृ–श्रवण–श्रोतव्यादिसाक्षित्वमात्मानः श्रूयते । तदेकवाक्यतया ज्योतिःशब्दवाच्यं ब्रह्म । यदुक्तम् 'शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपं सम्पद्य' इत्येतद्द्वय ब्रह्मपक्षे न सम्भवति–इति । तदसत् । न ह्यत्र समुत्थानं निर्गमनम् । किं तर्हि? त्वंपादार्थस्य जीवस्य शरीरत्रयाद्विवेकः । नाप्युपसम्पत्तिः प्राप्तिः । किं तर्हि ? यस्य शोधितत्वंपदार्थस्य ब्रह्मत्वेनावबोधनम् । तस्मात्––ज्योतिर्ब्रह्म ॥१२॥

त्रयोदशाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्यस्याष्टमाध्यायस्यान्ते श्रूयते—"आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता, ते यदन्तरा तद्ब्रह्म, तदमृतम्, स आत्मा" । (छा० ८-१४-१) इति । अस्यायमर्थः—'आकाशाख्यः कश्चित्पदार्थः । स च जगद्रूपयोर्नामरूपयोर्निर्वहिता निर्वाहकः। ते च नामरूपे यस्मादाकाशाद्भिन्ने। अथवा—यस्याऽऽकाशस्यान्तराले वर्तेते । तदाकाशं मरणरहितं ब्रह्म, तदेव प्रत्यगात्मा' इति । तत्र "आकाशो वै नाम" इति यच्छ्रुतं, तद्वियत्स्यात् । "नामरूपयोर्निर्वहिता" इत्युक्तस्य निर्वाहकत्वस्यावकाशप्रदातरि वियति सम्भवात् ।

निर्वोढृत्वं नियन्तृत्वं चैतन्यस्यैव तत्त्वतः। ब्रह्म स्याद्वाक्यशेषे च ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दतः ॥२६॥

(३२) सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम् ॥१४॥

स्याद्विज्ञानमयो जीवो ब्रह्म वा जीव इष्यते। आदिमध्यावसानेषु संसारप्रतिपादनात् ॥२७॥

---

५. सिद्धान्त—निर्वाहकत्व और नियामकत्व चैतन्य में ही हो सकते हैं, साथ ही वाक्यशेष में 'ब्रह्मात्मा' ऐसा शब्द भी मिलता है। इन सभी कारणों से यहाँ पर आकाश शब्द का सुनिश्चित अर्थ ब्रह्म ही होगा।

३२. सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में नामरूप से भिन्नत्व का कथन होने से आकाश शब्द भूताकाश नहीं माना था, किन्तु प्राज्ञ आत्मा के साथ जीव का सम्परिष्वक्त होना कहा गया है जिससे अभिन्न होने पर भी औपचारिक भेद माना जा सकता है; ऐसा आक्षेप उठाकर इस अधिकरण में समाधान दिया गया है। अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप संगति है।

२. विषय—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४-३-७) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या यह वाक्य जीवानुवादपरक है अथवा जीवानुवाद कर संसारधर्मातीत ब्रह्म-स्वरूप का प्रतिपादक है? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—उपक्रम-उपसंहार को देखते हुए संसारी-जीव अर्थ का बोधक ही विज्ञानमय शब्द माना जा सकता है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अत्र निर्वाहकत्वं नाम नावकाशप्रदानमात्रम्। किंतु नियामकत्वम्। सर्व-प्रकारनिर्वाहकत्वस्य नियन्तृत्वान्तर्भावात्। तच्च नियन्तृत्वं चेतनस्य ब्रह्मणो युज्यते। श्रुत्यन्तरे च श्रूयते—"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति। न हि वियतोऽचेतनस्य नियम्यविशेषानजानतो नियन्तृत्वं संभवति। तत आकाशं ब्रह्म स्यात्। किंच वाक्यशेषे "तद्ब्रह्म, तदमृतं, स आत्मा" इति ब्रह्मत्वामृतत्वात्मत्वानि श्रूयन्ते। ततोऽपि ब्रह्मैवाऽऽकाशम् ॥१३॥

चतुर्दशाधिकरणमारचयति—

बृहदारण्यके षष्ठाध्याये श्रूयते—"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति" इति। अस्यायमर्थः—विज्ञानमयो लिङ्गशरीरमय। तेन स्थूलदेहव्यतिरेकः सिद्धः। प्राणेषु चक्षुरादीन्द्रियेषु, प्राणादिवायुषु च, हृद्यन्तःकरणं सप्तमीविभक्त्याधारत्वनिर्देशादा-धेयस्य पुरुषस्येन्द्रियवायुमनोतिरिक्तत्वं सिद्धम्। अन्तःशब्देन धीवृत्तिभ्यः कामसंकल्पादिभ्यो व्यति-रेकः सिद्धः। बुद्धिपरिणामरूपाणां तासां वृत्तीनां बहिर्भावात्। एवं च सति स्थूलदेहेन्द्रियेभ्यः प्राणवायुभ्योऽन्तःकरणात्तद्वृत्तिभ्यश्च व्यतिरिक्तः, तेषां साक्षित्वेन चिज्ज्योतिःस्वरूपः पुरुषः इत्युक्तं भवति। स च पुरुषो लिङ्गशरीरतादात्म्याध्यासेन लिङ्गशरीरेण समानः सन्निहलोकपरलोका-वनुसंचरति, इति। तत्र विज्ञानमयो जीवो भवितुमर्हति। ज्योतिर्ब्राह्मणशारीरब्राह्मणयोरादिमध्याव-सानेषु संसारस्यैव प्रपञ्च्यमानत्वात्। आदौ तावत् 'उभौ लोकावनुसंचरति" इति संसारोक्तः स्पष्टा। मध्ये च संप्रसादस्वप्नान्तबुद्धान्तकण्डिकाभिरवस्थात्रयं प्रपञ्च्यते। अन्तेऽपि "स वा अय-मात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयः" इत्यादिना सोपाधिकस्वरूपवर्णनेन संसार एवोच्यते। तस्मात्—जीवः।

विविच्य लोकसंसिद्धं जीवं प्राणाद्युपाधितः । ब्रह्मत्वमन्यतोऽप्राप्तं बोध्यते ब्रह्म नेतरत् ॥२८॥

॥ इति प्रथमाध्याय—तृतीय पादः ॥

(आदित श्लोक संख्या—८०)

॥ अथ चतुर्थः पादः ॥

(३३) आनुमानिकाधिकरणम् ॥१॥

महतः परमव्यक्तं प्रधानमथवा वपु । प्रधान सांख्यशास्त्रोक्ततत्त्वानां प्रत्यभिज्ञया ॥१॥

---

५. सिद्धान्त—प्राणादि उपाधिवाला जीवात्मा जो लोकतः सिद्ध है, उससे पृथक् कर ब्रह्म का प्रतिपादन इस श्रुति में किया गया है। जो किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं है ऐसा ब्रह्म ही विज्ञानमय पद का सुनिश्चित अर्थ है, अन्य नहीं।

प्रथमाध्याय—चतुर्थ पाद

अव्यक्त, अजा इत्यादि पद प्रधान अर्थ के वाचक भी हो सकते हैं, ऐसे संदिग्ध पदों का विचार इस चतुर्थ पाद में किया गया है। पहले 'ईक्षत्यधिकरण' (वै० १-१-५) में गतिसामान्य ओर अशब्दत्व की जो प्रतिज्ञा की गयी थी उनमें से ब्रह्म में वेदान्त के गतिसामान्य का निरूपण अब तक के तीन पादों द्वारा किया गया, अब प्रधान के अशब्दत्व का आक्षेपकर समाधान देने के लिए यह चतुर्थ पाद प्रारम्भ किया जा रहा है। अतः पूर्वग्रन्थ के साथ इस चतुर्थ पाद की आक्षेप संगति है।

३३. आनुमानिकाधिकरण

१. संगति—पूर्व अधिकरण में प्रसिद्ध जीववाचक शब्द का अप्रसिद्ध ब्रह्म अर्थ किया गया था, ऐसे ही श्रुति में अप्रसिद्ध प्रधान को ही 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' (क० १-३-११) इत्यादि से कठवाक्य बतलायेगा; अतः पूर्व के साथ इसकी दृष्टान्त संगति है।

२. विषय—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष परः' यह कठवाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—'अव्यक्त' पद से क्या प्रधान बतलाया गया है, अथवा शरीर ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—सांख्यस्मृति में महत्, अव्यक्त और पुरुष ऐसा जो नाम एवं क्रम प्रसिद्ध है उन्हीं की प्रत्यभिज्ञा यहाँ कठ श्रुति में होती है। अतः अव्यक्त पद का अर्थ प्रधान ही मानना चाहिए।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावज्जीवोऽत्र प्रतिपाद्यः । लौकिकादहंप्रत्ययादेव सिद्धत्वात् । किमर्थं तर्हि जीवाद्यभिधानमिति चेत् प्राणाद्युपाधिभ्यो विवेक्तुमादावभिधानम् । मध्येऽप्यवस्थात्रयसङ्गराहित्यं दर्शयितुमभिधीयते । अन्ते तूक्तजीवस्वरूपमनूद्य तस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते । ब्रह्मत्वस्य मानान्तरेणाप्राप्तत्वात् । तस्मात्—ब्रह्मात्र प्रतिपाद्यम्, न तु जीव इति सिद्धम् ॥१४॥

—***—

चतुर्थपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—
कठवल्लीषु तृतीयवल्ल्यामाम्नायते—
"महत. परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः" (क० १ ३-११) इति ।

अत्र—अव्यक्तशब्देन सांख्याभिमतं प्रधानमभिधीयते । कुतः ? प्रत्यभिज्ञानात् । महदव्यक्तपुरुषाः सांख्यशास्त्रे परापरभावेन यथा प्रसिद्धाः, तथैव श्रुतौ प्रत्यभिज्ञायन्ते । तस्मात्—अव्यक्तशब्दवाच्यं प्रधानम् ।

श्रुतार्थप्रत्यभिज्ञानात्परिशेषाच्च तद्वपुः । सूक्ष्मत्वात्कारणावस्थमव्यक्ताख्यां तदर्हति ॥२॥

(३४) चमसाधिकरणम् ॥२॥

अजेह सांख्यप्रकृतिस्तेजोबन्नात्मिकाऽथवा । रजआदौ लोहितादिलक्ष्येऽसौ सांख्यशास्त्रगा ॥३॥

---

५. सिद्धान्त—इससे पूर्व जो-जो अर्थ सुने गये हैं उन सब को अपने-अपने नाम से कथन होने के कारण प्रत्यभिज्ञा होती है, पर जिसे पहले शरीर शब्द से कहा गया था उसी को परिशेषतः अव्यक्त पद से कहा जायेगा। यद्यपि स्थूलशरीर अव्यक्तपदवाच्य नहीं हो सकता, किन्तु इसका आरम्भक भूत सूक्ष्म होने के कारण उस कारणावस्था को अव्यक्त कहा गया है। जिस प्रकार अन्यत्र 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० ९-४६-४) इत्यादि वेदवाक्य में गोविकार दध्यादि को गो शब्द से कहा गया है, ऐसे ही सूक्ष्म भूत के कार्य को अव्यक्त पद से कहना कोई विरुद्ध नहीं है।

३४. चमसाधिकरण

१ संगति—पिछले अधिकरण में अव्यक्त शब्द मात्र होने के कारण प्रधान की प्रत्यभिज्ञा न भी मानी जाय, किन्तु यहाँ पर श्वेताश्वतर श्रुति में त्रिगुणत्वादि लिङ्ग से युक्त अजा शब्द से प्रधान की प्रत्यभिज्ञा मानी जा सकती है, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' (श्वे० ४-५) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अव्यक्तशब्दवाच्यं वपुर्भवितुमर्हति। पूर्ववाक्योक्तशरीरस्यात्र प्रत्यभिज्ञानात्। पूर्वस्मिन्वाक्ये शरीरादीनि रथादित्वेनोक्तानि—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् (क० १-३ ३/४) इति।

तानि पूर्ववाक्योक्तानि वस्तून्युत्तरस्मिन्वाक्ये प्रत्यभिज्ञायन्ते। इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः"(क. १-३-१०-११)इति।

स्मार्तप्रत्यभिज्ञानादपि श्रौतं प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यासन्नत्वात्प्रबलम्। नन्वेवमपि बहूनां प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्छरीरमेवाव्यक्तशब्दवाच्यम्, इति कुतो विनिगमः? 'परिशेषात्' इति ब्रूमः। तथा हि—पूर्वस्मिन्वाक्य इन्द्रियार्थमनोबुद्धिशब्दैर्निर्दिष्टाः पदार्था, उत्तरस्मिन्वाक्ये तैरेव शब्दैर्निर्दिश्यन्ते। पूर्वत्राऽऽत्मशब्देन निर्दिष्टं वस्तूत्तरत्र पुरुषशब्देनोपदिष्टम्। उत्तरवाक्ये महच्छब्देन यदुक्तम्, तत्पूर्ववाक्ये बुद्धिशब्देन संगृहीतम्। बुद्धिर्हि द्विधा—अस्मदादीनां बुद्धिरेका, तत्कारणभूता हिरण्यगर्भबुद्धिरपरा महच्छब्दवाच्या। तयोः पूर्वत्रैकत्वेन निर्दिष्टयोरुत्तरत्र भेदेन निर्देशः। एवं सति पूर्ववाक्ये शरीरमेकं परिशिष्टम्। उत्तरवाक्ये चाव्यक्तशब्दः परिशिष्यते। न च—एवं परिशेषेऽपि शरीरस्य स्पष्टत्वादव्यक्तशब्दवाच्यत्वमनुपपन्नमिति शङ्कनीयम्। कारणावस्थापन्नस्य शरीरस्य सूक्ष्मत्वेनास्पष्टतयाऽव्यक्तशब्दार्हत्वात्। तस्मादव्यक्तशब्दवाच्यं वपुः ॥१॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

श्वेताश्वतरोपनिषदि चतुर्थाध्याये श्रूयते—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (श्वे० ४-५) इति। अत्र—अजाशब्देन सांख्यशास्त्रोक्ता प्रधानशब्दवाच्या प्रकृतिर्विवक्षिता, अथवा छान्दोग्यश्रुतावुक्ता

लोहितादिप्रत्यभिज्ञा तेजोबन्नाविलक्षणाम् । प्रकृतिं गमयेत्कॢप्तीमजाक्लृप्तिर्मधुत्ववत् ॥४॥

(३५) संक्षेपोपसंग्रहाधिकरणम् ॥३॥

पञ्च पञ्चजना. सांख्यतत्त्वान्याहो श्रुतीरिताः । प्राणाद्याः सांख्यतत्त्वानि पञ्चविंशतिभासनात् ॥५॥

---

३. संशय—क्या 'अजा' शब्द प्रधान अर्थ का वाचक है; अथवा अग्नि, जल एवं पृथ्वीरूप अवान्तर प्रकृति का वाचक है ?

४. पूर्वपक्ष—लोहितादि शब्द के लक्ष्यार्थ रजोगुण आदि होते हैं, उन्हीं को सांख्यशास्त्रप्रतिपादित अजा शब्द विषय करता है, अतः 'अजा' शब्द का अर्थ प्रकृति है ।

५. सिद्धान्त—लोहितादि की प्रत्यभिज्ञा अग्नि, जल एवं पृथ्वीरूप अवान्तर प्रकृति का बोध कराती है । जैसे मधुविद्या में मधु से भिन्न आदित्य को मधु कहा गया है, ऐसे ही अनजा अग्न्यादि अवान्तर श्रौती प्रकृति को 'अजा' शब्द से कहा गया है ।

३५. संक्षेपोपसंग्रहाधिकरण

१. संगति—पूर्व अधिकरण में आध्यात्मिक अधिकार होने से अजा शब्द का प्रसिद्ध छाग अर्थ न कर अग्न्यादिरूप अवान्तर प्रकृति अर्थ किया गया था, वैसे ही 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्र में पञ्चजन शब्द से मनुष्यादि का ग्रहण उचित न होने के कारण सांख्यशास्त्राभिमत पच्चीस तत्त्व ग्रहण करना ही उचित होगा, ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्' (बृ० ४-४-१७) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

तेजोबन्नात्मिका प्रकृतिः, इति संदेहे 'प्रधानम्' इति तावत्प्राप्तम् । कुतः ? सत्त्वरजस्तमोगुणात्मत्वप्रतीतेः । यद्यपि लोहितशुक्लकृष्णवर्णा एव श्रूयन्ते, न तु गुणाः, तथाऽपि लोहितादिशब्दैर्गुणा लक्ष्यन्ते । तत्र लोहितशब्देन रञ्जकत्वसाम्याद्रजोगुण उपलक्षितः । शुक्लशब्देन स्वच्छत्वसाम्यात् सत्त्वगुणः । कृष्णशब्देनाऽऽवरकत्वसाम्यात्तमोगुणः । एवं सति शास्त्रान्तरप्रतीतिरनुगृहीता भवति । तस्मात्प्रधानम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्, यच्छुक्लं तदपाम्, यत्कृष्णं तदन्नस्य" (छा० ६-४-१) इति छान्दोग्ये तेजोबन्नात्मिकायाः प्रकृतेर्लोहितशुक्लकृष्णरूपाणि श्रुतान्येवात्र प्रत्यभिज्ञायन्ते । तत्र श्रौतप्रत्यभिज्ञायाः प्राबल्यात्, लोहितादिशब्दानां मुख्यार्थसंभवाच्च तेजोबन्नात्मिका प्रकृतिरजेति गम्यते । यद्यपि अजाशब्दश्छागवाचित्वान्नोक्तप्रकृतौ रूढः, नापि 'न जायते' इति योगः संभवति, तेजोबन्नानां ब्रह्मणो जातत्वात्तथापि छागत्वयुक्त प्रकृतौ सुखावबोधाय परिकल्प्यते । यथाऽऽदित्यस्यामधुनो मधुत्व "असौ वा आदित्यो देवमधु" (छा० ३-१-१) इत्यादिवाक्येन परिकल्पितं, तद्वत् । तस्मात्तेजोबन्नात्मिका प्रकृतिरजा ॥२॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

बृहदारण्यके षष्ठाध्याये श्रूयते—

"यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्" (बृ० ४-४-१०) ।

अस्यायमर्थः—'पञ्च पञ्चजना आकाशश्च यस्मिन्नाश्रिताः' तमेवाऽऽत्मभूतमात्मानममृतं ब्रह्म मन्ये । 'इत्थं विद्वानहममृतो भवामि' इति । तत्र 'पञ्च पञ्चजनाः' इति प्रोक्ताः पदार्थाः किं सांख्य-

न पञ्चविंशतेर्भानमात्माकाशातिरेकतः । संज्ञा पञ्चजनेत्येषा प्राणाद्याः संज्ञिनः श्रुताः ॥६॥

(३६) कारणत्वाधिकरणम् ॥४॥

समन्वयो जगद्योनौ न युक्तो युज्यतेऽथवा । न युक्तो वेदवाक्येषु परस्परविरोधतः ॥७॥

---

३. संशय—पञ्चजन शब्द से सांख्यशास्त्र में प्रसिद्ध मूलप्रकृत्यादि पच्चीस तत्त्व कहे गये हैं, अथवा श्रुतिवाक्यशेष मे बतलाये गये प्राणादि कहे गये हैं ? ऐसा संशय होता है ।

४. पूर्वपक्ष—पञ्च शब्द दो बार पढ़े जाने के कारण सांख्यशास्त्रप्रसिद्ध पच्चीस तत्त्व ही 'पञ्च पञ्चजनाः' शब्द से ग्रहण करने योग्य हैं ।

५. सिद्धान्त—उक्त श्रुति मे आत्मा और आकाश अतिरिक्त भी सुने जाते हैं, पच्चीस ही नहीं । ऐसी स्थिति में पञ्चजन शब्द प्राणादि पाँच के वाचक हैं अर्थात प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन इन्हीं को पञ्चजन शब्द से ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि सन्निहित वाक्यशेष में उन्हीं का नाम सुना जाता है ।

३६. कारणत्वाधिकरण

१. संगति—पिछले तीन अधिकरणों से प्रधान में अशब्दत्व बतलाकर वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में समन्वय कहा गया था । अब वेदान्तवाक्यों का परस्पर-विरुद्ध अर्थप्रतिपादक होने से कुछ भी निर्णय लेना शक्य नहीं है । अतः सांख्यशास्त्राभिमत प्रधानपरक ही समन्वय मानना चाहिए; ऐसी आक्षेप संगति होने के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—इस अधिकरण का विचारणीय विषय समन्वय है ।

शास्त्रोक्ततत्त्वानि, आहोस्विच्छ्रुतिप्रोक्ताः प्राणचक्षुःश्रोत्रमनोऽन्नसंज्ञका इति संदेहे, सांख्यतत्त्वानि, इति तावत्प्राप्तम् । कुतः? पञ्चविंशतिसंख्यायाः सांख्यशास्त्रप्रसिद्धाया अत्रावभासनात् । तथा हि—'पञ्च पञ्च' इति शब्दद्वयं श्रूयते । तत्रैकेन पञ्चशब्देन तत्त्वगता पञ्चसंख्या विवक्षिता । द्वितीयेन पञ्चसंख्याविषयाऽपरा पञ्चसंख्या विवक्षिता । तथा च 'पञ्चसंख्याविशिष्टानि तत्त्वपञ्चकानि' इत्युक्त भवति । ततश्च पञ्चभिः पञ्चकैः पञ्चविंशत्यवभासनात् ।

सांख्यतत्त्वानां प्राप्तौ ब्रूम—यद्यपि पञ्चसंख्याविषयाऽपरा पञ्चसंख्या श्रूयते, तथाऽपि न पञ्चविंशतिरियं भवितु शक्नोति । पञ्चविंशतिसंख्यानां तत्त्वानामाश्रयत्वेनाऽऽत्मनोऽभासनात । नह्ययमात्मा पञ्चविंशत्यन्तःपाती । तथा च सति 'एकस्यैवाऽऽधेयत्वमाधारत्वं च' इति विरोधप्रसङ्गात् । आकाशोऽप्यपरः श्रूयते । न च तस्यापि पञ्चविंशत्यन्तःपातित्वम् । 'आकाश्च' इति पृथङ्निर्देशसमुच्चययोर्विधानात् । तत आत्माकाशाभ्यां सह सप्तविंशतिसंपत्तेर्न सांख्यतत्त्वानामत्रावकाशः । कस्तर्हि वाक्यार्थः ? । उच्यते-पञ्चजनशब्दोऽयं समस्तः संज्ञावाची । "दिक्संख्ये सञ्ज्ञायाम्"(पा०सू० २-१-५०) इति समासविधानत् । ततः पञ्चजनसञ्ज्ञकाः पदार्थाः पञ्चसंख्याका इत्युक्त भवति । संज्ञिनस्तु वाक्यशेषात्प्राणादयोऽवगन्तव्याः । "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमनसो ये मनो विदुः" इति वाक्यशेषः । प्राणादीनां पञ्चानां साक्षी चिदात्मा द्वितीयैः प्राणादिशब्दैरभिधीयते । तस्माद्वाक्यशेषात्प्राणादयः पञ्चजना भवेयुः ॥३॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति--

योऽयं वेदान्तसमन्वयो जगत्कारणविषयः सार्धैस्त्रिभिः पादैः प्रतिपादितस्तमाक्षिप्य समाधातुमयमारम्भः । न युक्तोऽयं समन्वय इति तावत्प्राप्तम् । कुतः? वेदान्तेषु बहुशो विरोधप्रतीतेः प्रामाण्यस्यैव

सर्गक्रमविवादेऽपि नासौ स्रष्टरि विद्यते। अव्याकृतमसत्प्रोक्तं युक्तोऽसौ कारणे ततः ॥८॥

(३७) बालाक्यधिकरणम् ॥५॥

पुरुषाणां तु कः कर्ता प्राणजीवपरात्मसु। कर्मेति चलने प्राणो जीवोऽपूर्वे विवक्षिते ॥९॥

---

३. संशय—जगज्जन्मादिकारणत्ववाचक वेदान्तवाक्य ब्रह्म में प्रमाण है या नहीं? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—वेदान्तवाक्यों में परस्पर विरोध होने के कारण ब्रह्म में श्रुतियों का समन्वय मानना ठीक नहीं।

५. सिद्धान्त—सृष्टि के क्रम में विवाद होने पर भी स्रष्टा में कोई विवाद नहीं है। अतः जगत्-स्रष्टा कारणब्रह्म में अव्याकृत एवं असत् शब्द का प्रयोग समुचित ही है। कारणविषयक श्रुतिविरोध का परिहार सूत्रकार वियद् पाद में करेंगे। अतः जगत्कारणत्ववादी वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में समन्वय मानने में कोई विरोध नहीं है।

३७. बालाक्यधिकरण

१. सङ्गति—समानवाक्यस्थ होने के कारण असत् शब्द भी सद्ब्रह्मप्रतिपादक पिछले अधिकरण में कहा, किन्तु कौषीतकि-ब्राह्मण में 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' ऐसा बालाकि वाक्यस्थ ब्रह्म शब्द होने से प्राणादि शब्द का ब्रह्म अर्थ नहीं कर सकते; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ कर रहे हैं।

२. विषय—'यो वै बालाक, एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः' (कौ० ब्रा० ४-१८) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

दुःसंगादत्वात्। तथा हि—"आत्मन आकाशः संभूतः" इति तैत्तिरीयके वियदादीन्प्रति स्रष्टृत्वं श्रूयते। छान्दोग्ये—"तत्तेजोऽसृजत" (छा० ६-२-३) इति तेजआदीन्प्रति। ऐतरेयके—"स इमाँल्लोकानसृजत" (ऐ० १-१-२) इति लोकान्प्रति। मुण्डके—"एतस्माज्जायते प्राणः" (मु० २-१-३) इति प्राणादीन्प्रति। न केवलं कार्यद्वारेणैव विरोधः, किन्तु कारणस्वरूपोपन्यासेऽपि। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छा० ६-२-१) इति छान्दोग्ये सद्रूपत्वं कारणस्यावगम्यते।

तैत्तिरीयके—'असद्वा इदमग्र आसीत्" (तै० २-७) इत्यसद्रूपत्वम्। ऐतरेयके तु—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (ऐ० १-१-१) इत्यात्मरूपत्वम्। अतो विरोधान्न समन्वयः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—भवतु नाम सृष्टेषु वियदादिषु तत्क्रमे च विवादः। वियदादीनामतात्पर्यविषयत्वादाद्वितीयब्रह्मबोधायैव तदुपन्यासः। तात्पर्यविषये तु जगत्स्रष्टरि ब्रह्मणि न क्वापि विरोधोऽस्ति। क्वचित्सच्छब्देनोक्तस्य ब्रह्मणोऽन्यत्र सवजीवस्वरूपविवक्षयाऽऽत्मशब्देनाभिधानात् यत्त्व-सच्छब्देनाभिधानं तदव्याकृतत्वाभिधानाभिप्रायम्। न त्वत्यन्ताभावाभिप्रायम्। "कथमसतः सज्जायेत" इति श्रुत्यन्तरेणाभावस्य कारणत्वनिषेधात्। तस्मात् एकवाक्यतायाः सुसंपादत्वाद्युक्तो जगत्कारणे समन्वय. ॥४॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि बालाकिनाम्ना ब्राह्मणेनाऽऽदित्यादिषु षोडशसु पुरुषेषु ब्रह्मत्वेनोक्तेषु राजा तन्निराकृत्य स्वयमाह—"यो वै बालाके, एतेषां पुरुषाणां कर्ता, यस्य वै तत्कर्म, स वै वेदितव्यः" (कौ० ४-१८) इति। अत्र त्रेधा संशये सति 'प्राणः' इति तावत्प्राप्तम्। कुतः? कर्मशब्दस्य चलनवाचित्वात्। देहादिचालनस्य प्राणसंबन्धित्वात्। अथवा पुरुषाणां कर्ता जीवो भवेत्। कुतः?

जगद्वाची कर्मशब्दः पुंमात्रविनिवृत्तये । तत्कर्ता परमात्मैव न मृषावादिता ततः ॥१०॥

(३८) वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥६॥

आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तः संसारी वा परेश्वरः । संसारी पतिजायादिभोगप्रीत्याऽस्य सूचनात् ॥११॥

---

३. संशय—पुरुषों का कर्ता वेदितव्य पदार्थ प्राण है, जीव है अथवा ब्रह्म है? ऐसा संशय होता है ।

४. पूर्वपक्ष—'यस्य वैतत्कर्म' इस श्रुति में चलनात्मक कर्म प्राण के आश्रित होने से मुख्य प्राण ही अर्थ लेना चाहिए। अथवा कर्म का अर्थ अपूर्व मान लेने पर जीव भी वेदितव्य पुरुष का कर्ता माना जा सकता है ।

५. सिद्धान्त—कर्म शब्द जगद्वाचक है, पुरुष मात्र अर्थ का वाचक नहीं है । अतः उसका कर्त्ता वेदितव्य पदार्थ परमात्मा ही सुनिश्चित अर्थ है। ऐसा मानने पर श्रुति में मृषावादिता दोष भी नहीं आता ।

३८. वाक्यान्वयाधिकरण

१. सङ्गति—'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस उपक्रमवाक्य के बल से संदिग्ध वाक्य का ब्रह्मपरत्व बतलाया गया था, ऐसी स्थिति में 'न वा अरे पत्युः कामाय' (बृ० ४-५-६) इत्यादि जीवोपक्रम के बल से मैत्रेयीब्राह्मणस्थ वाक्य को जीवपरक मानना चाहिए, ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२ विषय—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४-५-६) इत्यादि श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—इस श्रुति में द्रष्टव्यत्वादि रूप से जीव का उपदेश है अथवा परमात्मा का ? ऐसा संशय होता है ।

कर्मशब्दस्यापूर्ववाचित्वात् । जीवस्य चापूर्वस्वामित्वात् । सर्वथा न परमात्मा ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—नात्र कर्मशब्दश्चलने वर्तते । नाप्यपूर्वे । किन्त्वयं जगद्वाची । 'क्रियत इति कर्म' इति व्युत्पत्तेः । सति जगद्वाचित्वे कर्मशब्दः सप्रयोजनो भविष्यति । पुरुषमात्रकर्तृत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात् । तथा च श्रुतिवाक्याक्षराण्येवं योजयितव्यानि—हे बालाके, त्वदुक्तानां पुरुषाणां षोडशानां यः कर्ता स एव वेदितव्यः । न तु ते पुरुषाः । अथवा किमनेन 'षोडशानां कर्ता' इति संकोचेन । एतत्कृत्स्नं जगद्यस्य कार्यं स एव वेदितव्य इति । कृत्स्नजगत्कर्तृत्वं च परमात्मन एव । न जीवप्राणयोः । एवं सति राज्ञो मृषावादित्वदोषो न भवति । 'ब्रह्म ते ब्रवाणि" (कौ० ४-१) इति प्रतिज्ञाय षोडश पुरुषान्ब्रुवतो बालाकेः "मृषा वै किल" (कौ० ४-१८) इत्यनेन मृषावादित्वमापाद्य राजा स्वयं ब्रह्म विवक्षुर्यदि प्राणजीवौ ब्रूयात्, तदा बालाकेरिव राज्ञो मृषावादित्वं स्यात् । तच्चायुक्तम् । तस्मात् वाक्योक्तो जगत्कर्ता परमात्मैव ॥५॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

बृहदारण्यके चतुर्थाध्याये मैत्रेयीं भार्यां प्रति याज्ञवल्क्यः पतिरुपदिशति—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० २-४-५) इति । अत्राऽऽत्मनि द्वेधा संदिग्धे सति 'संसारी' इति तावत्प्राप्तम् । कुतः ? "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" (बृ० २-४-५) इत्यादिवाक्यैर्भोगप्रीतियुक्तस्याऽऽत्मनः संसारित्वसूचनात् । अयमत्र वाक्यार्थः—'पत्यौ प्रीतिं कुर्वती जाया न पत्युः सुखाय प्रीतिं करोति, किंतु स्वसुखायैव ।

अमृतत्वमुपक्रम्य तदन्तेऽप्युपसंहृतम् । संसारिणमनूद्यातः परेशत्वं विधीयते ॥१२॥

(३६) प्रकृत्यधिकरणम् ॥७॥

निमित्तमेव ब्रह्म स्यादुपादानं च वीक्षणात् । कुलालवन्निमित्त तन्नोपादानं मृदादिवत् ॥१३॥

---

४. पूर्वपक्ष—पति, जायादि भाग की प्रतीति होने से संसारी जीव को ही यहाँ पर द्रष्टव्य मानना उचित होगा।

५. सिद्धान्त—'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि' (बृ० २-४-३) इस श्रुति द्वारा अमृतत्व का उपक्रम और अन्त में उसी का उपसंहार भी दीखता है। अतः संसारी जीव का अनुवादकर परमात्मा अर्थ का प्रतिपादन द्रष्टव्यत्वादि रूप से इस श्रुति में किया गया है।

३६. प्रकृत्यधिकरण

१. सङ्गति—पहले जन्माद्यधिकरण में जगत्कारण ब्रह्म बतलाया गया था। जैसे घटादि का उपादान कारण मृत्तिकादि है, वैसे ब्रह्म जगत का उपादान कारण है अथवा कुम्भकार की भाँति निमित्तकारण या दोनों ही कारण हैं; ऐसा विशेष विचार करने के लिए सामान्य ज्ञान हेतु होने से पूर्व के साथ इस अधिकरण की हेतुहेतुमद्भाव संगति है।

२. विषय—ब्रह्म की जगत्कारणता इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या ब्रह्म जगत् का केवल निमित्त कारण ही है अथवा उपादान कारण भी है? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—'स ईक्षांचक्रे' (प्र.६-३) 'स प्राणमसृजत' (प्र.६-४) इत्यादि श्रुति से ईक्षणपूर्वक जगत्कर्तृत्व सुना जाता है जो केवल निमित्तकारण कुलालादि में देखा गया है। अतः ब्रह्म जगत् का निमित्तकारणमात्र है, मृदादि की भाँति उपादानकारण नहीं है।

५. सिद्धान्त—'बहुस्याम्' (बहुरूप होऊँ) इस श्रुति के द्वारा ईक्षणकर्ता में उपादानत्व भी

एव पतिपुत्रादयोऽपि स्वस्वभोगार्थैवेतरत्र प्रीतिं कुर्वन्ति, इति भोगश्च नासङ्गस्येश्वरस्यावकल्प्यते। तस्मात् संसारी।

इति प्राप्ते ब्रूम—एतद्वाक्योपक्रमे मैत्रेयी 'वित्तसाध्येन कर्मणा किं ममामृतत्वं स्यात्' इति पप्रच्छ। याज्ञवल्क्यस्तु "अमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेन" (बृ० २-४-२) इति 'अमृतत्वं प्रत्याशाऽपि कर्मणा नास्ति' इत्युत्तरमाह। ब्राह्मणावसानेऽपि "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" इत्युपसंहृतम्। अत उपक्रमोपसंहारवशादमृतत्वसाधनमात्मज्ञानमत्र प्रतिपाद्यम्। जीवात्मज्ञानं च नामृतत्वसाधनम्। तस्मात्—भोगप्रीतिसूचित जीवमनूद्य तस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते ॥६॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

जगत्कारणत्वप्रतिपादकानि सर्वाणि वाक्यानि विषयः। तत्र 'किं ब्रह्म निमित्तकारणमेव, उतोपादानकारणमपि' इति सन्देहे 'निमित्तकारणमेव' इति तावत्प्राप्तम्। कुतः? "तदैक्षत" (छा० ३-२-६) इति सृज्यकार्यविषयपर्यालोचनश्रवणात्। पर्यालोचनं च निमित्तभूते कुलालादावेव दृष्टम्। नोपादानभूतमृदादौ। तस्मान्निमित्तकारणमेव।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इतीक्षितुरेव प्रकर्षेणोत्पत्त्या बहुभावः श्रूयते। तत उपादानत्वमस्ति। किं च 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा०६-१-३) इत्यादिना ब्रह्मण्येकस्मिञ्छ्रुते सति

बहु स्यामित्युपादानभावोऽपि श्रुत ईक्षितुः । एकबुद्ध्या सर्वधीश्च तस्माद्ब्रह्मोभयात्मकम् ॥१४॥

(४०) सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥८॥

अण्वादेरपि हेतुत्वं श्रुतं ब्रह्मण एव वा । वटधानादिदृष्टान्तादण्वादेरपि तच्छ्रुतम् ॥१५॥

सुना गया है, साथ ही एक के ज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा भी की गयी है । अतः इन सभी कारणों को देखते हुए ब्रह्म को जगत् का उभय कारण मानना उचित होगा ।

४०. सर्वव्याख्यानाधिकरण

१. सङ्गति—पहले 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' यहाँ से प्रसंग प्रारम्भकर बार-बार अशब्दत्वादि हेतुबोधक सूत्रों द्वारा प्रधानकारणवाद का जैसे निराकरण किया गया था, वैसा परमाण्वादिकारणवाद का निराकरण नहीं किया गया है, श्रुति में उनमे भी जगत्कारणत्व सुना गया है; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—सामान्यतः सभी वेदान्तवाक्य इस अधिकरण के विचारणीय विषय हैं ।

३. संशय—जिस प्रकार ब्रह्म में जगत्कारणता सुनी गयी है; ऐसे ही परमाणु, शून्य इत्यादि से भी कहीं-कहीं जगत्कारणत्व सुना गया है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'हे सोम्य! जिस सूक्ष्म पदार्थ को तुम नहीं जान रहे हो इसी सूक्ष्म वटधाना में यह महान् वट वृक्ष रहता है'। ऐसे ही **'असदेवेदमग्र आसीत्'** (छा० ६-२-१)—सृष्टि से पहले असत् ही था, ऐसी श्रुति भी है । इन श्रुतियों से परमाणु तथा शून्य में भी जगत्कारणत्व मानना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—परमाणु या शून्य को जगत्कारण मानने पर एक के ज्ञान से सर्वज्ञान की प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होगी एवं ब्रह्म में भी सूक्ष्म होने से धाना शब्द का और अव्याकृत नामरूप होने के कारण असत् शब्द का प्रयोग असंगत नहीं है । अतः सम्पूर्ण जगत् का कारण ब्रह्म ही है, परमाणु आदि नहीं

'अश्रुतमपि श्रुतमेव भवति' इति प्रतिपाद्यते । तदेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं च । तच्च ब्रह्मणः सर्वोपादानत्वे सति ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्याणामभावादुपपादयितुं सुशकम् । केवलनिमित्तत्वे तु सर्वेषु कार्येषु ब्रह्मव्यतिरिक्तेषु सत्सु कथं नामैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिपाद्यते । तस्मादुभयविधकारण ब्रह्म ॥७॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

वेदान्ता विषयः । तत्र किं ब्रह्मण इव परमाणुशून्यादीनामपि श्रौतं कारणत्वमस्ति, अथवा सर्वत्र ब्रह्मण एव कारणत्वं प्रतिनियतमिति संशयः । अण्वादेरपि कारणत्वं श्रौतम्, वटधानादिदृष्टान्तश्रवणात् । तथा हि छान्दोग्ये षष्ठाध्याये श्वेतकेतुं प्रत्युपदिशन्नुद्दालकः सूक्ष्मतत्त्वे स्थूलस्य जगतोऽन्तर्भावं प्रतिपादयितुं महावृक्षगर्भितानि वटबीजानि दृष्टान्तत्वेनोदाजहार । अतस्तादृशाः परमाणवो दार्ष्टान्तिके श्रुता भवन्ति । शून्यस्य तु " असद्वा इदमग्र आसीत् ' (तै० २-७) इति साक्षादेव कारणत्व श्रुतम् । "स्वभावमेके कवयो वदन्ति, कालं तथाऽन्ये" (श्वे० ६-२) इति स्वभावकालपक्षौ श्रुतौ । तस्मात्परमाण्वादीनामपि श्रौतं कारणत्वम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं शून्यादिमतेषु नोपपद्यते । शून्यादिभिरजन्यस्य ब्रह्मणः शून्यादिज्ञानेनाज्ञातत्वात् । धानादृष्टान्तस्तु ब्रह्मण्यपीन्द्रियागम्यतया सूक्ष्मत्वादुपपद्यते । असच्छब्दस्य नामरूपराहित्याभिप्रायश्चतुर्थाधिकरणे वर्णितः । स्वभावकालपक्षौ तु पूर्वपक्षत्वेन

शून्याण्वादिष्वेकबुद्धचा सर्वबुद्धिर्न युज्यते। स्युर्ब्रह्मण्यपि धानाद्यास्ततो ब्रह्मैव कारणम् ॥१६॥

(आदित श्लो० स० ६६)

(इति प्रथमोऽध्यायः)

✻ अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ✻

(४१) स्मृत्यधिकरणम् ॥१॥

सांख्यस्मृत्याऽस्ति सङ्कोचो न वा वेदसमन्वये। धर्मे वेदः सावकाश सङ्कोचोऽनवकाशया ॥१॥

हैं; यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार वैयासिकन्यायमाला प्रथमाध्याय की कैलाश पीठाधीश्वर आचार्य म० मं० श्रीमत्स्वामि विद्यानन्द गिरि द्वारा रचित ललिता व्याख्या पूर्ण हो गयी।

॥ अथ द्वितीय अध्याय-प्रथम पाद ॥

इस विरोधपरिहारनामक अध्याय के प्रथम पाद में सांख्य, वैशेषिकादि दर्शनों के साथ एवं उनके तर्कों के साथ उत्पन्न हुए वेदान्तसमन्वयविरोध का परिहार किया गया है।

४१. स्मृत्यधिकरण

१. सङ्गति—प्रथमाध्याय में प्रतिपादित वेदान्तसमन्वय का सांख्यस्मृत्यादि के द्वारा जो विरोध आया, उसका परिहार इस अध्याय से करना है इसलिए पिछले अध्याय के साथ इस अध्याय की विषयविषयीभाव सङ्गति है। प्रधानादि में वैदिक प्रमाण न रहने पर भी कपिलादि स्मृतिरूप शब्दप्रमाण तो है हीं, ऐसा आपेक्ष होने पर स्मृत्यधिकरण प्रारम्भ होता है; इसलिए पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—समन्वय का अविरोध इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—वेदसमन्वय में सांख्यस्मृति से संकोच आता है, या नहीं?

४. पूर्वपक्ष—यदि वेदान्त का समन्वय ब्रह्म में माना जायेगा तो बड़े बड़े आप्त ऋषियों के द्वारा बनायी गयी, शिष्टों ने जिसे आदर भी दिया, ऐसे प्रधानकारणवादी सांख्यस्मृति का सङ्कोच होने लग

श्रुत्योपन्यस्तौ। तस्माद्ब्रह्मैव श्रुत्यभिहितं जगत्कारणं, न परमाण्वादीनीति सिद्धम् ॥८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

✻ अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ✻

प्रथमाधिकरणमारचयति—

अस्मिन्पादे सर्वेष्वधिकरणेषु पूर्वाध्यायोक्तः समन्वयो विषयः। तत्र स्मिन्नधिकरणे वैदिकस्य समन्वयस्य सांख्यस्मृत्या 'संकोचोऽस्ति न वा' इति संदेहः। 'संकोचोऽस्ति' इति तावत्प्राप्तम्। कुतः? सांख्यस्मृतेरनवकाशत्वेन प्रबलत्वात्। सांख्यस्मृतिर्हि वस्तुतत्त्वनिरूपणायैव प्रवृत्ता, न

प्रत्यक्षश्रुतिमूलाभिर्मन्वादिस्मृतिभिः स्मृतिः । अमूला कापिली बाध्या न सङ्कोचोऽन्यया ततः ॥२॥

(४२) योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥२॥

योगस्मृत्याऽस्ति सङ्कोचो न वा योगो हि वैदिकः । तत्त्वज्ञानोपयुक्तश्च ततः संकुच्यते तया ॥३॥

जायेगा । अतः सांख्यस्मृति में प्रसिद्ध प्रधानादि के अनुसार ही श्रुतियों का अर्थ करना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—मन्वादिस्मृति प्रत्यक्ष श्रुतिमूलक है, उसके द्वारा श्रुति आधार न रखने वाली कापिल सांख्यस्मृति बाधित हो जाती है । अतः सांख्यस्मृति के साथ समन्वय का कोई विरोध नहीं है ।

४२. योगप्रत्युक्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में कहे गये न्याय का ही इस अधिकरण में अतिदेश होने से पृथक् सङ्गति की अपेक्षा नहीं रह जाती है ।

२. विषय—इस अधिकरण का भी विचारणीय विषय समन्वय ही है ।

३. संशय—पूर्वोक्त वेदान्तसमन्वय योगस्मृति के विरुद्ध है, अथवा नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—योग तत्त्वज्ञान का उपयोगी माना गया है, उसके साथ विरोध आने पर समन्वय में सङ्कोच करना पड़ेगा ।

५. सिद्धान्त—योगस्मृति तात्पर्य दृष्टि से प्रमा होती हुई भी अतात्पर्य दृष्टि से वह प्रमा नहीं है । श्रुति-अविरुद्ध अष्टाङ्गयोगसाधन में योगदर्शन को भले ही प्रमाण मान लिया जाय; फिर भी श्रुति-विरुद्ध स्वतन्त्रप्रधानकारणवाद और महदादि कार्य के विषय में प्रमाण नहीं है । अतः किसी अंश में योगस्मृति को तत्त्वज्ञान का उपकारक मान लेने पर भी वेदान्तवाक्य के बिना तत्त्वज्ञान का

त्वनुष्ठेयं धर्मं क्वचिदपि प्रतिपादयति । यदि तस्मिन्नपि वस्तुन्यसौ बाध्येत, तदा निरवकाशा स्यात् । वेदस्तु धर्मब्रह्मणी प्रतिपादयन्ब्रह्मण्येकस्मिन्बाध्यमानोऽपि धर्मे सावकाशः स्यात् । तस्मादनवकाशया स्मृत्या सावकाशस्य वेदस्य संकोचो युक्तः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सांख्यस्मृत्या वेदस्य संकोचो न युक्तः । कुतः ? मन्वादिस्मृतिभिर्ब्रह्मकारणत्ववादिनीभिर्बाधितत्वात् । प्रबला हि मन्वादिस्मृतयः । प्रत्यक्षवेदमूलकत्वात् । न तथा कपिलस्मृतेः प्रधानकारणवादिन्या मूलभूतं कञ्चन वेदमुपलभामहे दृश्यमानवेदवाक्यानां ब्रह्मपरत्वस्य पूर्वमेव निर्णीतत्वात् । तस्मान्न सांख्यस्मृत्या वेदस्य संकोचो युक्तः ॥१॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

योगस्मृतिः पातञ्जलं शास्त्रम् । तत्रोक्तोऽष्टाङ्गयोगः प्रत्यक्षवेदेऽप्युपलभ्यते । श्वेताश्वतरादिशाखासु योगस्य प्रपञ्चितत्वात् । किंचाय योगस्तत्त्वज्ञानोपयोगी । "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया" (क० १-३-१२) इति योगसाध्यस्य चित्तैकाग्र्यस्य ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वश्रवणात् । ततः प्रमाणभूतं योगशास्त्रम् । तच्च प्रधानस्य जगत्कारणतां वक्ति । तस्मात् योगस्मृत्या वेदस्य संकोचः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अष्टाङ्गयोगे तात्पर्यवत्त्वात्प्रमाणभूताऽपि सती योगस्मृतिरवैदिके प्रधानादौ न प्रमाणम् । तत्र तात्पर्याभावात् । तथा हि—"अथ योगानुशासनम्" (यो० द० १-१) इति प्रतिज्ञाय "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (यो० द० १-२) इति योगस्यैव लक्षणमुक्त्वा तमेव कृत्स्नशास्त्रे प्रपञ्चयामासेति तत्र योगे तात्पर्यम् । प्रधानादीनि प्रतिपाद्यतया प्रतिजज्ञे । किं तर्हि द्वितीयपादे यमादिसाधनप्रतिपादके हेयं हेयहेतुं हानं हानहेतुं विवेचयन्प्रसङ्गात्सांख्यस्मृतिप्रसिद्धानि प्रधानादीनि व्याजहार । ततो

प्रमाऽपि योगे तात्पर्यादतात्पर्यान्न सा प्रमा। अवैदिके प्रधानादावसंकोचस्तयाऽन्यतः ॥४॥

(४३) विलक्षणत्वाधिकरणम् । ३॥

वैलक्षण्याख्यतर्केण बाध्यतेऽथ न बाध्यते। बाध्यते साम्यनियमात्कार्यकारणवस्तुनोः ॥५॥
मृद्घटादौ समत्वेऽपि दृष्टं वृश्चिककेशयोः। स्वकारणेन वैषम्यं तर्काभासो न बाधकः ॥६॥

(४४) शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥४॥

बाधोऽस्ति परमाण्वादिमतैर्नो वा यतः पटः। न्यूनतन्तुभिरारब्धो दृष्टोऽनो बाध्यते मतैः ॥७॥

होना सम्भव नहीं। इसलिए योगस्मृति से समन्वय में कोई संकोच नहीं आता है।

४३. विलक्षणत्वाधिकरण

१. सङ्गति—श्रुतिविरुद्ध सांख्यस्मृत में वेदमूलकता का अभाव होने से भले ही अप्रामाण्य मान लिया गया हो; किन्तु व्याप्ति, पक्षधर्मतादिमूलक तर्क जो लोकप्रसिद्ध है उसके साथ तो समन्वय का विरोध है ही, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—यहाँ पर भी पूर्व अध्यायोक्त समन्वय ही विचारणीय विषय है।

३. संशय—वैलक्षण्यनामक तर्क से पूर्वोक्त समन्वय बाधित होता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—कार्य और कारण वस्तु में समानता का नियम है; इस नियम से अचेतन कार्य जगत् और चेतन ब्रह्मकारण, इन दोनों में कार्यकारणभाव का बाध हो जायेगा।

५. सिद्धान्त—मृत्तिका और घटरूप कार्य-कारण में समानता रहने पर भी बिच्छू और केशरूप कार्य में अपने कारण के साथ वैषम्य देखा गया है अर्थात् गोबर अचेतन है उससे चेतनबिच्छू उत्पन होता है, पुरुष चेतन है उससे अचेतन केशादि उत्पन्न होते हैं; इस वैषम्य को देखते हुए आप का तर्काभास पूर्वोक्त कार्य-कारण का बाधक नहीं हो सकता।

४४. शिष्टापरिग्रहाधिकरण

१. सङ्गति—यहाँ पर प्रधानमल्लनिर्बर्हणन्याय से पूर्वोक्त न्याय का ही अतिदेश हुआ है, अतः पृथक् सङ्गति की अपेक्षा नहीं है।

२. विषय—यहाँ भी समन्वयविरोध ही विचारणीय विषय है।

न तत्र तात्पर्यम्। तस्मान्न योगस्मृत्या वेदस्य संकोचः ॥२॥

तृतीयाधिकरणमाचरयति—

'अचेतनं जगच्चेतनाद्ब्रह्मणो न जायते, विलक्षणत्वात्। यद्यस्माद्विलक्षणं, तत्तस्मान्न जायते। यथा गोर्महिषः' इत्यनेन तर्केण समन्वयो बाध्यते।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'ये ये कार्यकारणे ते ते सलक्षणे' इत्यस्या व्याप्तेर्वृश्चिकादौ व्यभिचारो दृश्यते। अचेतनादगोमयाद्वृश्चिकस्य चेतनस्योत्पत्तेः। चेतनात्पुरुषादचेतनानां केशनखादीनामुत्पद्यमानत्वात्। अतो वेदनिरपेक्षः शुष्कतर्को न क्वापि प्रतितिष्ठति। तदुक्तमाचार्यैः—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते इति। तस्मात्—आभासत्वाद्वैलक्षण्यहेतुर्न बाधकः ॥३॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

सांख्ययोगस्मृतिभ्यां तदीयतर्केण बाधो मा भूत्नाम, कणादबुद्धादिस्मृतिभिस्तदीयतर्केण च समन्वयोऽपि बाध्यताम्। कणादो हि महर्षिः परमाणूनां जगत्कारणत्वं स्मरति स्म। तर्कं च तस्मिन्नर्थे-

शिष्टेष्टाऽपि स्मृतिस्त्यक्ता शिष्टत्यक्तमतं किमु । नातो बाधो विवर्ते तु न्यूनत्वनियमो न हि ॥८॥

(४५) भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ।५॥

अद्वैतं बाध्यते नो वा भोक्तृभोग्यविभेदतः । प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धो भेदोऽसावन्यबाधकः ॥९॥

---

३. संशय—ब्रह्म को जगत् का उपादान बतलाने वाला समन्वय वैशेषिकादि-सम्मत तर्कों के कारण विरुद्ध पड़ता है या नहीं ?

४ पूर्वपक्ष—पटादि कार्य अपने से न्यून तन्तुओं से उत्पन्न होते देखा गया है, अतः वैशेषिकों के तर्कों के साथ ब्रह्मकारणवाद का विरोध है ही ।

५. सिद्धान्त—किसी अंश में मन्वादि शिष्टों ने जिस स्मृति को माना था, वही जब बाधित हो गयी, तो भला सभी अंश में शिष्टों से परित्यक्त वैशेषिक मत क्यों नहीं बाधित होगा । अतः ब्रह्मकारणवाद का वैशेषिक तर्क से बाध नहीं होता । आरम्भवाद में कारण की अपेक्षा कार्य का परिमाण महान् होता है और उसकी अपेक्षा कारण अल्पपरिमाण होता है, किन्तु विवर्तवाद में उक्त नियम लागू नहीं होता । अतः समन्वय वैशेषिक तर्कों से अविरुद्ध है ।

४५. भोक्त्रापत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—मान लिया कि ब्रह्म के विषय में तर्क को प्रतिष्ठा नहीं है; फिर भी भोक्ता-भोग्य आदि जगत् के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिष्ठित होने के कारण प्रथमाध्यायोक्त समन्वय विरुद्ध पड़ रहा है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—समन्वय में प्रत्यक्षविरोध इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—अद्वयब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाने वाला समन्वय, विरुद्ध पड़ता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—अद्वितीय ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने पर भोक्ता-भोग्य आदि प्रपञ्च ब्रह्म से अभिन्न हो जायंगे; फिर तो भोक्ता भोग्य और भोग्यविषय भोक्ता होने लग जायेगा तथा प्रत्यक्ष-

---

प्रोवाच—'विमतं द्व्यणुकादिकं स्वस्मान्न्यूनपरिमाणेनाऽऽरब्धम् । कार्यद्रव्यत्वात् । यथा तन्तुभिः पटः' इति । बुद्धश्च भगवतो विष्णोरवतारोऽभावं जगद्धेतुं स्मरति स्म । तर्कं च तदनुकूलमाह—विमतं भावरूपं जगदभावपुरःसरं भावरूपत्वात् । यथा—'सुषुप्तिपुरःसरः स्वप्नप्रपञ्चः इति । तस्मात्तैः प्रबलैः कणादादिमतैर्बाधितः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यदा वैदिकशिरोमणिभिः पुराणकर्तृभिस्तत्र तत्र प्रसङ्गादुदाहृता प्रकृतिपुरुषादिप्रतिपादिका सांख्ययोगस्मृतिर्जगत्कारणविषये दौर्बल्येन परित्यक्ता, तदा निखिलः शिष्टैरुपेक्षितानां कणादादिमतानां दौर्बल्यमिति किमु वक्तव्यम् । न खलु ब्राह्मपाद्मादिपुराणेषु क्वचिदपि प्रसङ्गाद्-द्व्यणुकादिप्रक्रियोदाहृता । प्रत्युत—

हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ।

इति बहुशो निन्दोपलभ्यते । यस्तु न्यूनारम्भकत्वनियम उक्तः, नासौ विवर्तवादेऽस्ति । दूरस्थस्य पर्वताग्रस्थितैर्महद्भिर्वृक्षैरत्यल्पदूर्वाभ्रमस्य जन्यमानत्वात् । यदपि—अभावपुरःसरत्वानुमानम्, तत्रापि साध्यविकलो दृष्टान्तः । सुषुप्तेरवस्थात्वेनावस्थावतादात्मनः सद्रूपस्याङ्गीकरणीयत्वे सति स्वप्नस्याप्यभावपुरःसरत्वाभावात् । तस्मात्—एतैर्मतैर्नास्ति बाधः ॥४॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

समन्वयेनावगम्यमानमद्वैतं प्रत्यक्षादिसिद्धेन भोक्तृभोग्यभेदेन बाध्यत इति चेन्न । तरङ्गादिरूपेण भेदस्य समुद्ररूपेणाभेदस्य च दृष्टत्वेन भेदाभेदयोर्विरोधाभावात् । भेदाभेदविरोधव्यवहारस्याऽऽकार-

तरङ्गफेनभेदेऽपि समुद्रेऽभेद इष्यते । भोक्तृभोग्यविभेदेऽपि ब्रह्माद्वैतं तथाऽस्तु तत् ॥१०॥

(४६) आरम्भणाधिकरणम् ॥६॥

भेदाभेदौ तात्त्विकौ स्तो यदि वा व्यावहारिकौ। समुद्रादाविव तयोर्बाधाभावेन तात्त्विकौ ॥११॥

सिद्ध परस्पर विभाग अस्त-व्यस्त हो जायेगा ।

५. सिद्धान्त—अद्वितीय ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने पर भी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध भोक्ता-भोग्यादि विभाग व्यवस्थित रहेगा । जिस प्रकार समुद्र के विकार वीचि, तरङ्गादि का समुद्ररूप से अभेद है और वीचि इत्यादि रूप से देखने पर परस्पर भेद है; वैसे ही भोक्ता, भोग्यादि प्रपञ्च में कल्पितभेद मानने पर भी अद्वयब्रह्मरूप से अद्वैत सिद्धान्त में बाधा नहीं आयेगी ।

४६. आरम्भणाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में परिणामवाद का आश्रय लेकर स्याल्लोकवत्(ब्र.सू.२/१/५/१३) इस वाक्य द्वारा अवान्तर समाधान दिया गया था, अब विवर्तवाद के आश्रित मुख्य समाधान दिया जाता है; अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की एकफलत्व सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण का भी समन्वय में प्रत्यक्ष विरोध ही विचारणीय विषय है ।

३. संशय—अद्वैत ब्रह्म बतलाने वाला समन्वय भेदग्राही प्रत्यक्ष से विरुद्ध पड़ता है या नहीं अर्थात् भेदाभेद तात्त्विक है अथवा व्यावहारिक है ?

४. पूर्वपक्ष—जिस प्रकार समुद्रादि में तात्त्विक भेदाभेद मानने पर कोई बाधा नहीं है, वैसे ही अद्वय ब्रह्म में भी तात्त्विक भेद मानना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—श्रुति एवं युक्ति से भेद बाधित हो जाने के कारण उनमें व्यावहारिक भेद मानना

भेदेनापि रहितेऽत्यन्तमेकस्मिन्नपि वस्तुनि सावकाशत्वात् । तस्मात्—'ब्रह्माकारेणाद्वैतम् । भोक्तृभोग्याकारेण द्वैतम्' इत्याकारभेदाद्व्यवस्थासिद्धौ न कोऽपि बाधः ॥५॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

स्पष्टौ संदेहपूर्वपक्षौ । 'नेह नानाऽस्ति किंचन" (बृ० ४-४-१९) इति श्रुतिर्भेदं बाधते । युक्तिश्च परस्परोपमर्दात्मकयोर्भेदाभेदयोरेकत्रासंभवः । एकस्मिंश्चन्द्रमसि द्वित्वासंभवात् । यदुक्तं पूर्वाधिकरणे—आकारभेदाद्भेद इति । तदप्यसत् । अद्वैतवस्तुन्याकारभेदस्यैवाप्रतिपत्तेः । समुद्रादौ तु दृष्टत्वादभ्युपगम्यते । 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इति न्यायात् । अत्रापि ब्रह्माकारजगदाकारौ दृष्टौ—इति चेत । न । ब्रह्मणः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात् । तस्मात्—श्रुतियुक्तिबाधितत्वाद्व्यवहारिकौ भेदाभेदौ । किं तर्हि तत्त्वम् ? इति चेत् । अद्वैतमेव तत्त्वम् इति ब्रूमः । कार्यस्य कारणानतिरेकेण कारणमात्रस्य वस्तुत्वात् । तथा च श्रुतिर्मृत्तिकादिदृष्टान्तैः कारणस्यैव सत्यत्वं प्रतिपादयति—"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् । वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० ६-१-४) "एवं सोम्य स आदेशः" (छा० ६-१-६) इति । अस्यायमर्थः—प्रौढो मृत्पिण्डः कारणम् । तद्विकारो घटशरावादयः । तत्र—'मृद्वस्त्वन्यत् घटादीनि चान्यानि वस्तूनि' इति तार्किका मन्यन्ते । तत्र घटादीनां पृथग्वस्तुत्वनिरासाय विकारशब्देन श्रुतिस्तान्युदाहरति । मृद्वस्तुनो विकाराः संस्थानविशेषा घटादयो न पृथग्वस्तुभूताः यथा देवदत्तस्य बाल्ययौवनस्थाविरावस्थाद्वत् । एवं सति घटाद्याकारप्रतिभासदशायामपि मृन्मात्रं स्वतन्त्रं वस्तु। ततो मृद्यवगतायां घटादीनां यत्तात्त्विकं स्वरूपं तत्सर्वमवगतम् । आकारविशेषो न ज्ञायत इति चेत्। मा ज्ञायतां नाम । तेषामवस्तुभूतानामजिज्ञासार्हत्वात् । चक्षुषा प्रतिभासमाना अपि विकारा

बाधितौ श्रुतियुक्तिभ्यां तावतो व्यावहारिकौ । कार्यस्य कारणाभेदादद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम् ॥१२॥

(४७) इतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥७॥

हिताक्रियादि स्यान्नो वा जीवाभेदं प्रपश्यतः । जीवाहितक्रिया स्वार्था स्यादेषा नहि युज्यते ॥१३॥
अवस्तु जीवसंसारस्तेन नास्ति मम क्षतिः । इति पश्यत ईशस्य न हिताहितभागिता ॥१४॥

चाहिए, किन्तु कार्य जगत् का अपने कारण ब्रह्म के साथ अभेद मानने पर अद्वयब्रह्म तात्त्विक सिद्ध होता है। अतः व्यावहारिक भेद और तात्त्विक अभेद मानने पर कोई विरोध नहीं है।

४७. इतरव्यपदेशाधिकरण

१. सङ्गति – पहले एक विज्ञान से सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए जिस युक्ति से कार्य-कारण का अनन्यत्व सिद्ध किया था, उसी युक्ति से जीव-ब्रह्म का अभेद मान लेने पर हितं अकरणादि जीवधर्म ब्रह्म में आने लग जायेंगे; इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—जगज्जन्मादिकारण ब्रह्म का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—जीव से अभिन्न ब्रह्म को जगत्कारण मानने पर हिताकरणादि दोष ब्रह्म में आयेगा या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—जीव से अभिन्न ब्रह्म को जगत्स्रष्टा तथा नियन्ता मानने पर जीव का अहित-करणादि अपना ही माना जायेगा जो उचित नहीं है। अतः विरोध सुस्पष्ट है।

५. सिद्धान्त—जीव में संसार कल्पित है, वास्तविक नहीं; ऐसा तत्त्वदृष्टि से जानने वाले के लिए ब्रह्म में हिताकरणादिदोष नहीं आता, क्योंकि स्वयंप्रकाश ब्रह्मतत्त्व में जीवगत कल्पित हिताकरणादि का सम्बन्ध नहीं होता है।

निरूपिताः सन्तो मृद्व्यतिरेकेण न स्वरूपं किंचिल्लभन्ते। 'घटोऽयं, शरावोऽयम्' इति वाङ्निबाध्य-नामधेयमात्रं लभन्ते। अतो निर्वस्तुकत्वे सत्युपलभ्यमानत्वरूपेण मिथ्यात्वलक्षणेनोपेतत्वादसत्या विकाराः। मृत्तिका तु विकारव्यतिरेकेणापि स्वरूपं लभत इति सत्यम्। तथा ब्रह्मोपदेशोऽव-गन्तव्यः। ब्रह्मणि मृत्तिकान्यायस्य, जगति घटादिन्यायस्य योजयितुं शक्यत्वात्। तस्माज्जगतो ब्रह्माभेदादद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम्। एवंविधविचारशून्यानां पुरुषाणामापातदृष्ट्या वेदेनाभ्युपेताद्वि-तीयब्रह्मप्रतिपत्तेः प्रत्यक्षादिभिर्भेदप्रतिपत्तेश्च सद्भावात्समुद्रतरङ्गन्यायेन भेदाभेदाववभासेते। तस्मात्तु व्यावहारिकाविति स्थितिः ॥६॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

परमेश्वरो हि केषांचिज्जीवानां संसारसक्तानां वैराग्यादिकं हितं न निर्मिमीतेऽहितं च नरक-हेतुमधर्मं निर्मिमीते। निर्मिमाणश्च स्वस्य जीवैरभेदं सर्वज्ञतया पश्यति। तस्मात्स्वस्यैव हिताकरणम-हितकरणं च प्रसज्येयाताम्। एतच्च न युक्तम्। न हि प्रेक्षावान्कश्चित्स्वस्य हितं न करोत्यहितं वा करोति। तस्माद्धिताकरणादिदोषः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सर्वज्ञत्वादीश्वरो जीवसंसारस्य मिथ्यात्वं स्वस्य निर्लेपत्वं च पश्यति। अतो न हिताहितभाक्त्वदोषः ॥७॥

(४८) उपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥८॥

न संभवेत्संभवेद्वा सृष्टिरेकाद्वितीयतः । नानाजातीयकार्याणां क्रमाज्जन्म न संभवि ॥१५॥
अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तच्चाविद्यासहायवत् । नानाकार्यंकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः ॥१६॥

(४९) कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥९॥

न युक्तो युज्यते वाऽस्य परिणामो न युज्यते । कात्स्न्यीद्ब्रह्मानित्यताप्तेरंशात्सावयवं भवेत् ॥१७॥

---

४८. उपसंहारदर्शनाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में जीव-ब्रह्म के औपाधिक भेद को लेकर ब्रह्म को जगतत्स्रष्टा मानने पर भी उसमें हिताकरणादि दोष नहीं है, यह कहा गया था। अब ब्रह्म में औपाधिक भी करणादि मानना ठीक नही, क्योंकि ब्रह्म नाना नहीं है; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—जगत् के अभिन्ननिमित्त उपादान कारण असहाय चेतन ब्रह्म पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—क्या अपहाय ब्रह्म से जगत् की सृष्टि हो सकती है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—घटादि का कर्ता कुम्भकार अनेक साधनों के सहकार से घट को बनाते देखा गया है। एकाकी ब्रह्म नाना प्रकार के कार्य को किसी की सहायता के बिना क्रमशः उत्पन नहीं कर सकता।

५. सिद्धान्त—तात्त्विकदृष्टि से ब्रह्म अद्वैत है, उसकी सहकारिणी अविद्या है। अतः अविद्या शक्ति के द्वारा अद्वय ब्रह्म विचित्र कार्य को क्रमशः उत्पन्न कर सकता है। लोक में दुग्ध स्वयं ही दधि-रूप में परिणत हो जाता है और देवादि बिना किसी सहायता के नाना शरीर बना लेते हैं। ऐसे ही अविद्यासहकृत अद्वयब्रह्म अन्य साधनों के विना ही जगत्सृष्टि करेगा, इसमें कोई दोष नहीं है।

४९. कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में भ्रमउत्पादकत्वरूप कारण और इस अधिकरण में कार्य का विचार होने से दोनों की कार्य कारणभाव संगति है।

अष्टमाधिकरणमारचयति—

'एकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६-२-१) इति ब्रह्मणः स्वगतसजातीयविजातीयैर्भेदै शून्यत्वमवगम्यते। स्रष्टव्यानि च ऽऽकाशवाय्वग्न्यादीनि विचित्राणि । नह्यविचित्रे कारणे कार्यवैचित्र्यं युक्तम् । अन्यथैकस्मादेव क्षीराद्दधितैलाद्यनेकविचित्रकार्यप्रसङ्गात् । क्रमश्चाऽऽकाशादीनां श्रुत्याऽवगम्यते। न च व्यवस्थापकं किंचिदस्ति। तस्मादनेककार्याणां क्रमेण जन्माद्वितीयब्रह्मणो न संभवति।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यद्यपि तत्त्वतो ब्रह्माद्वैतम्, तथाऽप्यविद्यासहायोपेतामिति श्रुतियुक्त्यनुभवैरवगम्यते। "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे० ४-१०)

इति श्रुतेः। मायैवाविद्या । उभयोरप्यनिर्वचनीयत्वलक्षणस्यैकत्वात् । न च मायाङ्गीकारे द्वैतापत्तिः । वास्तवस्य द्वितीयस्याभावात् । अत एकमपि ब्रह्माविद्यासहायवशान्नानाकार्यंकरं भविष्यति। न च कार्यक्रमस्य व्यवस्थापकाभावः। अविद्यागतानां शक्तिविशेषाणां व्यवस्थापकत्वात्। तस्मादद्वितीयब्रह्मणो नानाकार्याणां क्रमेण सृष्टिः संभवति॥८॥

नवमाधिकरणमारचयति—

आरम्भणाधिकरणे (२-१-६) कार्यकारणयोरभेदः प्रतिपादितः। अतो न वैशेषिकवदारम्भवादो

मायाभिर्बहुरूपत्वं न कात्स्न्र्यान्नापि भागतः । युक्तोऽनवयवस्यापि परिणामोऽत्र मायिकः ॥१८॥

(५०) सर्वोपेताधिकरणम् ॥१०॥

नाशरीरस्य मायाऽस्ति यदि वाऽस्ति न विद्यते । ये हि मायाविनो लोके ते सर्वेऽपि शरीरिणः ॥१९॥

बाह्यहेतुमृते यद्वन्मायया कार्यकारिता । ऋतेऽपि देहं मायैवं ब्रह्मण्यस्तु प्रमाणतः ॥२०॥

---

२. विषय—निरवयव ब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाने वाला समन्वय इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—निराकार ब्रह्म का परिणाम यह जगत् हो सकता है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—निराकार ब्रह्म से जगत्सृष्टि मानने पर पूर्णरूप से यदि ब्रह्म जगत् बन गया तो उसमें नित्यत्व नहीं रह जायेगा और यदि अंशतः जगत् ब्रह्म का परिणाम है तो ब्रह्म में सावयवत्व आ जायेगा, ऐसी स्थिति में ब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाने वाला समन्वय विरुद्ध है ।

५. सिद्धान्त—माया से ब्रह्म अनेक रूप धारण कर लेता है । अतः उसमें कृत्स्नप्रसक्ति दोष नहीं है और सावयव तो हम मानते ही नहीं जिससे कि ब्रह्म का अंशतः परिणाम माना जाय । निरवयव ब्रह्म का जगत् विवर्त है, परिणाम नहीं । जैसे स्वप्नद्रष्टा में स्वप्नदृश्य कल्पित है, ऐसे ही अद्वयब्रह्म में जगत् कल्पित है । अतः स्वरूप उपमर्दन के बिना ही ब्रह्म में जगत् भासता है ।

५०. सर्वोपेताधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण द्वारा ब्रह्म में विचित्र शक्तियोग बतलाया गया जिसका समर्थन इस अधिकरण द्वारा किया जायेगा, अतः दोनों की विषयविषयीभाव सङ्गति है ।

२. विषय—ब्रह्म में मायायुक्तत्व का विचार इस अधिकरण द्वारा किया गया है ।

३. संशय—निराकार ब्रह्म के आश्रित माया रह सकती है, या नहीं ? ऐसा संशय होता है ।

४. पूर्वपक्ष—लोक में सभी मायावी शरीरधारी देखे गये हैं, अतः अशरीर ब्रह्म में माया नहीं रह सकती ।

५. सिद्धान्त—बाह्यकारण के बिना ही माया के द्वारा जैसे ब्रह्म जगत् का कर्ता है, (पिछले अधिकरण में ब्रह्म को जगत्कर्ता सिद्ध किया गया था) ऐसे ही शरीर के बिना भी ब्रह्म में माया रह सकती है; ऐसा श्रुति के बल से सिद्ध होता है ।

ब्रह्मवादिनोऽभिमतः । तस्मात्क्षीरदधिन्यायेन परिणामोऽभ्युपगन्तव्यः । तत्र किं ब्रह्म कात्स्न्र्येन परिणमते, उतैकदेशेन ? नाऽऽद्यः । अशेषपरिणामे ब्रह्मणः क्षीरवदनित्यत्वप्रसङ्गात । द्वितीये सावयवत्वप्रसङ्गः । तस्मान्न परिणामः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः— 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० २-५-१९) इति श्रुतेर्ब्रह्मणो मायाशक्तिभिर्जगद्रूपपरिणामः । न त्वसौ वास्तवः । तेन कृत्स्नैकदेशविकल्पयोर्नात्रावकाशः । तस्माद्युज्यते परिणामः । ९॥

दशमाधिकरणमारचयति—

लोके मायाविनामैन्द्रजालिकानां शरीरित्वदर्शनादशरीरस्य ब्रह्मणो माया न सम्भवति ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—गृहादिनिर्मातॄणां स्वव्यतिरिक्तमृदारुतृणादिबाह्यसाधनसापेक्षत्वदर्शनेऽप्यैन्द्रजालिकस्य बाह्यसाधननैरपेक्ष्येण यथा गृहादिनिर्मातृत्वम्, तथा लौकिकमायाविनः शरीरसापेक्षत्वदर्शनेऽपि ब्रह्मणो मायासिद्ध्यर्थं तदपेक्षा मा भूत् । अथोच्येत ऐन्द्रजालिकस्य बाह्यहेतुनैरपेक्ष्येण निर्मातृत्वे प्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति, तर्हि ब्रह्मणोऽपि शरीरनैरपेक्ष्येण मायासद्भावे "मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे० ४-१०) इति श्रुतिः प्रमाणमस्तु ॥१०॥

(५१) न प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥११॥

तृप्तोऽस्रष्टाऽथवा स्रष्टा, न स्रष्टा फलवाञ्छने। अतृप्तः स्यादवाञ्छायामुन्मत्तनरतुल्यता ॥२१॥
लीलाश्वासवृथाचेष्टा अनुद्दिश्य फलं यतः। अनुन्मत्तैर्विरच्यन्ते तस्मात्तृप्तस्तथा सृजेत् ॥२२॥

(५२) वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम ॥१२॥

वैषम्याद्यापतेन्नो वा सुखदुःखे नृभेदतः। सृजन्नियम ईशः स्यान्निर्घृणश्चोपसंहरन् ॥२३॥

---

५१. न प्रयोजनवत्त्वाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण द्वारा श्रुति के आधार पर सर्वशक्तिविशिष्ट परमेश्वर को जगत्कर्ता सिद्ध किया गया, अब उस पर आक्षेपकर समाधान देने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है; अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—तृप्तब्रह्म को जगत्स्रष्टा मानने पर समन्वयविरोध इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—आप्तकाम ब्रह्म जगत्स्रष्टा हो सकता है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—फलाकांक्षा रहने पर ब्रह्म अतृप्त माना जायेगा और बिना इच्छा के उसे जगत्कर्ता मानने पर उसकी प्रवृत्ति उन्मत्त पुरुष के समान हो जायेगी। अतः आप्तकाम ब्रह्म को जगत्स्रष्टा मानना ठीक नहीं है।

५. सिद्धान्त—बिना किसी उद्देश्य के लीला में श्वास प्रश्वास की चेष्टा में स्वस्थ व्यक्ति की भी प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः आप्तकाम परमेश्वर भी बिना किसी प्रयोजन के लीलादि प्रवृत्ति की भाँति जगत्-रचनारूप प्रवृत्ति कर लेगा; इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

५२. वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण

१. सङ्गति— पिछले अधिकरण द्वारा मायाशक्तियुक्त ब्रह्म को लीला से जगत्स्रष्टा कहा गया, उस पर आक्षेप करके समाधान देने के लिए इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं; अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२ विषय—निर्दोषब्रह्म से जगत्सृष्टि बतलाने वाला समन्वय इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—समब्रह्म से जगत्सृष्टि मानने पर परमेश्वर में वैषम्यदोष आता है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सभी प्राणियों के लिए सुख-दुःख का विधान करने वाला ईश्वर विषम माना

एकादशाधिकरणमारचयति—

"आनन्दो ब्रह्म" (तै० ३-६) इति श्रुतेर्नित्यतृप्तः परमेश्वरः। तादृशस्य सृष्टिविषयायामिच्छायामभ्युपगम्यमानायां नित्यतृप्तिर्व्याहन्येत। अनभ्युपगम्यमानायां स्वबुद्धिपूर्विकां सृष्टिं विरचयत उन्मत्तनरतुल्यता प्रसज्येत।

इति प्राप्ते ब्रूमः—बुद्धिमद्भिरेव राजादिभिरन्तरेण प्रयोजनं लीलया मृगयादिप्रवृत्तिः क्रियते। श्वासोच्छ्वासव्यवहारस्तु सार्वजनीनः। व्यर्थचेष्टाश्च बालकैः क्रियमाणा बहुशो दृश्यन्ते। तद्वन्नित्यतृप्तोऽपीश्वरः प्रयोजनमन्तरेणाप्यनुन्मत्तः सन्नशेषं जगत्सृजते ॥ १॥

द्वादशाधिकरणमारचयति—

ईश्वरो देवादीनत्यन्तसुखिनः सृजति, पश्वादीनत्यन्तदुःखिनः, मनुष्यान्मध्यमान्। एवं तारतम्येन पुरुषविशेषेषु सुखदुःखे सृजन्नीश्वरः कथं विषमो न स्यात्। कथं नोचैरत्यन्तजुगुप्सितं देवतिर्यङ्-

प्राण्यनुष्ठितधर्मादिमपेक्ष्येशः प्रवर्तते । नातो वैषम्यनैर्घृण्ये संसारस्तु न चाऽऽदिमान् ॥२४॥

(५३) सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम् ॥१३॥

नास्ति प्रकृतिता यद्वा निर्गुणस्यास्ति नास्ति सा । मृदादेः सगुणस्यैव प्रकृतित्वोपलम्भनात् ॥२५॥

जायेगा । साथ ही दुःख का विधान एवं सभी प्रजाओं के संहार जैसे दुःखद काम का विधान करने वाले परमात्मा में नैर्घृण्यदोष भी आ जायेगा जो समन्वय का विरोधी है ।

५. सिद्धान्त—सृज्यमान प्राणियों के धर्मादि की अपेक्षाकर परमेश्वर जगत् सृष्टि, स्थिति और संहार जैसे कार्य में प्रवृत्त होता है; अतः उसमें वैषम्यनैर्घृण्यदोष नहीं है और संसार प्रवाहरूप से अनादि भी है जिसमें श्रुति और स्मृति प्रमाण विद्यमान है ।

५३ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—यद्यपि पूर्व अधिकरण में ब्रह्म को जगत् का निमित्तकारण सिद्ध किया गया फिर भी उपादानत्वप्रयोजक गुण जब उसमें है नहीं तो ऐसी स्थिति में ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं हो सकता; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है ।

२. विषय—इस अधिकरण द्वारा ब्रह्म में जगत् उपादानत्व का विचार किया गया है ।

३. संशय—निर्गुणब्रह्म में जगत् उपादानत्व सम्भव है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सगुण मृदादि में ही उपादानत्व देखा गया है, जो निर्गुणब्रह्म में कथमपि सम्भव नहीं है ।

५. सिद्धान्त—जगत्कारणत्व के प्रयोजक सभी सर्वज्ञत्वादि कारणधर्म ब्रह्म में विद्यमान हैं, अतः निर्गुण ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् का उपादानकारण है; किन्तु वह परिणामी उपादान नहीं है,

---

मनुष्याद्यशेषं जगदुपसंहरन्निर्घृणो न भवेत् । तस्मात्—वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावदीश्वरस्य वैषम्यप्रसङ्गोऽस्ति । प्राणिनामुत्तममध्यमाधमलक्षण वैषम्ये तत्तत्कर्मणामेव प्रयोजकत्वात् । न चैतावतेश्वरस्य स्वातन्त्र्यहानिः, अन्तर्यामितया कर्माध्यक्षत्वात् ।

नन्वेवं सति घट्टकुटीप्रभातन्याय आपद्यते । ईश्वरे वैषम्यं परिहर्तुं कर्मणां वैषम्यहेतुत्वमुक्त्वा पुनरीश्वरस्य स्वातन्त्र्यसिद्धये तत्कर्मनियामकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सत्यन्ततो गत्वेश्वरस्यैव वैषम्यप्रसङ्गात् । नायं दोषः । नियामकत्वं नाम तत्तद्वस्तुशक्तीनामव्यवस्थापरिहारमात्रम् । शक्तयस्तु मायाशरीरभूताः । न तासामुत्पादक ईश्वरः । ततश्च स्वस्वशक्तिवशात्कर्मणां वैषम्यहेतुत्वेऽपि न व्यवस्थापकस्येश्वरस्य वैषम्यप्रसङ्गः । संहारस्य सुषुप्तिवद्दुःखाजनकत्वात् । प्रत्युत सकलक्लेशनिवर्तकत्वात्-घृणत्वमेव । नन्ववान्तरसृष्टिषु पूर्वपूर्वकर्मापेक्षया सृजत ईश्वरस्य वैषम्याभावेऽपि प्रथमसृष्टौ पूर्वकर्मासंभवाद्वैषम्यदोषस्तदवस्थ इति चेत् । न । सृष्टिपरम्पराया अनादित्वात् । "नान्तो न चाऽऽदिः" (गी० १५-३) इत्यादिशास्त्रात् । तस्मान्न कोऽपि दोषः ॥१२॥

त्रयोदशाधिकरणमारचयति—

प्रकृतित्वं नाम कार्याकारेण विक्रियमाणत्वम् । तच्च लोके सगुण एव मृदादावुपलब्धम् । ततो न निर्गुणस्य ब्रह्मणः प्रकृतिता ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यद्यपि 'प्रक्रियते विक्रियतेऽनयेति प्रकृतिः' इति व्युत्पत्त्या विक्रियमाणत्वं प्रतीयते । तथाऽपि तद्विक्रियमाणत्वं द्वेधा सम्भवति—क्षीरादिवत्परिणामित्वेन वा, रज्ज्वादिवद्भ्रमाधिष्ठानत्वेन वा । तत्र निर्गुणस्य परिणामित्वासम्भवेऽपि भ्रमाधिष्ठानत्वमस्तु । दृश्यते तु

भ्रमाधिष्ठानताऽस्माभिः प्रकृतित्वमुपेयते । निर्गुणेऽप्यस्ति जात्यादौ सा ब्रह्म प्रकृतिस्ततः ॥२६॥
(आदित श्लो० सं०—१२२)
(इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः)

॥ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

(५४) रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

प्रधानं जगतो हेतुर्न वा सर्वे घटादयः । अन्विताः सुखदुःखाद्यैर्यतो हेतुरतो भवेत ॥१॥

अपितु विवर्त उपादानकारण है ।

(इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः)

द्वितीय अध्याय द्वितीय पाद

(इस पाद में सांख्यादि मतों में दुष्टत्व दिखलाया गया है ।)

इस प्रकार वेदान्तसमन्वय में प्रतिवादियों के द्वारा जो विरोध खड़े किये गये थे उनका खण्डन करके स्वपक्षस्थापन करने वाले प्रथम पाद के साथ इस परमतनिराकरणप्रधान द्वितीय पाद का उपजीव्य-उपजीवक भाव संगति है ।

५४. रचनानुपपत्त्यधिकरण

१. सङ्गति–पिछले अधिकरण द्वारा ब्रह्म में जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्वादि धर्म की जो उपपत्ति कही गयी थी, उन धर्मों की संगति प्रधान में ही क्यों न मान ली जाय, ऐसा आक्षेप उठाकर इस अधिकरण के द्वारा समाधान दिया गया है; इसलिए पूर्व के साथ इसकी आक्षेप संगति मानी गयी है ।

२. विषय—सांख्य सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—क्या सांख्य सिद्धान्त प्रमाणमूलक है, अथवा भ्रान्तिमूलक है ? अर्थात् जगत् का कारण प्रधान हो सकता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—घटादि सम्पूर्ण जगत् सुख-दुःख एवं मोह से अन्वित देखे जाते हैं, अतः इनका कारण सुख- दुःख-मोहात्मक त्रिगुण प्रधान ही हो सकता है ।

निर्गुणे जात्यादौ भ्रमाधिष्ठानता । मलिनब्राह्मणं दृष्ट्वा 'शूद्रोऽयम्' इति भ्रान्तव्यवहारदर्शनात् । तस्मान्निर्गुणमपि ब्रह्म प्रकृतिरिति सिद्धम् ॥१३॥

द्वितीयपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—

सुखदुःखमोहात्मकं प्रधानं जगतः प्रकृतिः । जगति सुखाद्यन्वयदर्शनात् । घटपटादय उपलभ्यमानाः सुखाय भवन्ति । उदकाहरणप्रावरणादिकारित्वात् । त एव घटादयोऽन्यैरपहृियमाणास्तस्यैव दुःखजनकाः । यदोदकाहरणादिकार्यं नापेक्षितं तदा सुखदुःखे न जनयन्ति, केवलमुपेक्षणीयत्वेनावतिष्ठन्ते । तदिदमुपेक्षाविषयत्वं मोहः । "मुहं वैचित्ये" इति धातोर्मोहशब्दनिष्पत्तेरुपेक्षणीयेषु चित्तवृत्त्यनुदयात् । अतः सुखदुःखमोहान्वयदर्शनात् 'प्रधानं प्रकृतिः' इति सांख्या मन्यन्ते ।

न हेतुर्योग्यरचनाप्रवृत्त्यादेरसंभवात् । सुखाद्या आन्तरा बाह्या घटाद्यास्तु कुतोऽन्वयः ॥२॥

(५५) महद्दीर्घाधिकरणम् ॥२॥

नास्ति काणाददृष्टान्तः किंवाऽस्त्यसदृशोद्भवे । नास्ति शुक्लपटः शुक्लात्तन्तोरेव हि जायते ॥३॥

---

५. सिद्धान्त—सांख्यदर्शनोक्त अनुमानसिद्ध प्रधान जगत्कारण नहीं हो सकता क्योंकि स्रष्टव्य-ज्ञान से शून्य, अचेतन प्रधान से अनेकविध विचित्र रचना सम्भव नहीं है। सुखादि आन्तरपदार्थ हैं, वे घटादि विषय में कैसे रह सकेंगे।

५५. महद्दीर्घाधिकरण

१. सङ्गति—चेतनत्वादि ब्रह्म के गुण प्रपञ्च में न दीखने के कारण प्रधान की भाँति ब्रह्म भी जगत् का उपादानकारण नहीं हो सकता, ऐसी दृष्टान्त सगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—चेतन ब्रह्म से जगत्सृष्टि कहने पर जो समन्वय में विरोध आता है, वह इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—शुक्ल तन्तु से जैसे शुक्ल पट उत्पन्न होता देखा गया है, विपरीत नहीं; वैसे ही चेतन ब्रह्म को जगत्कारण मानने पर उसके कार्य जगत् में भी चैतन्य दीखना चाहिए, इसलिए चेतन ब्रह्म जगत्कारण नहीं हो सकता; इस तर्क के साथ समन्वय का विरोध है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—शुक्लतन्तु से शुक्लपट ही उत्पन्न होता है, अतः कारण से भिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न होने में कोई दृष्टान्त न मिलने के कारण पूर्वोक्त विरोध है ही।

५. सिद्धान्त—पारिमाण्डल्यपरिमाण से युक्त परमाणु जिस प्रकार अणुत्वपरिमाणयुक्त द्व्यणुक का कारण है और अणुत्वपरिमाण से युक्त द्व्यणुक जैसे दीर्घत्वपरिमाणयुक्त त्र्यणुक का

इति प्राप्ते ब्रूमः—न प्रधानं जगद्धेतुः। देहेन्द्रियमहीधरादिरूपस्य विचित्रस्य प्रतिनियतनानासन्निवेशविशेषस्य जगतो रचनायामचेतनस्य प्रधानस्य योग्यत्वासम्भवात्। लोके हि प्रतिनियतकार्यस्य विचित्रनानाप्रासादादेरतिबुद्धिमत्कर्तृकत्वोपलम्भात्। आस्तां तावदियं रचना, तत्सिद्ध्यर्था प्रवृत्तिरपि नाचेतनस्योपपद्यते। चेतनानधिष्ठिते शकटादौ तददर्शनात्। अथ पुरुषस्य चेतनस्य प्रकृत्यधिष्ठातृत्वमभ्युपगम्येत तर्हि—असङ्गत्वं पुरुषस्य हीयेत—इत्यपसिद्धान्तापत्तिः। यदुक्तम्—सुखदुःखमोहान्विता घटादय इति। तदसत्। सुखादीनामान्तरत्वाद्घटादीनां बाह्यत्वात्। तस्मान्न प्रधानं जगद्धेतुः ॥१॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

पूर्वस्मिन्पादे चेतनाद्ब्रह्मणो विलक्षणमचेतनं जगज्जायत इत्यत्र सांख्यान्प्रति लोकसिद्धं गोमयवृश्चिकादिनिदर्शनमभिहितम्। तावता सांख्यैः क्रियमाणस्याऽऽक्षेपस्य परिहृतत्वात् स्वपक्षसाधनसम्पन्नं परपक्षदूषणं चास्मिन्पादे प्रक्रम्य पूर्वाधिकरणे सांख्यमतं दूषितम्। इतःपरं वैशेषिकाणां मतं दूषयितव्यम्। तन्मतस्य च प्रक्रियाबहुलत्वात्तद्वासनावासित पुरुषस्तत्प्रक्रियासिद्धविलक्षणोत्पत्तिदृष्टान्तमन्तरेण ब्रह्मकारणवादं न बहु मन्यते। अतो 'विसदृशोत्पत्तौ काणादमतसिद्धो दृष्टान्तोऽस्ति न वा' इति विचार्यते। 'नास्ति' इति तावत्प्राप्तम्। यतः शुक्लः पटः तन्तुभ्यो जायते न तु रक्तेभ्यः। तस्मान्नास्ति।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अस्त्येव विसदृशोत्पत्तौ दृष्टान्तः। तथा हि—परमाणवः पारिमाण्डल्यपरिमाणयुक्ताः, नत्वणुपरिमाणयुक्ताः। द्वाभ्यां च परमाणुभ्यामणुपरिमाणरहिताभ्यामणुपरिमाणोपेतं

अणु द्व्यणुकमुत्पन्नमनणोः परिमण्डलात् । अदीर्घाद्द्व्यणुकाद्दीर्घं त्र्यणुकं तन्निदर्शनम् ॥४॥

(५६) परमाणुजगत्कारणत्वाधिकरणम् ॥३॥

जनयन्ति जगन्नो वा संयुक्ताः परमाणवः । आद्यकर्मजसंयोगाद्द्व्यणुकादिक्रमाज्जनिः ॥५॥
सनिमित्तानिमित्तादिविकल्पेष्वाद्यकर्मणः । असम्भवादसंयोगे जनयन्ति न ते जगत् ॥६॥

(५७) समुदायाधिकरणम् ॥४॥

समुदायावुभौ युक्तावयुक्तौ वाऽणुहेतुकः । एकोऽपरः स्कन्धहेतुरित्येवं युज्यते द्वयम् ॥७॥

कारण है, वहाँ कार्य-कारण में समानपरिमाणरूप धर्म नहीं है; ऐसे ही चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् की उत्पत्ति मानने पर समन्वय का कोई विरोध नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त विद्यमान है ।

५६. परमाणुजगत्कारणत्वाधिकरण

१. सङ्गति—अचेतन प्रधान जगत् का कारण भले ही न हो, पर नित्यज्ञानादिगुणयुक्त ईश्वर से अधिष्ठित परमाणु तो जगत् का कारण हो ही सकता है; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय--परमाणकारणवाद वैशेषिक सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय--संयुक्त परमाणु जगत् उत्पन्न कर सकते हैं, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सर्गारम्भ में परमाणुओं में क्रियाउत्पत्ति का कारण अदृष्ट है, उससे दो परमाणुओं में संयोग होता है और द्व्यणुकादि क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है ।

५. सिद्धान्त—सर्गारम्भ में क्रिया उत्पत्ति का निमित्त मानो या न मानो, दोनों ही दशा में परमाणु जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकते; अतः वैशेषिक सिद्धान्त से वेदान्तसमन्वय में कोई विरोध नहीं आताहै ।

५७. समुदायाधिकरण

१. सङ्गति—इससे पूर्व अर्धवैनाशिक वैशेषिक मत का निराकरण किया गया, अब वैनाशि-

---

द्व्यणुकमुत्पद्यते । इदमेकं निदर्शनम् । तथा ह्रस्वपरिमाणोपेतं दीर्घपरिमाणरहितं द्व्यणुकम् । तादृशेभ्यो विसदृशेभ्यस्त्रिभ्यो द्व्यणुकेभ्यो दीर्घपरिमाणोपेतमणुपरिमाणरहितं त्र्यणुकमुपद्यते । इदमपरं निदर्शनम् । एवमन्यान्यपि तत्प्रक्रियासिद्धानि निदर्शनान्युदाहर्तव्यानि ॥२॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

प्रलीने पूर्वसिद्धे जगति यदा महेश्वरस्य सिसृक्षा भवति तदा प्राणिकर्मवशान्निखिलेषु परमाणुष्वाद्यं कर्मोत्पद्यते । तस्मात्कर्मण एकः परमाणुः परमाण्वन्तरेण संयुज्यते । तस्माच्च संयोगाद्द्व्यणुकमारभ्यते । तेभ्यस्त्रिभ्यो द्व्यणुकेभ्यस्त्र्यणुकम् इत्यादिकक्रमेण जगदुत्पत्तौ बाधकाभावात्संयुक्ताः परमाणवो जगज्जनयन्ति ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यदेतदाद्यं कर्म तन्निर्निमित्तं सनिमित्तं वा । निर्निमित्तत्वे नियामकाभावात्सर्वदा तदुत्पत्तौ प्रलयेऽपि तत्प्रसङ्गः । सनिमित्तत्वेऽपि तन्निमित्तं दृष्टम, अदृष्टं वा । न तावद्दृष्टम । प्रयत्नस्याभिघातस्य वा शरीरोत्पत्तेः प्रागसम्भवात् । ईश्वरप्रयत्नस्य नित्यस्य कादाचित्काद्यकर्मोत्पत्तिं प्रत्यनियामकत्वात् । नाप्यदृष्टमाद्यकर्मनिमित्तम् । आत्मसमवेतस्यादृष्टस्य परमाणुभिरसम्बन्धात् । अत एवमादिविकल्पप्रसरे सत्याद्यकर्मासम्भवान्न परमाणुसंयोगो जायते । ततः 'संयुक्तेभ्यः परमाणुभ्यो जगज्जनिः' इति मतं दूरापास्तम् ॥३॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

बाह्यास्तित्ववादिनो बौद्धा मन्यन्ते—द्वौ समुदायौ—बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । तत्र बाह्यो भूनदी-

स्थिरचेतनराहित्यात्स्वयं चाऽचेतनत्वतः । न स्कन्धानामणूनां वा समुदायोऽत्र युज्यते ॥८॥

(५८) अभावाधिकरणम् ॥५॥

विज्ञानस्कन्धमात्रत्वं युज्यते वा न युज्यते । युज्यते स्वप्नदृष्टान्ताद्बुद्धयैव व्यवहारतः ।९॥

कत्वसादृश्य के कारण सर्ववैनाशिक सिद्धान्त बुद्धिस्थ है जिसका निराकरण अवान्तर सङ्गति के कारण इस अधिकरण द्वारा किया जायेगा।

२. विषय—बाह्यास्तित्ववाद सौत्रान्तिक-वैभाषिकों का है, उसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या बाह्य अस्तित्ववाद प्रमाण मूलक है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष-परमाणुहेतुक बाह्य पृथिव्यादि भूतचतुष्टय एवं रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार-संज्ञक पञ्चस्कन्धहेतुक आध्यात्मिक समुदाय; ऐसा बाह्य अस्तित्ववादी बौद्धों का मत प्रमाणमूलक है।

५. सिद्धान्त—कारण स्वरूपतः अचेतन है और स्थिरचैतन्य से रहित भी है, अतः स्कन्ध और परमाणु का समुदाय बाह्य अस्तित्ववादियों के मत से नहीं बन सकता।

५८. अभावाधिकरण

१. सङ्गति—बाह्यार्थवादी का मत इससे पूर्व निराकृत कर दिया गया, अब उसी को उपजीव्य बनाकर क्षणिकविज्ञानवादी योगाचार का मत उपस्थित होता है; अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति है।

२. विषय—विज्ञानवादी योगाचार का सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—बाह्य पदार्थ का अस्तित्व न मानने पर विज्ञानस्कन्धमात्र जगत् को मानना युक्ति-सङ्गत है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—स्वप्न दृष्टान्त को देखते हुए विज्ञानवाद युक्तिसङ्गत सिद्ध होता है, क्षणिक बुद्धि ही व्यवहारदृष्टि से स्वप्न की भाँति बाहर प्रतीत होती है।

समुद्रादिकः। आन्तरश्चित्तचैत्यात्मकः। तदेतत्समुदायद्वयमेवाशेषं जगत्। तत्र बाह्यसमुदाये परमाणवः कारणम्। ते च परमाणवश्चतुर्विधाः—केचित्कठिनाकाराः पार्थिवाख्याः। अपरे स्निग्धा आप्याः। अन्ये चोष्णास्तैजसाख्याः। अन्ये चलनात्मका वायवीयाः। तेभ्यश्चतुर्विधेभ्यः परमाणुभ्यो युगपत्पुञ्जीभूतेभ्यो बाह्यसमुदायो जायते। आन्तरस्य समुदायस्य स्कन्धपञ्चकं कारणम्। रूपस्कन्धः, विज्ञानस्कन्धः, वेदनास्कन्धः, संज्ञास्कन्धः, संस्कारस्कन्धश्चेति पञ्च स्कन्धाः। तत्र चित्तेन निरूप्यमाणाः शब्दस्पर्शादयो रूपस्कन्धः। तदभिव्यक्तिर्विज्ञानस्कन्धः। तज्जन्यं दुःखं वेदनास्कन्धः। देवदत्तादिनामधेयं संज्ञास्कन्धः। एतेषां वासनाः संस्कारस्कन्धः। तेभ्यः पञ्चभ्यः पुञ्जीभूतेभ्यः आन्तरसमुदायो जायते। तस्मात् युज्यते समुदायद्वयम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—किमणूनां स्कन्धानां च संघातोत्पत्तौ निमित्तभूतश्चेतनोऽन्योऽस्ति, किंवा स्वयमेव संहन्यते। आद्येऽपि चेतनः स्थायी, क्षणिको वा। स्थायित्वे—अपसिद्धान्तः। क्षणिकत्वे प्रथमं स्वयंलब्धात्मकः पश्चात्संघातोत्पत्तिं करोतीति वक्तुमशक्यम्। द्वितीये तु—अचेतनाः स्कन्धा अणवश्च नियामकं चेतनमन्तरेण प्रतिनियताकारेण कथं संहन्यन्ताम्। तस्मान्न युक्तं समुदायद्वयम् ॥४॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

केचिद्बौद्धा बाह्यार्थमपलपन्तो विज्ञानमात्रं तत्त्वमाहुः। न च तत्र व्यवहारानुपपत्तिः। स्वप्ने बाह्यार्थाननपेक्ष्य केवलया बुद्धया व्यवहारदर्शनात्तथैव जाग्रद्व्यवहारस्याप्युपपत्तेः। तस्मात्—विज्ञानस्कन्धमात्रत्वं युज्यते।

प्रबाधात्स्वप्नवैषम्यं बाह्यार्थस्तूपलभ्यते । बहिर्वदिति तेऽप्युक्तिर्नातो धीरर्थरूपभाक् ॥१०॥

(५९) एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ॥६॥

सिद्धिः सप्तपदार्थानां सप्तभङ्गीनयान्न वा । साधकन्यायसद्भावात्तेषां सिद्धौ किमद्भुतम् ॥११॥

---

५. सिद्धान्त—स्वप्नदृष्टान्त में वैषम्य है क्योंकि बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है, उसका बाध नहीं होता; इसलिए 'बहिर्वदवभासते' यह युक्ति ठीक नहीं है । अतः बुद्धि ही घट-पटादि बाह्यजगत् के रूप में प्रतीत होती है, योगाचार का यह मत भ्रान्तिमूलक है ।

५९. एकस्मिन्नसम्भवाधिकरण

१. सङ्गति—इससे पूर्व अधिकरण में बौद्ध मत का निराकरण किया गया, अब बुद्धिस्थ जैन मत का निराकरण करना है; अतः पिछले अधिकरण के साथ इस अधिकरण की बुद्धिसंनिधिलक्षण सङ्गति है ।

२. विषय—समन्वयविरुद्ध जैन सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—सर्वत्र सर्वभङ्गीन्याय से सप्त पदार्थ की सिद्धि होती है, या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सप्तपदार्थसाधकन्याय के रहते हुए उनकी सिद्धि में क्या आश्चर्य है ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—विषमो हि स्वप्नदृष्टान्तः । प्रबोधदशायां स्वप्नस्य बाध्यमानत्वात् । जाग्रद्व्यवहारस्य च न क्वचिद्बाध पश्यामः । न च बाह्यार्थसद्भावे प्रमाणाभावः । उपलब्धेरेव प्रमाणत्वात् । उपलभ्यन्ते हि घटादयो बहिष्ट्वेन । अथोच्येत बुद्धिरेव बाह्यघटादिवदवभासते । तथा चाऽऽहुः—"यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं तद्बहिर्वदवभासते" इति ।

एवं तर्हि त्वदुक्तिरेव बाह्यार्थसद्भावे प्रमाणमिति ब्रूमः । क्वचिदपि बाह्यार्थाद्भावे तद्व्युत्पत्तिराहित्यात् । 'बहिवत्' इत्युपमानोक्तिनं सङ्गच्छेत् । तस्मात्—बाह्यार्थसद्भावाद्विज्ञानमात्रत्वं न युक्तम् ॥५॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

आर्हता मन्यन्ते—जीवोऽऽजीवश्चेति द्वौ पदार्थौ । जीवश्चेतनः शरीरपरिमाणः सावयवः । अजीवः षड्विधः । तत्र महीधरादिरेकः, आस्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाख्याः पञ्च । 'आस्रवत्यनेन जीवो विषयेषु' इत्यास्रव इन्द्रियसंघातः । 'संवृणोति विवेकम्' इत्यविवेकादिः संवरः । 'निःशेषेण जीर्यत्यनेन कामक्रोधादिः' इति केशोल्लुञ्चनतप्तशिलारोहणादिकं तपो निर्जरः । कर्माष्टकेनाऽऽपादिता जन्ममरणपरम्परा बन्धः । चत्वारि घातिकर्माणि पापविशेषरूपाणि । चत्वारि चाघातिकर्माणि पुण्यविशेषरूपाणि । शास्त्रोक्तोपायेन तेभ्योऽष्टभ्यः कर्मभ्यो विनिर्गतस्य जीवस्य सततोर्ध्वगमनं मोक्षः । त एते सप्त पदार्थाः सप्तभङ्गीरूपेण न्यायेन व्यवस्थाप्यन्ते । स्यादस्ति,स्यान्नास्ति,स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च, इति सप्तभङ्गीनयः । अयमर्थः—स्याच्छब्द ईषदर्थवाची निपातः । प्रतिवादिनोऽपि चतुर्विधाः—सद्वादिनः, असद्वादिनः, सदसद्वादिनः, अनिर्वचनीयवादिनश्चेति । पुनरप्यनिर्वचनीयमते मिश्रितानि सदादिमतानीति त्रिविधा वादिनः । तानेतान्सप्तप्रविधान्वादिनः प्रति सप्तविधा न्यायाः प्रयोक्तव्याः । तद्यथा—सद्वादी समागत्याऽऽर्हतं प्रति 'किं त्वमन्मते मोक्षोऽस्ति' ? इति पृच्छति । तत्राऽऽर्हत उत्तरं ब्रूते—'ईषदस्ति' इति एवमन्यानपि वादिनः प्रति 'स्यान्नास्ति' इत्यादीन्युदाहर्तव्यानि । तावता वादिनः सर्वे निर्विण्णाः सन्तो नोत्तरं प्रतिपद्यन्ते । अतोऽस्य सप्तभङ्गीरूपस्य साधकन्यायस्य सद्भावाज्जीवादीनां सप्तपदार्थानां सिद्धौ किमत्राऽऽश्चर्यम् ।

एकस्मिन्सदसत्त्वादिविरुद्धप्रतिपादनात् । अपन्यायः सप्तभङ्गी न च जीवस्य सांशता ॥१२॥

(६०) पत्यधिकरणम् (७)

तटस्थेश्वरवादोऽयं स युक्तोऽथ न युज्यते । युक्तः कुलालदृष्टान्तान्निमित्तत्वस्य सम्भवात् ॥१३॥

न युक्तो विषमत्वादिदोषाद्वैदिक ईश्वरे । अभ्युपेते तटस्थत्वं त्याज्यं श्रुतिविरोधतः ॥१४॥

---

५. सिद्धान्त—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च; ऐसे एक साथ विरुद्ध सदसत्त्वादि धर्मों का एकधर्मी में प्रतिपादन होने के कारण जैनियों का सप्तभङ्गीन्याय दुर्न्याय है। साथ ही उन्होंने जीव को सावयव भी माना है, जो युक्तिविरुद्ध है; अतः सप्तभङ्गीन्याय भ्रान्तिमूलक होने के कारण उससे समन्वय में कोई विरोध नहीं आता।

६०. पत्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण द्वारा सदसत्त्वादि परस्परविरुद्ध धर्म एकधर्मी में कहना असम्भव होने से अनेकान्तवाद का खण्डन किया गया, वैसे ही एक ईश्वर में सम्पूर्ण जगत् का उपादानत्व एवं कर्तृत्व, ऐसे विरुद्ध धर्मों का होना असम्भव है; अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—तटस्थ ईश्वरकारणवाद माहेश्वर सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—ईश्वर केवल जगत् का अधिष्ठाता है, उपादानकारण नहीं; ऐसा माहेश्वर सिद्धान्त प्रमाणमूलक है, अथवा भ्रान्तिमूलक ?

४. पूर्वपक्ष—घटादि कार्य का निमित्तकारण कुलाल है, ऐसे ही जगत् का केवल निमित्तकारण ईश्वर को कहना युक्तिसंगत ही है।

५. सिद्धान्त—वेदप्रतिपादित ईश्वर को केवल निमित्तकारण मानने पर उसमें वैषम्यनैर्घृण्यदोष आ जायेंगे, अतः श्रुतिविरुद्ध होने के कारण तटस्थईश्वरकारणवाद त्यागने योग्य है, वह युक्तियुक्त नहीं है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सप्तभङ्गीरूपोऽयमपन्यायः। एकस्य जीवपदार्थस्य सद्वादिनं प्रति सद्रूपत्वम्, असद्वादिनं प्रत्यसद्रूपत्वं च, इत्येवमादिविरुद्धधर्मप्रतिपादकत्वात्। न च जीवस्य सावयवत्वं युज्यते। तदानित्यत्वे च मोक्षः कस्य पुरुषार्थः स्यात्। तस्मात् न्यायाभासेन सप्तभङ्ग्याख्येन जीवादिपदार्थानां न सिद्धिः॥६॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

पूर्वाध्यायस्योपान्त्याधिकरणे 'जगतो निमित्तमुपादानं चेश्वरः, इत्यागमबलाद्युक्तम, तदेतदसहमानास्तार्किका शैवादयः केवलं निमित्तत्वमीश्वरस्य मन्यन्ते। युक्तिं चाऽऽहुः—यथा कुलालोऽनुपादानभूतो दण्डचक्रादीन्नियच्छन्कर्ता भवति, तथा तटस्थ ईश्वरः।

इति प्राप्ते ब्रूमः न युक्तं केवलनिमित्तत्वम्। वैषम्यनैर्घृण्यदोषस्य दुष्परिहरत्वात्। कथं तर्हि त्वया दोषः परिहृत? इति चेत्। 'प्राणिकर्मसापेक्षत्वात्' इति ब्रूमः। तथात्वे चाऽऽगमोऽस्माकं प्रमाणम्। त्वयाऽप्यन्ततो गत्वाऽऽगमश्चेदङ्गीक्रियते, तर्हि तटस्थत्वमीश्वरस्य परित्याज्यं स्यात्। "बहु स्यां प्रजायेय (छा० ६-२-३) इत्युपादानश्रुत्या विरोधात्। तस्मान्न युक्तस्तटस्थेश्वरवादः॥७॥

(६१) उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् (८)

जीवोत्पत्त्यादिकं पाञ्चरात्रोक्तं युज्यते न वा । युक्तं नारायणव्यूहतत्समाराधनादिवत् ॥१५॥
युज्यतामविरुद्धांशो जीवोत्पत्तिर्न युज्यते । उत्पन्नस्य विनाशित्वे कृतनाशादिदोषतः ॥१६॥

(आदित श्लो० सं० १३८)

(इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः।)

---

६१. उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में तटस्थईश्वरकारणवाद का निराकरण किया गया, अब अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद भागवत सिद्धान्त पर विचार किया जायेगा; अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की प्रत्युदाहरण संगति है।

२. विषय—पाञ्चरात्र सिद्धान्त इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३ संशय—एक भगवान् वासुदेव जगत का अधिष्ठाता एवं उपादान है, उससे संकर्षणनामक जीव उत्पन्न हुआ, उस जीव से प्रद्युम्ननामक मन उत्पन्न हुआ और उस मन से अनिरुद्ध नामक अहंकार उत्पन्न हुआ; ऐसा भागवत सिद्धान्त प्रामाणिक है, अथवा अप्रामाणिक है ?

४. पूर्वपक्ष—'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा०७-२६-२) इस श्रुति से परमात्मा का अनेक होना अधिगत होता है, ऐसे ही अभिगमनादिरूप अनन्यभाव से उसकी आराधना भगवत्प्राप्ति का साधन भी है; अतः भागवत सिद्धान्त प्रामाणिक है।

५. सिद्धान्त—भागवत सिद्धान्त वेदविरुद्ध अंश में प्रामाणिक मान भी लिया जाय, फिर भी जीवोत्पत्ति अंश में वेदविरुद्ध होने के कारण, प्रामाणिक नहीं हैं क्योंकि उत्पन्न होने वाला पदार्थ विनाशी होता है। अतः जीव को उत्पत्तिशील मानने पर कृतविप्रनाश और अकृताभ्यागम दोष भी आयेंगे, इसलिए भागवत मत प्रामाणिक नहीं है।

(द्वितीय अध्याय द्वितीय पाद समाप्त)

अष्टमाधिकरणमारचयति—

पांचरात्रा भागवता मन्यन्ते—'भगवानेको वासुदेवो जगदुपादानं निमित्तं च । तत्समाराधनध्यानज्ञानैर्भवबन्धच्छेदः । तस्माच्च वासुदेवात्संकर्षणाख्यो जीवो जायते । जीवाच्च प्रद्युम्नाख्यं मनः । मनसश्चानिरुद्धाख्योऽहंकारः । त एते वासुदेवादयश्चत्वारो व्यूहाः सर्वात्मका इति ।

तत्र वासुदेवं तत्समाराधनादिकं च श्रुतेरविरोधादभ्युपगच्छामः । यत्तु जीव उत्पद्यत इत्युक्तम् । तदसत् । कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । पूर्वसृष्टो यो जीवस्तस्योत्पत्तिमत्त्वे प्रलयदशायां तस्मिन्विनष्टे सति तत्कृतधर्माधर्मयोरफलप्रदत्वेन विनाशः प्रसज्येत । अस्मिंश्च कल्प उत्पद्यमाननूतनजीवस्य धर्माधर्मयोः पूर्वमननुष्ठितयोः सतोरिह सुख-दुःखप्राप्तिर्भवतीत्यकृताभ्यागमः प्रसज्येत । तस्माज्जीवोत्पत्त्यादिकं न युक्तम् । ८ ।

(इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः)

।। द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

(६२) वियदधिकरणम् ।।१।।

व्योम नित्यं जायते वा हेतुत्रयविवर्जनात् । जनिश्रुतेश्च गौणत्वान्नित्यं व्योम न जायते ।।१।।
एकज्ञानात्सर्वबुद्धेर्विभक्तत्वाज्जनिश्रुतेः । विवर्ते कारणैकत्वाद्ब्रह्मणो व्योम जायते ।।२।।

(६३) मातरिश्वाधिकरणम् ।।२।।

वायुर्नित्यो जायते वा छान्दोग्येऽजन्मकीर्तनात् । संबाऽनस्तमिता देवतेत्युक्तेश्च न जायते ।।३।।

।। द्वितीय अध्याय तृतीयः पादः ।।

(६२) वियदधिकरण

१. सङ्गति—पाद भिन्न होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की सङ्गति बतलाना अपेक्षित नहीं है।

२. विषय—सृष्टिश्रुति में अविरोध बतलाने के लिए सर्वप्रथम इस अधिकरण में आकाश पर विचार किया जाता है।

३. संशय—आकाश उत्पन्न होता है अथवा नित्य है ?

४. पूर्वपक्ष—समवायी, असमवायी एवं निमित्तकारण के न होने से आकाश उत्पन्न नहीं होता और आकाश उत्पत्ति श्रुति गौण भी है। अतः आकाश नित्य है।

५. सिद्धान्त—एकज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा, कार्यजगत् के विभाग और आकाश की उत्पत्ति-श्रुति को देखते हुए ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति मानना ही उचित है, उसे नित्य कहना ठीक नहीं है। साथ ही, विवर्तवाद में समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारणत्रय की अपेक्षा नहीं होती; वहाँ एक ही कारण से सम्पूर्ण कार्य की उत्पत्ति सिद्धान्तसम्मत है।

(६३) मातरिश्वाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त न्याय का अतिदेश इस अधिकरण में होने के कारण पूर्व के साथ इसकी अतिदेश सङ्गति है।

तृतीयपादस्य प्रथमाधिकरणमरचयति—

तैत्तिरीयके—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २-१) इति श्रूयते। तत्राऽऽकाशं नित्यं, न तु जन्मवत्। कुतः? आकाशोत्पादकस्य समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्यकारणत्रितयस्य दुर्निरूपत्वात्। 'सम्भूतः' इति जनिश्रुतिस्तु सम्प्रतिपन्नब्रह्मकार्यवद्व्योम्नि सत्ताश्रयत्वगुणयोगात्प्रवृत्ता। तस्मादनाद्यन्तं व्योम, न जायते।

इति प्राप्ते ब्रूमः—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं तावदशेषेषु वेदान्तेषु डिण्डिमः। तच्च व्योम्नो ब्रह्मकार्यत्वे मृद्घटन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेकादुपपादयितुं सुशकम्, नान्यथा। किंच—आकाशं जायते, विभक्तत्वात् घटवत्। नचायमसिद्धो हेतुः। वाय्वादिवैलक्षण्यस्याऽऽकाशे प्रसिद्धत्वात्। न च ब्रह्मण्यनैकान्तिकत्वम्। सर्वात्मकस्य ब्रह्मणः कस्माच्चिदपि विभक्तत्वस्य दुर्भणत्वात्। जनिश्रुतिश्चोत्पत्तिवादिन्यनुगृहीता भवति। यत्तु कारणत्रितयासम्भव इत्युक्तम्। तदसत्। आरम्भवादे त्रितयापेक्षायामपि विवर्तवादे तदनपेक्षत्वात्। तस्मात्—एतेभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मणः कारणाद्व्योम जायते।।१।।

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

तैत्तिरीयक एव—"आकाशाद्वायुः" (तै० २-१) इति श्रूयते। सेयमुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी। छान्दोग्ये सृष्टिप्रकरणे तेजोबन्नानामेवोत्पत्तेरभिधानात्। ननु क्वाचित्कश्रवणमन्यत्र श्रुतं न वारयितुमुत्सहते'

श्रुत्यन्तरोपसंहाराद्गौण्यनस्तमयश्रुतिः । वियद्वज्जायते वायुः स्वरूपं ब्रह्म कारणम् ॥४॥

(६४) असम्भवाधिकरणम् (३)

सद्ब्रह्म जायते नो वा कारणत्वेन जायते । यत्कारणं जायते तद्वियद्वाय्वादयो यथा ॥५॥
असतोऽकारणत्वेन खादीनां सत उद्भवात् । व्याप्तेरजादिवाक्येन बाधात्सन्नैव जायते ॥६॥

---

२. विषय—वायु उत्पत्ति श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—वायु उत्पन्न होता है, अथवा नित्य है?

४. पूर्वपक्ष—छान्दोग्य में वायु का उत्पत्ति न होने के कारण वायु नित्य है। साथ ही, 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १-५-२२) इस बृहदारण्यक श्रुति में वायु के अस्तमय का प्रतिषेध किया गया है, इसलिए भी वायु नित्य है।

५. सिद्धान्त—तैत्तिरीय श्रुति का उपसंहार देखते हुए अनस्तमय श्रुति को गौणी मानना चाहिए। अतः आकाश को भाँति वायु भी उत्पन्न होता है जिसका कारण आकाश उपहित ब्रह्म-चैतन्य है।

(६४) असम्भवाधिकरण

१. सङ्गति—आकाश और वायु की उत्पत्ति असम्भव होने पर भी उत्पत्तिश्रुति के आधार पर पिछले अधिकरणों में उनकी उत्पत्ति का समर्थन किया गया, वैसे ही श्रुति के बल से अन्य ब्रह्म से अन्य ब्रह्म की उत्पत्ति माननी चाहिए; ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—ब्रह्मोत्पत्तिश्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—सद्ब्रह्म उत्पन्न होता है, अथवा नित्य है?

४. पूर्वपक्ष—कारण होने से ब्रह्म उत्पन्न होता है क्योंकि जो कारण होता है वह उत्पन्न होते देखा गया है, जैसे कि आकाश और वायु।

५. सिद्धान्त—ब्रह्म का कोई कारण नहीं क्योंकि ब्रह्म से भिन्न सत् और असत्, ऐसे दो पदार्थ कल्पित हैं; उनमें असत् तो किसी का उपादानकारण हो ही नहीं सकता और सत् से आकाशादि की

इति न्यायेन तैत्तिरीयश्रुतेः कुतो गौणत्वमिति चेत्। 'श्रुत्यन्तरविरोधात्' इति ब्रूमः। बृहदारण्यके—"सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः" (बृ० १-५-२२) इति वायोर्विनाशप्रतिषेधात्। उत्पत्तिमत्त्वे च तदयोगात्। तस्मान्न जायते वायुः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—छान्दोग्ये जन्माश्रवणेऽपि गुणोपसंहारन्यायेन तैत्तिरीयवाक्यस्येतरत्रोपसंहारे सति श्रुतसेव छान्दोग्ये वायुजन्म। अनस्तमयश्रुतिस्तु न मुख्या। उपासनाप्रकरणपठितत्वेन स्तुत्यर्थत्वात्। आकाशोत्पत्तिहेतवः वात्रानुसंधेयाः। न च वायोराकाशकार्यत्वेन ब्रह्मण्यनन्तर्भावाद्ब्रह्मज्ञानेन वायुज्ञानं न सिध्येदिति शङ्कनीयम्। पूर्वपूर्वकार्यविशिष्टस्य ब्रह्मण उत्तरोत्तरकार्यहेतुत्वस्य वक्ष्यमाणतया वियद्रूपापन्नस्य ब्रह्मण एव वायुकारणत्वात्। तस्माद्वायुर्जायते ॥२॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्ये—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१) इति श्रूयते। तत्सद्रूपं ब्रह्म जन्मवद्भवितुमर्हति। कारणत्वात्, वियद्वत्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सद्रूपं ब्रह्म न जायते। कुतः? तज्जनकस्य कारणस्य दुर्निरूपत्वात्। तथा हि—न तावदसत्कारणम्। "कथमसतः सज्जायेत" (छा० ६-२-२) इति निषेधात्। नापि सदेव सतः

(६५) तेजोऽधिकरणम् ॥४॥

ब्रह्मणो जायते वह्निर्वायोर्वा ब्रह्मसंयुतात् । तत्तेजोऽसृजतेत्युक्तेर्ब्रह्मणो जायतेऽनलः ॥७॥
वायोरग्निरिति श्रुत्या पूर्वश्रुत्येकवाक्यतः । ब्रह्मणो वायुरूपत्वमापन्नादग्निसम्भवः ॥८॥

(६६) अबधिकरणम् (५)

ब्रह्मणोऽपां जन्म किं वा वह्नेर्नाग्नेर्जलोद्भवः । विरुद्धत्वान्नीरजन्म ब्रह्मणः सर्वकारणात् ॥९॥

उत्पत्ति सुनी जाती है। साथ ही ब्रह्म का अज, नित्य, शाश्वत कहे जाने के कारण 'यद्यत्कारणं तत्तद् उत्पत्तिशीलं' इस व्याप्ति का बाध हो जाता है। अतः सद्ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता।

(६५) तेजोऽधिकरण

१. सङ्गति—सामान्य से सामान्य की उत्पत्ति चाहे न भी मानी जाये फिर भी सामान्य ब्रह्म से विशेष तेज की उत्पत्ति तो मान ही सकते हैं, इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी प्रत्युदाहरण सङ्गति है।

२. विषय—तेज-उत्पत्ति श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—क्या ब्रह्म से वह्नि उत्पन्न होता है अथवा ब्रह्मसंयुक्त वायु से ?

४ पूर्वपक्ष—'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-३) इस श्रुति के आधार पर ब्रह्म से ही वह्नि की उत्पत्ति माननी चाहिए।

५. सिद्धान्त—'वायोरग्निः' (तै० २-१) इस तैत्तिरीयश्रुति के साथ छान्दोग्यश्रुति की एकवाक्यता मान लेने पर वायुरूपापन्न ब्रह्म से अग्नि की उत्पत्ति माननी चाहिए, केवल ब्रह्म से नहीं।

(६६) अबधिकरण

१. सङ्गति—वायु से तेज उत्पन्न हुआ, ऐसा कहने के बाद अब जल एवं पृथ्वी बुद्धिस्थ हैं। अतः बुद्धिसन्निधानरूप सङ्गति के कारण आगे के दो अधिकरण प्रारम्भ किये जाते हैं।

२. विषय—जल की उत्पत्ति श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

कारणम्। आत्माश्रयापत्तेः। नापि वियदादिकं सतः कारणम्। वियदादीनां ततः सतो जायमानत्वात्। या तु व्याप्तिः 'यद्यत्कारणं, तत्तज्जायते' इति, सा "स वा एष महानज आत्मा" (बृ० ४-४-२५) इति श्रुतिबाध्या। तस्मात्—सद्ब्रह्म नव जायते ॥३॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्ये—"तत्तेजोऽसृजत" (छा० ६-२-३) इति तेजसो ब्रह्मजत्वं श्रूयते। तैत्तिरीयके—"वायोरग्निः" (तै० २-१) इति वायुजत्वम्। तत्र "वायोः' इति पञ्चम्या आनन्तर्यार्थस्यापि सम्भवात्केवलब्रह्मजन्यं तेजः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अनुवर्तमानेन सम्भूतशब्देनान्वितया 'वायोः' इति पञ्चम्या' उपादानार्थत्वस्यैव मुख्यत्वात्। उभयोः श्रुत्योरेकवाक्यत्वे सति वायुरूपापन्नाद्ब्रह्मणस्तेजो जायत इति लभ्यते ॥४॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

यद्यपि "तदपोऽसृजत' (छा० ६-२-३), "अग्नेरापः"(तै० २-१)इत्युभयोश्छान्दोग्यतैत्तिरीययोस्तेजोजन्यत्वमेवापां श्रूयते, तथाऽपि न तद्युक्तम्। निवर्त्यनिवर्तकयोरग्निजलयोर्विरुद्धयोर्न हेतुहेतुमद्भाव इति पूर्वपक्षः।

अग्नेराप इति श्रुत्या ब्रह्मणो वह्न्युपाधिकात् । अपां जनिर्विरोधस्तु सूक्ष्मयोर्नाग्निनीरयोः ॥१०॥

(६७) पृथिव्यधिकरणम् ॥६॥

ता अन्नमसृजन्तेति श्रुतमन्नं यवादिकम् । पृथिवी वा यवाद्येव लोकेऽन्नत्वप्रसिद्धितः ॥११॥
भूताधिकारात्कृष्णस्य रूपस्य श्रवणादपि । तथाऽद्भ्यः पृथिवीत्युक्तेरन्नं पृथ्व्यन्नहेतुतः ॥१२॥

---

३. संशय—ब्रह्म से जल की उत्पत्ति होती है, अथवा अग्नि से ?

४. पूर्वपक्ष—जल और अग्नि का परस्पर विरोध होने के कारण उनका कार्य-कारणभाव मानना उचित नहीं, अतः सर्वकारण ब्रह्म से ही जल की उत्पत्ति माननी चाहिए। 'अग्नेरापः' (तै० २-१) इस श्रुति से वह्नि उपाधि वाले ब्रह्मचैतन्य से ही जल की उत्पत्ति माननी चाहिए।

५. सिद्धान्त—स्थूल वह्नि और जल का विरोध है, सूक्ष्म का नहीं। अतः सूक्ष्मवह्नि से जल की उत्पत्ति मानने में कोई विरोध नहीं है।

६७. पृथिव्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण द्वारा निरूपित है।

२ विषय—पृथ्वी-उत्पत्तिश्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—'ता अन्नमसृजन्त' (छा० ६-२-४) इस श्रुति में यवादि अन्न की उत्पत्ति बतलायी गयी है, अथवा पृथ्वी की ?

४. पूर्वपक्ष—लोक में अन्न शब्द की प्रसिद्धि यवादि अर्थ में ही है। इसलिए जल से यवादि की ही उत्पत्ति माननी चाहिए, पृथ्वी की नहीं।

५. सिद्धान्त—भूत उत्पत्ति का प्रसंग होने से और कृष्णरूप का श्रवण होने से भी जल से पृथ्वी की उत्पत्ति माननी चाहिए। अन्न का कारण होने से पृथ्वी को भी अन्न शब्द से कहा गया है। अतः 'अद्भ्यः पृथिवी' (जल से पृथिवी उत्पन्न हुई) तथा 'ता अन्नमसृजन्त' ये दोनों श्रुतियाँ समानार्थक हैं, इन दोनों की एकवाक्यता होने के कारण इनका विरोध नहीं है।

पञ्चीकृतयोर्दृश्यमानयोर्विरोधेऽप्यपञ्चीकृतयोः श्रुत्येकसमधिगम्ययोर्विरोधकल्पनायोगात्। संतापाधिक्ये स्वेदवृष्ट्युद्भवदर्शनाच्च। श्रुतिद्वयानुसारेण तेजोरूपपन्नाद्ब्रह्मणोऽपां जनिरिति सिद्धान्तः ॥५॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्ये—'ता अन्नमसृजन्त' (छा० ६-२-४) इत्यद्भ्योऽन्नस्य जन्म श्रूयते। तत्रान्नशब्दस्य लोकप्रसिद्ध्या व्रीहियवादिकमर्थः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—पृथिव्यत्रान्नशब्दार्थः। पञ्चमहाभूतसृष्टेरधिकृतत्वात्। किं च "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्, यच्छुक्लं तदपाम्, यत्कृष्णं तदन्नस्य" इति कृष्णरूपं पृथिव्यां बहुलमुपलभ्यते, न तु व्रीहियवादौ। तथा 'अद्भ्यः पृथिवी' (तै० २-१) इति तैत्तिरीयकश्रुत्येकवाक्यताबलादत्रान्नं पृथिवी। न चान्नशब्दस्य तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। कार्यकारणयोरन्नपृथिव्योरभेदविवक्षया तदुपपत्तेः। तस्मादन्नं पृथिवी ॥६॥

(६८) तदभिध्यानाधिकरणम् ।७॥

व्योमाद्याः कार्यकर्तारो ब्रह्म वा तदुपाधिकम् । व्योम्नो वायुर्वायुतोऽग्निरित्युक्तेः खादिकर्तृता ॥१३॥
ईश्वरोऽन्तर्यमयतीत्युक्तेर्व्योमाद्युपाधिकम् । ब्रह्म वाय्वादिहेतुः स्यात्तंजआदीक्षणादपि ॥१४॥

(६९) विपर्ययाधिकरणम् ॥८॥

सृष्टिक्रमो लये ज्ञेयो विपरीतक्रमोऽथ वा । क्लृप्तं कल्प्याद्वरं तेन लये सृष्टिक्रमो भवेत् ॥१५॥

६८. तदभिध्यानाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरणों में महाभूतोत्पत्ति श्रुति का विरोध दूर किया गया, अब उन्हीं भूतों का आश्रय लेकर कुछ अन्य बात का भी विचार करना है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसको आश्रयाश्रयीभाव सङ्गति है।

२. विषय—भूतोत्पत्ति श्रुति का पुनर्विचार इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या वायु आदि भूतों की उत्पत्ति तत्तद्-पूर्व उत्पन्न भूतोपहित ब्रह्म से होती है, अथवा केवल भूत से ?

४. पूर्वपक्ष—'आकाशाद्वायुः' (आकाश से वायु उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुतियों से पूर्व-पूर्व भूत से उत्तर-उत्तर भूत की उत्पत्ति माननी चाहिए, ब्रह्म से नहीं।

५. सिद्धान्त—'ईश्वर सबके भीतर रहकर नियमन करता है' इस श्रुति के आधार पर आकाशादि उपाधि से उपहित ब्रह्मचैतन्य अन्य भूतोत्पत्ति का कारण है। 'तत्तेज ऐक्षत' (उस तेज ने संकल्प किया) ऐसा तेज में ईक्षण सुना गया है जो तेज का नहीं है, अपितु तेज उपहित ब्रह्मचैतन्य का है।

(६९) विपर्ययाधिकरण

१. सङ्गति—भूतों की उत्पत्ति का विचार अब तक किया गया है, अब बुद्धिस्थ विलय-क्रम का विचार करना है; इसलिए पूर्व के साथ इस अधिकरण की प्रसङ्ग सङ्गति है।

२. विषय—भूतों का लय-क्रम इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—जिस क्रम से भूतों की उत्पत्ति हुई है, उसी क्रम से इनका विलय होता है, अथवा विपरीत क्रम से ?

४. पूर्वपक्ष—उभयवादी सिद्ध होने के कारण निर्विवाद उत्पत्तिक्रम से ही भूतों का विलय मानना चाहिए, विपरीत क्रम तो कल्प्यमान होने के कारण विवादास्पद है।

सप्तमाधिकरणमारचयति—

पूर्वाधिकरणेषु पूर्वपूर्वकार्योपाधिकाद्ब्रह्मण उत्तरोत्तरकार्योत्पत्तिः, इति यदेतत्सिद्धवत्कृत्य सिद्धान्तितम्, तदयुक्तम्। ''आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः' (तै० २-१) इत्यादौ ब्रह्मनिरपेक्षात्केवलाद्-व्योमादेरुत्तरकार्योत्पत्तिश्रवणात्।

इति प्राप्ते ब्रूम—'य आकाशमन्तरो यमयति'' बृ० ३-७ १२) 'यो वायुमन्तरो यमयति'' (बृ० ३-७-७) इत्यादिनाऽन्तर्यामिब्राह्मणे व्योमादेः स्वातन्त्र्यं निवारितम्। तथा 'तत्तेज ऐक्षत'' ''ता आप ऐक्षन्त (छा० ६ २-३, ४) इति तेजआदेरीक्षणपूर्वक स्रष्टृत्वं श्रूयते। तच्चेक्षण चेतन ब्रह्म-निरपेक्षाणामचेतनानां न सम्भवति। तस्मात्—व्योमाद्युपाधिकस्य ब्रह्मण एव कारणत्वम्। ७।

अष्टमाधिकरणमारचयति—

आकाशादिक्रमः सृष्टौ क्लृप्तः। अतः प्रलयेऽपि स एव क्रमः।

हेतावसति कार्यस्य न सत्त्वं युज्यते यतः । पृथिव्यप्स्विति चोक्तत्वाद्विपरीतक्रमो लये ॥१६॥

(७०) अन्तराविज्ञानाधिकरणम् ॥६॥

किमुक्तक्रमभङ्गोऽस्ति प्राणाद्यैर्नास्ति वाऽस्ति हि । प्राणाक्षमनसां ब्रह्मवियतोर्मध्य ईरणात् ॥१७॥
प्राणाद्या भौतिका भूतेष्वन्तर्भूताः पृथक्क्रमम् । नेच्छन्त्यतो न भङ्गोऽस्ति प्राणादौ न क्रमः श्रुतः ॥१८॥

---

५. सिद्धान्त—उपादानकारण के न रहने पर कार्य की स्थिति क्षण भर भी नहीं रह सकती, साथ ही 'हे देवर्षि नारद ! सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा यह पृथ्वी प्रलयकाल में अपने कारण जल में लीन होती है' ऐसा सुना गया है; अतः उत्पत्ति क्रम की अपेक्षा विपरीत क्रम से भूतों का विलय मानना चाहिए ।

(७०) अन्तराविज्ञानाधिकरण

१. सङ्गति—भूतोत्पत्ति एवं लयक्रम विचार का जो प्रयोजन (लयचिन्तन) बतलाया गया है, वही प्रयोजन करणों की उत्पत्ति एवं विलय क्रम के विचारक हैं; अतः एकप्रयोजनकत्व सङ्गति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं ।

२. विषय—करणोत्पत्तिश्रुतिविरोध इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—पूर्वोक्त भूतोत्पत्तिक्रम करणोत्पत्तिक्रम से विरुद्ध है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—ब्रह्म और आकाश के मध्य में प्राण, इन्द्रियों और मन की उत्पत्ति के कारण भूतोत्पत्ति क्रम का विरोध सुस्पष्ट भासता है ।

५. सिद्धान्त—मन और बुद्धि भौतिक होने के कारण प्राणादि भौतिक सभी पदार्थ पञ्चभूतों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं । अतः भौतिक प्राणादि उत्पत्ति का क्रम पृथक् नहीं है । साथ ही आथर्वण श्रुति ने सम्पूर्ण भूत और भौतिक सभी पदार्थों को उत्पत्तिमात्र को कहा है, क्रम को नहीं । अतः भूतोत्पत्तिक्रम के भङ्ग का कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता है ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—प्रथमतः कारणे लीने सति निरुपादानानां कार्याणां कंचित्कालमवस्थानं प्रसज्येत । किं च—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ।
(म० भा० शान्ति० ३२६/२६)

(वायुः प्रलीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते) ।

इति पुराणे विपरीतक्रमस्योक्तत्वात्क्लृप्त एवायं क्रमः । तस्मात्सृष्टिविपरीतेन पृथिव्यादिक्रमेण प्रलीयते ।८॥

नवमाधिकरणमारचयति—

मुण्डकोपनिषदि श्रूयते—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥
(मु० २ १-३) इति ।

तत्र प्राणादीनां वियदादिभ्य. पूर्वं श्रूयमाणत्वादाकाशादिकः पूर्वोक्तसृष्टिक्रमो भज्येत ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"अन्नमयं हि सौम्य मनः आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक् (छा० ६-५-४) इति प्राणादीनां भौतिकत्वश्रवणाद्भूतेष्वेवान्तर्भावेन पृथक्क्रमो नापेक्षितः । न च मुण्डकश्रुतिः क्रमवाचिनी "आकाशाद्वायुः वायोरग्निः" (तै० २-१) । इत्यादाविव क्रमस्याप्रतीयमानत्वात् उत्पत्तिमात्रं केवलं ब्रूते । तस्मान्नानया श्रुत्या पूर्वोक्तक्रमभङ्गोऽस्ति ।।१६॥

(७१) चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम् ॥१०।
जीवस्य जन्ममरणे वपुषो वाऽऽत्मनो हि ते । जातो मे पुत्र इत्युक्तेर्जातकर्मादितस्तथा ॥१९॥
मुख्ये ते वपुषो भाक्ते जीवस्यैते अपेक्ष्य हि । जातकर्म च लोकोक्तिर्जीवापेतेतिशास्त्रतः ॥२०॥
(७२) आत्माधिकरणम् ॥११॥
कल्पादौ ब्रह्मणो जीवा वियद्वज्जायते न वा । सृष्टेः प्रागद्वयत्वोक्तेर्जायते विस्फुलिङ्गवत् ॥२१॥

---

५. सिद्धान्त—शरीर के ही मुख्यरूप से जन्म-मरण होते हैं, जीवात्मा में इनका गौण प्रयोग होता है। इन्हीं की अपेक्षा करके जातकर्मादि संस्कार का विधान किया गया है। 'जीवापेतम्' (जीवरहित शरीर मरता है) इस शास्त्र के आधार पर भी देहादि का जन्म और आत्मा का नित्यत्व मानना ही उचित होगा।

(७१) चराचरव्यपाश्रयाधिकरण

१. सङ्गति—पञ्चभूत एवं भौतिक प्राणादि में कार्यकारणभाव होने के कारण इनको उत्पत्ति-श्रुतिविरोध का परिहार किया गया। पर जीव तो किसी का कार्य नहीं है, उसका उत्पत्तिबोधक शास्त्र के साथ विरोध तो रहेगा ही; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—जीवोत्पत्ति श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या जीव के जन्म-मरण होते हैं, अथवा शरीर के ?

४. पूर्वपक्ष—'मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ' इस कथन से तथा जातकर्मादि के विधान से जीवात्मा का ही जन्म-मरण मानना चाहिए।

(७२) आत्माधिकरण

१. सङ्गति—प्रतिदेह उत्पत्ति और नाश से चाहे जीव के उत्पत्ति-नाश न भी माने जायँ, फिर भी कल्प के आदि-अन्त में जीव के जन्म एवं नाश क्यों न मान लिये जायँ? ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—आत्मा का नित्यत्वानित्यत्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—कल्प के आदि में आकाशादि की भाँति जीव ब्रह्म से उत्पन्न होता है या नहीं ?

दशमाधिकरणमारचयति—

लोके 'पुत्रो मे जातः' इति व्यवहाराच्छास्त्रे जातकर्मादिसंस्कारोक्तेश्च जन्ममरणे जीवस्य।

इति प्राप्ते ब्रूमः—जीवस्य मुख्यमरणाङ्गीकारे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वाद्देहगते एव जन्ममरणे जीवस्योपचर्येते। औपचारिके एव ते अपेक्ष्य लोकव्यवहारकर्मशास्त्रयोः प्रवृत्तिः। उपनिषच्छास्त्रं तु "जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते' (छा० ६-११-३) इति जीवविमुक्तस्यैव शरीरस्य मुख्यं मरणमभिधाय जीवस्य तन्निराचष्टे। तस्माद्वपुषो

एकादशाधिकरणमारचयति—

"एकमेवाद्वितीयम्" इति सृष्टेः प्रागद्वयत्वं श्रूयमाणं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य जीवस्यानुत्पत्तौ नोपपद्यते। श्रुतिश्च विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेन जीवस्योत्पत्तिं प्रतिपादयति—'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मनो

ब्रह्माद्वयं जातबुद्धौ जीवत्वेन विशेत्स्वयम् । औपाधिकं जीवजन्म नित्यत्वं वस्तुतः श्रुतम् ॥२२॥

(७३) ज्ञाधिकरणम् ॥१२॥

अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपो जीवोऽचिद्रूप इष्यते । चिदभावात्सुषुप्त्यादौ जाग्रच्चिन्मनसा कृता ॥२३॥

---

४. पूर्वपक्ष—सृष्टि से पूर्व अद्वयत्व कथन के कारण अग्नि से विस्फुलिङ्गादि की भांति जीव ब्रह्म से उत्पन्न होता है।

५ सिद्धान्त—अन्तःकरणादि के उत्पन्न हो जाने पर स्वयं अद्वय ब्रह्म जीवरूप से उसमें प्रवेश करता है। अतः जीव का जन्म औपाधिक है। 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (क० २/१८) इत्यादि श्रुति से जीव के नित्यत्व का बोध होता है।

७३. ज्ञाधिकरण

१. सङ्गति–पिछले अधिकरण में जीव की अनुत्पत्ति बतलाई गयी थी. उसी जीव में चेतनत्वाचेतनत्व का विचार करना है; इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी हेतुहेतुमदभाव सङ्गति है।

२. विषय – जीवाश्रित चेतनत्वाचेतनत्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—जीवात्मा चेतन है, अथवा अचेतन ?

४. पूर्वपक्ष—सुषुप्त्यादि में चेतनता का अभाव होने के कारण जीवात्मा चिद्रूप नहीं है।

५. सिद्धान्त—सुषुप्त्यादि अवस्था में आत्मा की चिद्रूपता का लोप नहीं होता है, द्वैत जगत् का अपने कारण में विलय हो जाने के कारण केवल द्वैतदृष्टि ही लुप्त होती है। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरि-

---

व्युच्चरन्ति" (बृ० २-१-२०) इति। तस्मात्कल्पादौ वियदादिवद्ब्रह्मणो जीवो जायते।

इति प्राप्ते ब्रूम—यदद्वय ब्रह्म तदेव जातायां बुद्धौ जीवरूपेण प्रविशति। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० २-६) इति श्रुतेः। अतो जीवानुत्पत्तौ नाद्वयश्रुतिविरोधः। विस्फुलिङ्गश्रुतिस्त्वौपाधिकजन्माभिप्राया प्रवृत्ता। अन्यथा कृतनाशादिदोषस्योक्तत्वात्। वस्तुतत्त्वाभिप्रायेण तु नित्यत्वं श्रुतिर्ब्रूते–'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (क० २ २·१३) इति। तस्मात्कल्पादौ जीवो नोत्पद्यते ॥११॥

द्वादशाधिकरणमारचयति—

तार्किका मन्यन्ते—सुषुप्तिमूर्छासमाधिषु चैतन्याभावादचिद्रूपो जीवः। जागरणे चाऽऽत्ममनःसंयोगाच्चैतन्याख्यो गुणो जायत इति।

तदसत्। चिद्रूपस्य ब्रह्मण एव जीवरूपेण प्रवेशश्रवणात्। न च चैतन्यं सुषुप्त्यादौ लुप्यते। सुषुप्त्यादिसाक्षित्वेनावस्थानात्। अन्यथा सुषुप्तादिपरामर्शायोगात्। कथं तर्हि सुषुप्त्यादौ द्वैताप्रतीतिरिति चेत्? 'द्वैतलोपात्' इति ब्रूमः। तथा च श्रुतिः "यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्" (बृ० ४-३-२३) इति। अस्यायमर्थः—'तत्र सुषुप्तो जीव. किमपि न पश्यति, इति यल्लौकिकैरुच्यते, तदसत्। पश्यन्नेव जीवस्तदानीं न पश्यति, इति भ्रान्त्या केवलं व्यपदिश्यते। कथं तद्दर्शनमित्यत्र हेतुरुच्यते—द्रष्टुरात्मनः स्वरूपभूताया दृष्टेर्लोपो नहि विद्यते। विनाशरहितस्वभावत्वात्। अन्यथा लोपवादिनोऽपि निःसाक्षिकस्य लोपस्य वक्तुमशक्यत्वात्। कथं तर्हि लौकिकानां 'न पश्यति' इति भ्रम? इत्यत्र हेतुरुच्यते–ब्रह्मचैतन्याद्व्यतिरिक्तक्रियाकारकफलरूपेण विभक्तं जगदाख्यं यद्द्वितीयं वस्तु, तन्नास्ति। तस्य स्वकारणे लीनत्वात्। अतो

ब्रह्मत्वादेव चिद्रूपश्चित्सुषुप्तौ न लुप्यते । द्वैताद्दृष्टिर्द्वैतलोपान्नहि द्रष्टुरिति श्रुतेः ॥२४॥

(७४) उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम् ॥१३॥

जीवोऽणुः सर्वगः वा स्यादेषोऽणुरिति वाक्यतः । उत्क्रान्तिगत्यागमनश्रवणाच्चाणुरेव सः ॥२५॥

साभासबुद्धयाऽणुत्वेन तदुपाधित्वतोऽणुता । जीवस्य सर्वगत्वं तु स्वतो ब्रह्मत्वतः श्रुतम् ॥२६॥

(७५) कर्त्रधिकरणम् ॥१४॥

जीवोऽकर्ताऽथवा कर्ता धियः कर्तृत्वसंभवात् । जीवकर्तृतया किं स्यादित्याहुः सांख्यमानिनः ॥२७॥

लोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता) ऐसी श्रुति होने के कारण भी जीवात्मा को चिद्रूप ही माना है ।

७४. उत्क्रान्तिगत्यधिकरण

१. सङ्गति—ब्रह्म के साथ अभेद सम्पादन के लिए जिस प्रकार जीवात्मा में स्वयंज्योतिष्ट्व और नित्यत्व इससे पूर्व के अधिकरणों में सिद्ध किया गया, ऐसे ही इस अधिकरण में जीवाणुत्वनिरासपूर्वक विभुत्व सिद्ध करने के लिए आन्तरबहिर्भाव संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—जीव परिमाण इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—जीवात्मा अणु परिमाण है, अथवा विभु परिमाण है ?

४. पूर्वपक्ष—'एषोऽणुरात्मा' (मु० ३-१-९) इस श्रुति से जीव में अणुत्व सिद्ध होता है; साथ ही उत्क्रान्ति, गमनागमन का श्रवण होने से भी जीवात्मा में अणुत्व मानना ही उचित है ।

५. सिद्धान्त—साभासबुद्धि अणु परिमाण वाली है, ऐसी उपाधि के कारण ही जीवात्मा में अणुत्व श्रुति ने कहा है, स्वतः तो जीवात्मा में विभुत्व ही है क्योंकि वह ब्रह्म से अभिन्न कहा गया है ।

७५. कर्त्रधिकरण

१. सङ्गति—जिस प्रकार जीवात्मा में अणुत्व औपाधिक है और स्वयंज्योतिष्ट्वादि की भाँति विभुत्व पारमार्थिक है, ऐसे ही कर्तृत्वादि भी बुद्धि उपाधि के कारण जीवात्मा में परिकल्पित है;

जागरणवदद्रष्टृदृश्यदर्शनव्यवहाराणामभावात् 'न पश्यति' इति लौकिकानां भ्रम इति । तस्माच्चिद्रूपो जीवः ॥१२॥

त्रयोदशाधिकरणमारचयति—

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" (मु० ३-१-९) इत्यणुत्वं श्रुतम् । "अस्माच्छरीरादुत्क्रामति" (कौ० ३-३) इत्युत्क्रान्तिः । "चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" कौ० १-२) इति गतिः । "तस्माल्लोकात्पुनरैति" (बृ० ४-४-६) इत्यागमनम् । नह्युत्क्रान्त्यादयः सर्वगतस्योपपद्यन्ते । मध्यमपरिमाणस्य तदुपपत्तावप्यणुश्रुतिर्विरुध्यते । अनित्यत्वं च दुर्वारम् । तस्मादणुर्जीव ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—चैतन्यप्रतिबिम्बसहिता बुद्धिरसर्वगता तदुपाधिकत्वाज्जीवस्याणुत्वोत्क्रान्त्यादयउपपन्नाः । स्वतस्तु जीवस्य ब्रह्मरूपत्वात्सर्वगतत्वम् । "स वा एष महानज आत्मा" (बृ० ४-४-२२) "सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" श्वे० (६-११) इत्यादौ सर्वगतत्वं श्रुतम् । तस्मात्सर्वगतो जीवः ॥१३॥

चतुर्दशाधिकरणमारचयति—

'बुद्धेः परिणामित्वेन क्रियावेशात्मकं कर्तृत्वं सम्भवति, न त्वसङ्गस्याऽऽत्मनः' इति यत्सांख्यैरुक्तम् ।

करणत्वान्न धीः कर्त्री यागश्रवणलौकिकाः । व्यापारा न विना कर्त्रा तस्माज्जीवस्य कर्तृता ॥२८॥

(७६) तक्षाधिकरणम् ॥१५॥

कर्तृत्वं वास्तवं किंवा कल्पितं वास्तवं भवेत् । यजेतेत्यादिशास्त्रेण सिद्धस्याबाधितत्वतः ॥२९॥
असङ्गो हीति तद्बाधात्स्फटिके रक्ततेव तत् । अध्यस्तं धीचक्षुरादिकरणोपाधिसंनिधेः ॥३०॥

इस आन्तरवहिर्भाव संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—जीव में कर्तृत्वाकर्तृत्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—जीवात्मा कर्ता है, अथवा अकर्ता है ?

४. पूर्वपक्ष—विकारी होने से जब बुद्धि में कर्तृत्व संभव है तो फिर निर्विकार-जीव में कर्तृत्व क्यों माना जाय ? ऐसा सांख्यों का कहना है।

५. सिद्धान्त—करण होने के कारण बुद्धि को कर्ता मानना ठीक नहीं और कर्ता के विना यागादि शास्त्रीय अथावा लौकिक व्यापार हो नहीं सकते। अतः जीवात्मा में कर्तृत्व मानना ही उचित होगा।

७६. तक्षाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण द्वारा शास्त्रार्थ के अर्थवत्तादि हेतुओं से जीवात्मा में कर्तृत्व बतलाया गया, वह आत्मा में कल्पित है; बस इसी अर्थ को बतलाने के लिए यह अधिकरण उपजीव्य-उपजीवक भाव सङ्गति के कारण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—जीवकर्तृत्व का अवान्तर विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—जीवात्मा में कर्तृत्व पारमार्थिक है, अथवा कल्पित है ?

४. पूर्वपक्ष—'यजेत'—इत्यादि शास्त्र से सिद्ध कर्तत्व का बाध न होने के कारण जीवकर्तृत्व पारमार्थिक ही है।

५. सिद्धान्त—'जीवात्मा असङ्ग है' इस श्रुति से कर्तृत्व का बाध होने के कारण लोहितः स्फटिकः इस प्रतीति की भांति आत्मा में भी कर्तृत्व कल्पित है। बुद्धि, इन्द्रियादि करण के सन्निधान-रूप उपाधि के सन्निधान से जीवात्मा में कर्तृत्व औपाधिक सिद्ध होता है।

तदसङ्गतम्। करणत्वेन क्लृप्तशक्तिकाया बुद्धेः कर्तृशक्तिर्न कल्पयितुं शक्या। कुठारादाव-दर्शनात्। बुद्धे कर्तृत्वे करणान्तरस्य कल्पनीयत्वाच्च। न च मा भूत्कर्तेति वाच्यम्। पूर्वकाण्डोक्तया-गादिव्यापाराणामुत्तरकाण्डोक्तश्रवणादिव्यापाराणां लौकिककृष्यादिव्यापाराणां च कर्तृसापेक्षत्वात्। तस्माज्जीवः कर्ता ॥१४॥

पञ्चदशाधिकरणमारचयति—

पूर्वाधिकरण प्रतिपादितस्य कर्तृत्वस्य बाधाभावाद्वास्तवम्।

इति प्राप्त ब्रूम—"असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृ० ४-३-१५) इति श्रुत्या कर्तृत्वमङ्गो बाध्यते। अतो यथा जपाकुसुमसंनिधिवशात्स्फटिके रक्तत्वमध्यस्तं, तथाऽन्तःकरणसंनिधिवशात्कर्तृत्वमात्मन्य-ध्यस्यत ॥१५॥

(७७) परायत्ताधिकरणम् ॥१६॥

प्रवर्तकोऽस्य रागादिरीशो वा रागतः कृषौ । दृष्टा प्रवृत्तिर्वैषम्यं प्रेरणे भवेत् ॥३१॥

सस्येषु वृष्टिवज्जीवेष्वशोऽस्याविषमत्वतः । रागोऽन्तर्याम्यधीनोऽत्र ईश्वरोऽस्य प्रवर्तकः ॥३२॥

(७८) अंशाधिकरणम् ॥१७॥

किं जीवेश्वरसांकर्यं व्यवस्था वा श्रुतिद्वयात् । अभेदभेदविषयात्सांकर्यं न निवार्यते ॥३३॥

---

७७. परायत्ताधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण द्वारा जीवात्मा में औपाधिक कर्तृत्व सिद्ध किया गया था, अब उस कर्तृत्व को ईश्वराधीन सिद्ध करने के लिए उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—जीवात्मा के कर्तृत्वप्रयोजक का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—जीवात्मा के कर्तृत्व का प्रवर्तक का प्रवर्तक रागादि हैं, अथवा ईश्वर है ?

४. पूर्वपक्ष—कृषि आदि लौकिक व्यापार में कर्ता की रागतः प्रवृत्ति देखी गयी है; साथ ही ईश्वर को प्रेरक मानने पर उसमें वैषम्यदोष भी आ जायेगा। अतः कर्म में जीवात्मा के प्रवर्तक रागादि मानसदोष ही हैं, ईश्वर नहीं।

५. सिद्धान्त—कृषि आदि की उत्पत्ति में जिस प्रकार वृष्टि सामान्य प्रयोजक है, ऐसे ही कर्म में जीवात्मा का सामान्य प्रेरक ईश्वर है; अतः ईश्वर में वैषम्यदोष नहीं आयेगा। विशेष प्रेरक रागादि होते हुए भी ईश्वराधीन ही है। अतः कर्म में जीवात्मा का प्रवर्तक मुख्यरूप से ईश्वर ही है।

७८. अंशाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण द्वारा जीवात्मा में नित्यत्वादि बतलाने के बाद इस अधिकरण द्वारा ब्रह्माभेद योग्य जीव में तदैक्य बतलाने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता हैं।

२. विषय—जीव-ईश्वर के भेदाभेद का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—जीव और ईश्वर का सांकर्य है, अथवा व्यवस्था है ?

४. पूर्वपक्ष—भेद और अभेदबोधक श्रुतियों को देखते हुए और ईश्वर के सांकर्य का वारणकर

षोडशाधिकरणमारचयति--

लोके कृषीवलादीनां रागद्वेषावेव प्रवर्तकौ दृष्टौ। तदनुसाराद्धर्माधर्मकर्तृजीवस्यापि तावेव प्रवर्तकावभ्युपेयौ। ईश्वरस्य प्रवर्तकत्वे कांश्चिज्जीवान्धर्मे प्रवर्तयति, कांश्चिदधर्मे, इति वैषम्यं दुर्वारम्। तस्मान्नेश्वरः प्रवर्तकः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावदीश्वरस्य वैषम्यदोषप्रसङ्गः। वृष्टिवत्साधारणनिमित्तत्वात्। यथा वृष्टेः सस्याभिवृद्धिहेतुत्वेऽपि व्रीहियवादिवैषम्ये बीजानामेव निमित्तत्वम्, तथेश्वरस्य 'यथायथं जीवाः प्रवर्तन्ताम्' इत्यनुज्ञया साधारणप्रवर्तकत्वात्। असाधारणप्रवर्तकत्वेऽपि न वैषम्यम्। पूर्वकृतकर्मणां वासनानां च वैषम्यहेतुत्वात्। कर्मणां फलहेतुत्वमेव, न कर्मान्तरहेतुत्वमिति चेत्। सत्यम्। सुखदुःखरूपस्य स्वफलस्य प्रदानाय जीवं व्यापारयत्सु कर्मस्वर्थात्कर्मान्तरमपि निष्पद्यत इति दुर्वारं तद्धेतुत्वम्। वासनानां तु साक्षादेव कर्महेतुत्वम्। तथा चेश्वरस्य कुतो वैषम्यप्रसङ्गः? यत्तु रागस्य प्रवर्तकत्वनिदर्शनमुदाहृतम्, तत्तथाऽस्तु। न तावतेश्वरस्य प्रवर्तकत्वहानिः। सर्वान्तर्यामिणेश्वरेण रागस्यापि नियम्यमानत्वात्। तस्मादीश्वरो जीवस्य प्रवर्तकः॥१६॥

सप्तदशाधिकरणमारचयति--

"तत्त्वमसि" (छा० ६-८-७) इत्यादिना द्रष्टृद्रष्टव्यरूपेण भेदः प्रतीयते। तथा च सति भेद-

अंशोऽवच्छिन्न आभास इत्यौपाधिककल्पनः । जीवेशयोर्व्यवस्था स्याज्जीवानां च परस्परम् ॥३४॥
(आदितः श्लो० सं० -१७२)
(इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।)

॥ अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।
(७९) प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥१॥

किमिन्द्रियाण्यनादीनि सृज्यन्त वा परमात्मना । सृष्टः प्रागृषिनाम्नैषां सद्भावोक्तेरनादिता ॥१॥

व्यवस्थित करना सम्भव नहीं है ।

५. सिद्धान्त—जीव ब्रह्म का अंश है, अवच्छिन्न है और आभास है; इस प्रकार औपाधिक कल्पना मानकर जीव और ईश्वर को एवं जीवों का भी परस्पर व्यवस्था सम्भव हो जाती है । अतः जीव-ईश का अथवा जीवों के परस्पर सांकर्य का आग्रह दुराग्रह ही है ।

(द्वितीय अध्याय तृतीय पाद समाप्त)

॥ द्वितीयाध्याय–चतुर्थ पाद ॥

भौतिक इन्द्रियों की उत्पत्ति, संख्या और तत्त्वादिविषयक श्रुतियों के परस्पर विरोध का परिहार चतुर्थ पाद से किया गया है ।

(७९) प्राणोत्पत्त्यधिकरण

१. सङ्गति–पूर्व अधिकरण द्वारा कर्तृत्वस्वरूपावधारण किया गया, अब जीवात्मा के उपकरण

श्रुतिबलात् 'जीवो नास्ति इत्यपलपितुमशक्यम् । अभेदश्रुत्या चेश्वरात्पृथक्त्वेन व्यवस्थापयितुं न शक्यते । तस्मादुद्यमानस्य जीवस्येश्वरेण सांकर्यं दुर्वारम् । परस्परं च जीवानामीश्वरादभेदद्वारा सांकर्यमानुषङ्गिकम् । तस्मात्–ब्रह्मवादिनो न जगद्व्यवस्था ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यद्यपि गोमहिषवज्जीवेश्वरयोरत्यन्तभेदो वास्तवो नास्ति, तथाऽपि व्यवहार-दशायामुपाधिकल्पितं भेदमाश्रित्य शास्त्राणि त्रेधा जीवं निरूपयन्ति ।

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गी० १५/७)

इत्यंशत्वमवगम्यते । "स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति" (बृ० ४-३-७) इति श्रुतौ विज्ञान-मयस्य जीवस्य विज्ञानशब्दवाच्यया बुद्ध्या समानपरिमाणनिर्देशाद्घटाकाशवदवच्छिन्नत्वं प्रतीयते ।

"एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥" (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्–११)

इत्याभासत्वमवगम्यते । तस्मात्सुलभैव ब्रह्मवादिनो जीवेश्वरव्यवस्था । जीवानां च परस्पर-मनेकजलपात्रस्थबहुसूर्यप्रतिबिम्बवद्व्यवहारव्यवस्था सुतरामुपपद्यते । तस्मान्न कोऽपि दोष इति सिद्धम् ॥१७॥

(इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः)

❁ अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ❁

चतुर्थपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—

"ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत् । (तदाहुः) के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः" इति श्रुत्या

एकबुद्धया सर्वबुद्धेर्भौतिकत्वाज्जनिश्रुतेः । उत्पद्यन्तेऽत्र सद्भावः प्रागवान्तरसृष्टितः ॥२॥

(८०) सप्तगत्यधिकरणम् ॥२॥

सप्तैकादश वाऽक्षाणि सप्त प्राणा इति श्रुतेः । सप्त इन्मूर्धनिष्ठेषु च्छिद्रेषु च विशेषणात् ॥३॥
अशीर्षण्यस्य हस्तादेरपि वेदे समीरणात् । ज्ञेयान्येकादशाक्षाणि तत्तत्कार्यानुसारतः ॥४॥

इन्द्रियादि बुद्धिस्थ हैं; उनकी उत्पत्ति बतलाने के लिए बुद्धिस्थ सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—प्राणोत्पत्ति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या वागादि इन्द्रियाँ अनादि हैं, अथवा परमात्मा के द्वारा रचे गये हैं?

४. पूर्वपक्ष—सृष्टि से पूर्व ऋषि नाम से कही गयी इन इन्द्रियों का अस्तित्व सुना जाता है, अतः इन्द्रियाँ अनादि हैं।

५. सिद्धान्त—एक के ज्ञान से सर्वज्ञान की प्रतिज्ञा, इन्द्रियों के भौतिकत्व का प्रमाण और उत्पत्तिश्रुति की विद्यमानता को देखते हुए इन्द्रियों की उत्पत्ति मानना ही युक्तिसंगत है। सृष्टि से पूर्व इन्द्रियों का सद्भाव तो अवान्तरसृष्टि को लेकर कहा गया है।

८० सप्तगत्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण द्वारा इन्द्रियों की उत्पत्तिश्रुतिविरोध का परिहार किया गया, अब उनसे भिन्न जीवात्मा का विवेक करना है; अतः इन्द्रियों की संख्या का निर्णय करने के लिए आश्रयाश्रयीभाव संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—वागादि इन्द्रियों की संख्या का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—इन्द्रियाँ सात हैं, अथवा एकादश हैं?

४. पूर्वपक्ष—'सप्तप्राणाः' (मु० २-१-८) इस श्रुति के बल से मस्तकस्थ सात छिद्रों में रहने वाली इन्द्रियों की संख्या सात ही है।

५. सिद्धान्त—शिरस्थ छिद्र से भिन्न हस्तादि इन्द्रियों का भी वर्णन वेद में मिलता है, अतः इन्द्रियाँ एकादश हैं, जिनके कार्य पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं।

सृष्टेः पूर्वमिन्द्रियाणां सद्भावावगमादनादित्वं तेषाम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः-एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं तावदिन्द्रियाणामनुत्पत्तौ न घटते। तथा "अन्नमयं हि सौम्य मनः। आपोमयः प्राणः। तेजोमयी वाक्" (छा० ६-५-४) इति भूतकार्यत्वमिन्द्रियाणां श्रूयते।

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (मु० २-१३)

इति स्पष्टमेवेन्द्रियाणां जन्मश्रवणम्। यत्तु सृष्टेः प्राक्सद्भाववाक्यम्, तदवान्तरसृष्टिविषयतया व्याख्येयम्। तस्मादिन्द्रियाणि परमात्मन उत्पद्यन्ते ॥१॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

सप्तैवेन्द्रियाणि। कुतः? "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति" (मु० २-१ ८) इति सामान्यश्रुतेः। "सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः" (तै० ६- -११) इति शिरोगतसप्तच्छिद्रनिष्ठत्वेन विशेषितत्वाच्च।

इति प्राप्ते ब्रूमः-शिरोनिष्ठेभ्य इतराणि हस्तादीन्यपि वेदे समीर्यन्ते। "हस्तौ वाऽऽदातव्यं च। उपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं च" (प्र० ४ ८) इत्यादिना। तथा च वेदाभिश्रये सत्येकादशव्यापाराणां दर्शनश्रवणघ्राणास्वादनस्पर्शनाभिवदनादानगमनानन्दविसर्गध्यानानामुपलम्भात्तत्साधनत्वेन "इन्द्रियाण्येकादश" इत्यभ्युपगन्तव्यम् ॥२।

(८१) प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥३॥

व्यापीन्यणूनि वाऽक्षाणि सांख्या व्यापित्वमूचिरे । वृत्तिलाभस्तत्र तत्र देहे कर्मवशाद्भवेत् ॥५॥
देहस्थवृत्तिमद्भागेऽप्येवाक्षत्व समाप्यताम् । उत्क्रान्त्यादिश्रुतेस्तानि ह्यणूनि स्युरदर्शनात् ॥६॥

(८२) प्राणश्रैष्ठ्याधिकरणम् ॥४॥

मुख्यः प्राणः स्यादनादिर्जायते वा न जायते । आनीदिति प्राणचेष्टा प्राक्सृष्टेः श्रूयते यतः ॥७॥

---

८१. प्राणाणुत्वाधिकरण

१. सङ्गति—अपरिच्छिन्न अहंकारजन्य होने के कारण इन्द्रियाँ भी अपरिच्छिन्न (विभु) हैं, फिर भला उनका शरीर से उत्क्रमण किस प्रकार हो सकता है ? ऐसी आक्षेप संगति होने के कारण इस अधिकरण की रचना हुई है।

२. विषय—इन्द्रियों के परिमाण का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—इन्द्रियां अणु परिमाण हैं, अथवा व्यापक हैं ?

४. पूर्वपक्ष—सांख्यों ने इन्द्रियों को व्यापक माना है। तत्तद् देह में पूर्वकर्मानुसार इन्द्रियों का व्यापार होता रहता है; अतः इन्द्रियां विभु है।

५. सिद्धान्त—देह में होने वाले व्यापारविशिष्ट भागों शरीर में ही इन्द्रियाँ परिच्छिन्न रहती हैं; अतः इन्द्रियां विभु नहीं हैं। साथ ही, मृतशरीर से इन्द्रियों का उत्क्रमण भी सुना और देखा जाता है। अतिसूक्ष्म होने के कारण वे इन्द्रियाँ देखी नहीं जाती; अतः वे परिच्छिन्न ही हैं, विभु नहीं।

८२. प्राणश्रैष्ठ्याधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरणों में इन्द्रियों की सृष्ट्यादि का प्रतिपादन किया, अब मुख्य प्राण में भी प्रथमाधिकरणन्याय का अतिदेश करते हैं; अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी अतिदेश संगति है।

२. विषय—मुख्यप्राण की उत्पत्ति का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—मुख्यप्राण अनादि है, अथवा उत्पन्न होता है ?

४. पूर्वपक्ष—सृष्टि से पूर्व प्राण की चेष्टा 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' (ऋ० सं० ८·७·१७)

तृतीयाधिकरणमारचयति—

'सर्वगतानामिन्द्रियाणां तत्तच्छरीरावच्छिन्नप्रदेशेषु तत्तज्जीवकर्मफलोपभोगाय वृत्तिलाभो भवति' इति यत्सांख्यैरुक्तम्।

तदयुक्तम्। कल्पनागौरवप्रसङ्गात्। देहावच्छिन्नवृत्तिमद्भागैरेवाशेषव्यवहारसिद्धौ किमनया वृत्तिरहितानां सर्वगतानामिन्द्रियाणां कल्पनया। किंच श्रुतिरुत्क्रान्तिगत्यागतीर्जीवस्य प्रतिपादयति। ताश्च सर्वगतस्य जीवस्य न मुख्याः सम्भवन्तीति मुख्यत्वसिद्ध्यर्थमिन्द्रियोपाधिः स्वीकृतः। यदि सोऽप्युपाधिः सर्वगतः स्यात्, कुतस्तदुत्क्रान्त्यादयो मुख्याः संभवेयुः। तस्मादसर्वगतान्यक्षाणि। मध्यमपरिमाणेष्वेवादृश्यत्वविवक्षया सूत्रकारेणाणुशब्दः प्रयुक्तः॥३॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

मुखबिले संचरन्नुच्छ्वासकारी यो वायुः स प्राणः। सोऽनादिः। कुतः ? "नासदासीत्" इति सूक्ते आनीदवातम्" इति 'आनीत्' शब्देन सृष्टेः प्राक्प्राणचेष्टाश्रवणात्।

आनीदिति ब्रह्मसत्त्वं प्रोक्तं वातनिषेधनात् । एतस्माज्जायते प्राण इत्युक्तेरेव जायते ॥८॥

(८३) न वायुक्रियाऽधिकरणम् ॥५॥

वायुर्वाऽक्षक्रिया वाऽन्यो वा प्राणः श्रुतितोऽनिलः। सामान्येन्द्रियवृत्तिर्वा सांख्यैरेवमुदीरणात् ॥९॥
भाति प्राणो वायुनेति भेदोक्तेरेकताश्रुतिः । वायुजत्वेन सामान्यवृत्तिर्नाक्षवतोऽन्यता ॥१०॥

इस श्रुति में सुनी गयी है, अतः मुख्यप्राण अनादि है।

५. सिद्धान्त—'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २-१-३) इस मुण्डक श्रुति के आधार पर इतर प्राणों की भाँति मुख्यप्राण की उत्पत्ति भी सुनी जाती है; अतः 'आनीत्' शब्द उत्पत्ति से पूर्व प्राण के सद्भाव का सूचक नहीं है क्योंकि वहाँ पर 'अवातम्' ऐसा भी विशेषण है। उस श्रुति को मूलप्रकृति में प्राणादि समस्त विशेष का अभाव दिखलाना अभीष्ट है, अतः उस श्रुति से प्राण उत्पत्तिश्रुति का कोई विरोध नहीं है।

८३. न वायुक्रियाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार प्राण उत्पत्ति का विचारकर अब उनका स्वरूप बतलाने के लिए प्रसंग संगति से यह अधिकरण कहते हैं।

२. विषय—मुख्य प्राण का स्वरूप इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—मुख्य प्राण क्या वायु है, इन्द्रियों का व्यापार है, अथवा वायुविशेष है?

४. पूर्वपक्ष—श्रुति के आधार पर वायु ही प्राण है अथवा इन्द्रियों के सामान्य व्यापार को प्राण मानना चाहिए क्योंकि ऐसा ही सांख्यों ने प्राण को माना है।

५. सिद्धान्त—'बाह्यवायु से प्राण प्रवृत्त होता है' इस श्रुति द्वारा प्राण और बाह्यवायु में भेद बतलाया गया है, एकताश्रुति ने तो तत्त्वदृष्टि से अभेद बतलाया है। मन की भाँति इन्द्रियव्यापार का सामान्यरूप से प्रेरक प्राण भी है, जो इन्द्रियों से पृथक् है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'आनीत्' शब्दो न प्राणव्यापारं वक्ति। 'अवातम्' इति तन्निषेधात्। किं तर्हि ब्रह्मसत्त्वं ब्रूते। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छा० ६-२-१) इत्यादिभिः सृष्टिप्रागवस्थाप्रतिपादकश्रुत्यन्तरैः समानार्थत्वात्। "एतस्माज्जायते प्राणः (मु० २-१-३) इति श्रुतिस्तु स्पष्टमेव प्राणजन्म प्रतिपादयति। तस्मादिन्द्रियवत्प्राणो जायते ॥४॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

बाह्यवायुरेव वेणुरन्ध्रवन्मुखच्छिद्रे प्रविश्यावस्थितः प्राणनाम्ना व्यपदिश्यते। न तु प्राणो नाम किंचित्तत्त्वान्तरमस्ति। कुतः? "यः प्राणः स वायुः" इति श्रुतेः। अथवा पञ्जरस्था यथा बहवः पक्षिणः स्वयं चलन्तः पञ्जरमपि चालयन्ति, एवमेकादशाक्षाणि स्वस्वव्यापारद्वारा देहं चेष्टयन्ते। तत्र देहचालनाख्यो योऽयं सर्वेन्द्रियसाधारणो व्यापारः, स प्राणो भविष्यति। तथा च सांख्यैरुक्तम्—

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च इति। तस्मान्न तत्त्वान्तरं प्राणः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च" (छा० ३-१८-४) इति श्रुत्यन्तरे चतुष्पाद्ब्रह्मोपासनप्रसङ्गेनाऽऽध्यात्मिकप्राणस्याधिदैविकवायोश्चानुग्राह्यानुग्राहकरूपेण भेदः स्पष्टमेव निर्दिष्टः। अतः "यः प्राणः स वायुः" इत्येकत्वश्रुतिः कार्यकारणयोरभेदवृत्त्या नेतव्या। यत्तु सांख्यैरुक्तम् । तदसत् । इन्द्रियाणां सामान्यवृत्त्यसम्भवात्। पक्षिणां तु चालनान्येकविधानि पञ्जरचालनस्यानुकूलानि न तु तथेन्द्रियाणां दर्शनश्रवणगमनादिव्यापारा एकविधाः। नापि देहचालनानुकूलाः। तस्मात्तत्त्वान्तरं प्राण इति परिशिष्यते ॥५॥

(८४) श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥६॥

प्राणोऽयं विभुरल्पो वा विभुः स्यात्प्लुष्युपक्रमे। हिरण्यगर्भपर्यन्ते सर्वदेहे समोक्तितः ॥११॥
समष्टिव्यष्टिरूपेण विभुरेवाऽऽधिदैविकः। आध्यात्मिकोऽल्पः प्राणः स्याददृश्यश्च यथेन्द्रियम् ॥१२॥

(८५) ज्योतिराद्याधिकरणम् ॥७॥

स्वतन्त्रा देवतन्त्रा वा वागाद्याः स्युः स्वतन्त्रता। नो चेद्वागादिजो भोगो देवानां स्यान्न चाऽऽत्मनः ॥१३॥

---

८४. श्रेष्ठाणुत्वाधिकरण

१. सङ्गति—प्राण की उत्पत्ति और स्वरूप पिछले दो अधिकरणों में बतलाये गये, अब उसका परिमाण बतलाने के लिए अतिदेश संगति से यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. विषय—प्राण के परिमाण का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३ संशय—क्या प्राण विभु है, अथवा परिच्छिन्न है?

४. पूर्वपक्ष—क्षुद्र जन्तु से लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त सभी देह में समानरूप से रहने के कारण प्राण को विभु मानना उचित होगा।

५. सिद्धान्त—समष्टिरूप से आधिदैविक वायु विभु है और व्यष्टिरूप से आध्यात्मिक वायु परिच्छिन्न है। इन्द्रियों की भाँति प्राण भी अतीन्द्रिय है।

८५. ज्योतिराद्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में मुख्यप्राण को अध्यात्मदृष्टि से परिच्छिन्न और अधिदेवदृष्टि से विभु बतलाया गया, अब इस अधिकरण में प्राणप्रसंग के कारण अधिदैवतादि से अधिष्ठित इन्द्रियों की चेष्टा बतलाना अभीष्ट है; अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी प्रसङ्ग संगति है।

२ विषय—चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति देवाधीन हैं, अथवा देवनिरपेक्ष, स्वतन्त्र है?

४. पूर्वपक्ष—इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वतन्त्र ही है, देवाधीन नहीं क्योंकि देवाधीन मानने पर देवताओं का ही भोग माना जायेगा, आत्मा का नहीं।

५. सिद्धान्त—वागादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति देवाधीन मानने पर भी भोग देवताओं का मानना

षष्ठाधिकरणमारचयति—

प्लुषिर्नाम मशकादपि न्यूनकायः पुत्तिकाख्य जीवः। तमारभ्य सर्वात्मकहिरण्यगर्भपर्यन्तेषु देहेषु तैस्तैर्देहैः समत्वं प्राणस्य श्रूयते—,"समः प्लुषिणा, समो मशकेन, समो नागेन, सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण" (बृ० १-३-२२) इति। तस्मात्—व्यापी प्राणः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—आधिदैविकस्य हिरण्यगर्भप्राणस्य समष्टिरूपेण व्यष्टिरूपेण चावस्थानाद्विभुत्वमस्तु। "वायुरेव व्यष्टिः। वायुरेव समष्टिः" इति श्रुतेः। तदेव विभुत्व "समः प्लुषिणा" इत्यादिश्रुतावुपासनार्थं प्रपञ्चितम्। आध्यात्मिकस्तु प्राण इन्द्रियवददृश्यः परिच्छिन्नश्च ॥६॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

वागादीन्यक्षाणि स्वस्वविषयस्वातन्त्र्येण प्रवर्तन्ते, न तु देवतापरतन्त्राणि। अन्यथा वागादिजन्यस्य भोगस्य देवानां भोक्तृत्वान्न जीवात्मनो भोगः स्यात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० १ २ ४) इत्यादौ वागादीनामग्न्याद्यनुगृहीतत्व श्रूयते। ततो देवतापरतन्त्रैवेन्द्रियवृत्तिः। न चैतावता देवतानामत्र भोक्तृत्वम्। महापुण्य-

श्रुतमन्याधितन्त्रत्वं भोगोऽन्यादेस्तु नोचितः । देवदेहेषु सिद्धत्वाज्जीवो भुङ्क्ते स्वकर्मणा ॥१४॥

(८६) इन्द्रियाधिकरणम् ॥८॥

प्राणस्य वृत्तयोऽक्षाणि प्राणात्तत्त्वान्तराणि वा । तद्रूपत्वश्रुतेः प्राणनाम्नोक्तत्वाच्च वृत्तयः ॥१५॥
श्रमाश्रमादिभेदोक्तेर्गौणं तद्रूपनामनी । आलोचकत्वेऽन्यानि प्राणो नेताऽक्षदेहयोः ॥१६॥

उचित नहीं है क्योंकि देवताओं का भोग तो देवशरीर में ही सिद्ध होता है, अन्य शरीरों में तो अपने कर्मानुसार जीव ही भोक्ता माना गया है, जो उचित ही है ।

८६. इन्द्रियाधिकरण

१. सङ्गति—मुख्यप्राण से भिन्न जब इन्द्रियों की सत्ता ही नहीं है फिर उसके अधिष्ठातृदेव की चिन्ता ही क्यों की जाये ? इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है। इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है ।

२. विषय—इन्द्रियों के अस्तित्व का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या इन्द्रियाँ प्राण के ही व्यापारविशेष हैं, अथवा प्राण से भिन्न इन्द्रियाँ तत्त्वान्तर हैं?

४. पूर्वपक्ष—वागादि इन्द्रियों में प्राणरूपत्व सुना गया है, प्राण नाम से वागादि इन्द्रियों को कहा जाता है । अतः प्राण के ही व्यापारविशेष वागादि इन्द्रियाँ हैं, वे स्वतन्त्र नहीं हैं ।

५. सिद्धान्त—वागादि इन्द्रियों का श्रान्त होना कहा गया है; किन्तु मुख्य प्राण का नहीं । अतः वागादि रूप और प्राण नाम इन्द्रियों के गौण हैं आलोचक होने के कारण अन्य इन्द्रियाँ प्राण नाम से कही गयी हैं । अतः प्राण देह और इन्द्रियों का नेता है ।

फलं देवत्वं प्राप्तानामधमभोगस्यानुचितत्वात् । देवतादेहेषु परमभोगस्य सिद्धत्वाच्च । मनुष्यादिजीवस्तु देवप्रेरितैरप्यक्षैरापादितं स्वकर्मफलतया भुङ्क्त इत्युपपद्यते । तस्माद् देवतापरतन्त्राणीन्द्रियाणि ॥७॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

वागादीन्यक्षाणि मुख्यप्राणवृत्तयो भवितुमर्हन्ति । कुतः ? तेषां प्राणरूपत्वश्रवणात् । "हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति । त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' (बृ० १-५-२१) इति श्रुतेः । किं च प्राणशब्देनैव तानि लोके व्यवह्रियन्ते 'म्रियमाणस्य नाद्यापि प्राणा निगच्छन्ति" इत्यादौ । श्रुतिश्च वागादीनां प्राणनामकतामाह-'न वै वाचः, न चक्षूंषि, न श्रोत्राणि, न मनांसि, इत्याचक्षते । प्राणा इत्येवाऽऽचक्षते" (छा० ५-१५) इति । तस्मान्न प्राणादन्यानि तत्त्वानि ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे । तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्" (बृ० १-५-२१) इत्यादिना वागादीनां स्वस्वविषयेषु श्रान्तिमभिधाय "अथेममेव नाऽऽप्नोत्" योऽयं मध्यमः प्राणः "यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथते" इति प्राणस्य स्वव्यापारे श्रान्त्यभावमाह । अयमेको भेदः । तथा प्राणसंवादे वागादिनिर्गमनप्रवेशयोर्देहस्य मरणोत्थानाभावमभिधाय प्राणनिर्गमनप्रवेशयोर्मरणोत्थाने दर्शयति । अत एवमादिभेदोक्तेर्वागादीनां प्राणरूपत्वं प्राणनामत्वं च गौणम् । भृत्यन्यायेन प्राणानुवर्तित्वात् । व्यवहारभेदश्च भूयानुपलभ्यते । स्वं स्वं विषयं परिच्छिद्याऽऽलोचकानीन्द्रियाणि, प्राणस्त्वक्षाणां देहस्य च नेता । तस्मात्—बहुवैलक्षण्यात्प्राणात्तत्त्वान्तराणीन्द्रियाणि ॥८॥

(८७) संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ॥९॥

नामरूपव्याकरणे जीवः कर्ताऽथवेश्वरः । अनेन जीवेनेत्युक्तंर्व्याकर्ता जीव इष्यते ॥१७॥
जीवान्वयः प्रवेशेन संनिधेः सर्वसर्जने । जीवोऽशक्तः शक्त ईश उत्तमोक्तिस्तथेक्षितुः ॥१८॥

(आदित. श्लो० सं० – १९०)

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

---

८७. संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में नाम-रूप के भेद से प्राण और इन्द्रियों में भेद कहा गया था, अब प्रसंगवशात् नाम-रूपव्याकरणहेतु दिखलाने के लिए यह अधिकरण आरम्भ होता है; अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी प्रसंग संगति है।

२. विषय—नाम-रूप के कर्ता का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३ संशय—नाम-रूप का व्याकरणकर्ता जीव है, अथवा ईश्वर है ?

४ पूर्वपक्ष—सृष्टि के बाद जीवरूप से परमेश्वर का प्रवेश कहा गया है, अतः नाम-रूप का कर्ता जीव ही है।

५. सिद्धान्त—नाम-रूपव्याकरण का कर्ता परमेश्वर को ही मानना चाहिए जो सम्पूर्ण सृष्टि में प्रवेशकर सन्निधि मात्र से सबके साथ जुड़ा हुआ है । सम्पूर्ण जगत् की रचना में जीव असमर्थ है, ईश्वर ही समर्थ है। 'नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६-३-२) इस श्रुति के द्वारा उत्तम पुरुष का कथन तो आवेक्षणमात्र ही है, अन्य कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार विरोधपरिहारनामक द्वितीय अध्याय के चतुर्थपाद के अधिकरणों का विचार किया गया। इसके साथ ही वैयासिक न्यायमाला द्वितीय अध्याय की कैलास पीठाधीश्वर आचार्य म० मं० श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि द्वारा रचित ललिता व्याख्या पूर्ण हो गयी।

॥ द्वितीय अध्याय चतुर्थ पाद समाप्त ॥

नवमाधिकरणमारचयति—

ईश्वरेण पञ्चभूतेषु सृष्टेषु भौतिकयोर्दृश्यमानयोर्महीधरादिनामरूपयोर्जीव एव स्रष्टा स्यात् । कुतः ? "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० ६-३-२) इति जीवरूपस्यैव सृष्टावन्वयश्रवणात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"जीवेनानुप्रविश्य" इति प्रवेशेनैव जीवोऽन्वेति । संनिहितत्वात् । 'जीवेन व्याकरवाणि' इत्युक्तौ व्यवहितान्वयः स्यात् । न हि जीवस्य गिरिनदीनिर्माणे शक्तिरस्ति । ईश्वरस्तु सर्वशक्तियुक्तः । "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" (श्वे० ६-८) इति श्रवणात् । किं च 'व्याकरवाणि' इत्युत्तमपुरुषोऽपीश्वरपक्षे समञ्जसः । तस्मादीश्वर एव नामरूपयोः स्रष्टा । कथं तर्हि घटपटादौ कुलालादेर्निर्मातृत्वम् ? 'ईश्वरप्रेरणात्' इति ब्रूमः । तस्मादीश्वर एव सर्वकर्तेति सिद्धम् ॥९॥

[इति द्वितीयोऽध्यायः चतुर्थः पादः समाप्तः]

अथ तृतीयोऽध्यायः—प्रथमः पादः

(८८) तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

अवेष्टितो वेष्टितो वा भूतसूक्ष्मैः पुमान्व्रजेत् । भूतानां सुलभत्वेन यात्यवेष्टित एव सः ॥१॥
बीजानां दुर्लभत्वेन निराधारेन्द्रियागतेः । पञ्चमाहुतितोक्तेश्च जीवस्तैर्याति वेष्टितः ॥२॥

तृतीय अध्याय—प्रथम पाद

साधनाख्य तृतीय अध्याय में सभी साधनों का विचार किया जायेगा। इसके प्रथम पाद में जीव के परलोक गमनागमन की चिन्ता वैराग्यसम्पादनार्थ की जायेगी।

प्रथमाध्याय के द्वारा ब्रह्म में जो श्रुतियों का समन्वय बतलाया गया था; उस समन्वय का द्वितीय अध्याय में स्मृति, न्याय एवं श्रुति के साथ जब परस्पर विरोध आया तब उस विरोध का निराकरणकर अनिश्चयात्मक, अप्रामाण्य का निषेध कर दिया गया। अब तृतीय अध्याय में साधनों का विचार करना है, इसलिए पूर्व अध्याय के साथ इसकी हेतु हेतुमद्भाव-सङ्गति है।

८८. तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—इससे पूर्व अधिकरण में जीव की उपाधियों का विचार किया गया, अब इस अधिकरण में तदुपजीव्य इस उपाधि से उपहित जीवात्मा में वैराग्यसम्पादनार्थ विचार करना है; इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति है।

२. विषय - सोपाधिक जीव की गत्यागति का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या भूत सूक्ष्म से अपरिवेष्टित जीव परलोक में जाता है, अथवा परिवेष्टित जाता है?

४. पूर्वपक्ष—जीवात्मा के साथ इन्द्रियों का जाना जैसा सुना गया है, वैसा भूतों का जाना नहीं सुना गया है क्योंकि पञ्चभूत तो सर्वत्र सुलभ हैं; अतः भूत से अपरिवेष्टित ही जीव परलोक में जाता है।

५. सिद्धान्त—जीवात्मा के शरीरारम्भक बीज दुर्लभ होने से भूतसूक्ष्म के साथ ही जीवात्मा का शरीरान्तर ग्रहण के लिए गमन होता है। भूतसूक्ष्म का आधार लिए बिना जीवात्मा एवं उसके इन्द्रियों की गति हो भी नहीं सकती और पञ्चम आहुति की पूर्ति के लिए भी जीवात्मा भूतों से परिवेष्टित ही शरीरान्तर ग्रहण के लिए जाता है, ऐसा मानना उचित होगा।

तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादे प्रथमाधिकरणमारचयति—

पूर्वपादप्रतिपादितप्राणोपाधिको जीवः शरीरान्तरप्राप्तिवेलायामितो निर्गच्छन्भाविशरीरबीजैः सूक्ष्मभूतैरवेष्टितो गच्छति। पञ्चभूतानां सर्वत्र सुलभत्वेनेतो नयस्य निरर्थकत्वात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—भूतमात्रस्य सुलभत्वेऽपि देहबीजानि न सर्वत्र सुलभानि। तस्मादितो नेतव्यानि। किंच जीवोपाधिभूतेन्द्रियाणां भूताधारमन्तरेण परलोकगमनं न सम्भवति। जीवदशायामदर्शनात्। श्रुतिश्चैवमाह—"पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छा० ५-३-३) इति। अस्या अयमर्थ —द्युलोकपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषितः पञ्च पदार्था उपासनायामग्नित्वेन परिकल्पिता। तेष्वग्निषु स्वर्गाय गच्छन्पुनरागच्छंश्च जीव आहुतित्वेन परिकल्पितः। इष्टापूर्तकारी जीवः स्वर्गमारुह्योपभोगेन कर्मणि क्षीणे पर्जन्ये पतित्वा वृष्टिरूपेण भूमिं प्राप्य, अन्नद्वारेण पुरुषं प्राप्य, रेतोद्वारेण योषितं प्रविश्य शरीरं गृह्णाति। ततोऽप्शब्दोपलक्षितानि देहबीजानि पञ्च भूतानि जीवेन सह द्युलोकादिपञ्चस्थानेषु गत्वा पञ्चमस्थाने शरीरभावं प्राप्य पुरुषशब्दवाच्यानि भवन्तीति। तस्माद्बीजैर्वेष्टित एव परलोकं गच्छति ॥१॥

(८९) कृतात्ययाधिकरणम् ॥२॥

स्वर्गावरोही क्षीणानुशयः सानुशयोऽयवा । यावत्संपातवचनात्क्षीणानुशय इष्यते ॥३॥
जातमात्रस्य भोगित्वादंकभव्ये विरोधतः । चरणश्रुतितः सानुशयः कर्मान्तरंरयम् ॥४॥

---

(८९) कृतात्ययाधिकरण

१. सङ्गति—यागादि क्रिया से सम्बद्ध जल पाँचवी आहुति में पुरुष संज्ञा के रूप में परिणत हो जाता है, इस हेतु का आश्रय लेकर जलादि भूतसूक्ष्म से परिवेष्टित जीव का चन्द्रलोक से नीचे आना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उस समय जीवात्मा में कर्म का अभाव हो जाता है; इस प्रकार आक्षेप होने पर इस अधिकरण को प्रारम्भ किया गया है, अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप संगति है।

२. विषय—स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा की गति का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—स्वर्ग से लौटने वाला जीव सम्पूर्ण कर्मफल भोगकर मर्त्यलोक में आता है अथवा कर्म के साथ ही लौटता है?

४. पूर्वपक्ष—'यावत्सम्पातम्' इस वाक्य के आधार पर प्रारब्धकर्मभोगपर्यन्त जीवात्मा का स्वर्ग में रहना माना गया है तत्पश्चात् निरनुशय जीव ही स्वर्ग से मर्त्यलोक में लौटता है।

५. सिद्धान्त—जिन कर्मों के फल भोगने के लिए जीवात्मा स्वर्गलोक में जाता है उन्हीं कर्मों का फल वहाँ रहकर भोगता है, शेष कर्म बने रहते हैं जिनका भोग मर्त्यलोक में आकर करना पड़ता है। इन शेष कर्मों का फलभोग एक जन्म में हो भी नहीं सकता। साथ ही 'रमणीयचरणाः' इस श्रुति के आधार पर भी अन्य कर्मों से परिवेष्टित ही जीव लौटता है, निरनुशय नहीं, क्योंकि समस्तकर्मफलभोग हो जाने पर तो जन्म हो ही नहीं सकता।

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

स्वर्गमनुभुज्य ततोऽवरोहन्पुरुषो निरनुशय इहाऽऽगच्छति। अनुशयो नाम कर्मशेषः। 'जीवमनुशेते' इति व्युत्पत्तेः। न च स्वर्गादवरोहतोऽनुशयः सम्भवति। अनुशयफलस्य सर्वस्य तत्रैवोपभुक्तत्वात्। अत एवावरोहविषया श्रुतिः "यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तते" (छा० ५ १०-५) इत्याह। 'संपतत्यनेन कर्मणा स्वर्गम्' इति संपातः कर्मसमूहः। संपातमनतिक्रम्य यावत्संपातं निःशेषं कर्मफलं भोक्तुं तत्रोषित्वेत्यर्थः। तस्मात्कर्मशेषरहितोऽवरोहति।

इति प्राप्ते ब्रूमः—स्वर्गार्थमनुष्ठितस्य कर्मणः साकल्येनोपभोगेऽप्यनुपभुक्तानि संचितानि पुण्यपापानि बहून्यस्य विद्यन्ते। अन्यथा सद्यः समुत्पन्नस्य बालस्येह जन्मन्यनुष्ठितयोर्धर्माधर्मयोरभावात्सुखदुःखोपभोगो न स्यात्। यत्त्वत्र कैश्चिदुच्यते—एकस्मिञ्जन्मन्यनुष्ठितः कर्मसमूह उत्तरस्मिन्नेव जन्मन्युपभोगेन क्षीयत इति। तदसत्। इन्द्रादिपदप्रापकाणामश्वमेधादीनाम्, विड्वराहादिदेहप्रापकाणां पापानां च युगपदुपभोगासम्भवेन 'ऐकभविकः कर्मानुशयः' इति मतस्य विरुद्धत्वात्। ततश्चैकस्मिञ्जन्मन्यनुष्ठितानां मध्ये कस्मिंश्चिज्ज्योतिष्टोमादिकर्मणि भुक्तेऽपि कुतो न कर्मान्तराण्यवशिष्येरन्। यावत्संपातशब्दश्च स्वर्गप्रदकर्मविषयो नत्वितरकर्मविषयः। श्रुतिश्च स्वर्गादवरुह्य पञ्चम्यामाहुतौ शरीरं गृह्णतां पुरुषाणां तद्धेत्वोः पुण्यपापयोः सद्भावं दर्शयति—"य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा, क्षत्रिययोनिं वा, वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा, शूकरयोनिं वा, चाण्डालयोनिं वा" (छा० ५ १०-७) इति। रमणीयचरणाः सुकृतकर्माणः। कपूयचरणाः पापकर्माणः। 'अभ्याशो ह यत्' इत्यव्ययसमुदायस्य क्षिप्रत्वमर्थः। तदेवं सानुशया अवरोहन्तीति स्थितम् ॥२॥

(९०) अनिष्टादिकार्यधिकरणम् ॥३॥

चन्द्रं याति न वा पापी ते सर्वं इति वाक्यतः । पञ्चमाहुतिलाभार्थं भोगाभावेऽपि यात्यसौ ॥५॥
भोगार्थमेव गमनमाहुतिर्व्यभिचारिणी । सर्वश्रुतिः सुकृतिनां याम्ये पापिगतिः श्रुता ॥६॥

(९१) साभाव्यापत्त्यधिकरणम् ॥४॥

वियदादिस्वरूपत्वं तत्साम्यं वाऽवरोहिणः । वायुर्भूत्वेत्यादिवाक्यात्तत्द्भावं प्रपद्यते ॥७॥

---

(९०) अनिष्टादिकार्यधिकरण

१ सङ्गति—केवल इष्टादि कर्म करने वाले ही चन्द्रलोक जाते हैं; ऐसी बात नहीं है; किन्तु उनसे भिन्न कर्म करने वाले का भी चन्द्रलोकगमन सम्भव है, इस प्रकार प्रासंग सङ्गति पूर्वाधिकरण के साथ इस अधिरकरण की है।

२. विषय—जो इष्टादि कर्म नहीं करते ऐसे को चन्द्रलोक यात्रा इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—पापी चन्द्रलोक जाता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'ते सर्वे गच्छन्ति' इस वाक्य के द्वारा सभी का चन्द्रलोकगमन सुना गया है, अन्तर इतना ही है कि इष्टादिकारियों का चन्द्रलोक में भोग भी होता है और दूसरों का भोग नहीं होता। भोग न होने पर भी पञ्चम आहुति की पूर्ति के लिए पापियों का भी चन्द्रलोकगमन युक्तिसङ्गत है।

५. सिद्धान्त—चन्द्रलोकगमन भोग के लिए ही होता है। 'सर्व श्रुति पुण्यात्माओं के लिए ही कही गयी है, पापियों को तो यमलोक में यातना ही सुनी जाती है।

(९१) साभाव्यापत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार मार्गद्वयवर्णनसामर्थ्य से 'तृतीयं स्थानम्' इस श्रुति में आया हुआ स्थान शब्द मार्ग का उपलक्षक है, वैसा यहाँ पर 'तद्य इह' इस श्रुति में सादृश्य का उपलक्षक कुछ भी नहीं है और इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण भी नहीं मिलता है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—श्रुति के मुख्यार्थ-गौणार्थ का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

तृतीयाधिकरणमारचयति—

"ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषी० १-२) श्रवणाच्चन्द्रलोकाख्ये स्वर्गे पापिनोऽपि गतिरस्ति। यद्यपि पापिनस्तत्र भोगो न सम्भवति, तथाऽपि पुनरागत्य शरीरग्रहणे पञ्चमाहुतिलाभाय स्वर्गगतिरभ्युपेया।

इति प्राप्ते ब्रूमः—भोगार्थमेव हि स्वर्गगमनम्, न पञ्चमाहुतिलाभार्थम्। पञ्चमाहुतेर्व्यभिचारित्वात्। द्रोणादीनां योषिदाहुतेरभावात्। सीतादीनां पुरुषाहुतेरप्यभावात्। 'ते सर्वे' इति सर्वश्रुतिस्तु सुकृतिविषया। पापिनां तु यमलोके गतिः श्रुता—'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्यत्' इति। पापजनैर्गन्तव्यं यमं प्रीणयत, इत्यर्थः। तस्मान्न पापिनां स्वर्गे गतिः॥३॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

स्वर्गादवरोहप्रकार एवं श्रूयते—"अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। यथेतमाकाशम्, आकाशाद्वायुम्, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति" (छा० ५-१० ५-६) इति। यथेतं यथागतं तथेत्यर्थः। अत्र स्वर्गादवरोहतो जीवस्याऽऽकाशादिस्वरूपत्वं

खंवत्सूक्ष्मो वायुवशो युक्तो धूमादिभिर्भवेत् । अन्यस्यान्यस्वरूपत्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥८॥

(९२) नातिचिराधिकरणम् (५)

व्रीह्यादेः प्राग्विलम्बेन त्वरया वाऽवरोहति । तत्रानियम एव स्यान्नियामकविवर्जनात् ॥९॥
दुःखं व्रीह्यादिनिर्याणमिति तत्र विशेषतः । विलम्बस्तेन पूर्वत्र त्वराऽर्थादवसीयते ॥१०॥

(९३) अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥६॥

व्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्संश्लेषो वा जनिर्भवेत् । जायन्त इति मुख्यत्वात्पशुर्हिंसादिपापतः ॥११॥

---

३ संशय—स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा को आकाशादि स्वरूपत्व की प्राप्ति होती है ? अथवा साम्य की ?

४. पूर्वपक्ष—स्वर्ग से लौटने वाला जीवात्मा 'वायुर्भूत्वा' इत्यादि वाक्य से तत्तद्भाव को प्राप्त करता है :

५. सिद्धान्त—आकाशादि के समान सूक्ष्मरूप वायु के वशीभूत धूमादि से युक्त जीव रहता है, मुख्यरूप नहीं, क्योंकि अन्य अन्य का मुख्य नहीं हो सकता, वह तो गौण ही रहता है ।

(९२) नातिचिराधिकरण

१ सङ्गति—इस प्रकार पूर्वाधिकरण में स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा की सादृश्यापत्ति बतलायी गयी थी अब उसी को उपजीव्य बनाकर अन्य बातों का भी विचार करना है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी उपजीव्य-उपजीवकभाव संगति है।

२. विषय—आकाशसादृश्यापत्तिकाल का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—व्रीह्यादिभावप्राप्ति से पूर्व विलम्ब से अवरोहण होता है अथवा त्वरित गति से ?

४. पूर्वपक्ष—नियामक शास्त्र के अभाव में आकाशादि के साथ सादृश्यापत्ति विलम्ब अथवा अविलम्ब के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं किया जा सकता।

५. सिद्धान्त—व्रीह्यादि मे प्रविष्ट हो जाने के बाद वहाँ से निष्क्रमण कष्टकारक है, ऐसा विशेषण दिया गया है । अतः उससे पूर्व आकाशादि के साथ सादृश्यापत्ति शीघ्रता से होती है, ऐसा निश्चय करना चाहिए क्योंकि व्रीह्यादि के बाद विलम्ब से निष्क्रमण कहा गया है ।

(९३) अन्याधिष्ठिताधिकरण

१. सङ्गति—यद्यपि 'दुर्निष्प्रपतरम्' शब्द से व्रीह्यादि में चिरकाल तक रहना लक्षित होता है,

---

भवति । "वायुर्भूत्वा' इति तत्तद्भावप्रतिपत्तेः श्रुतत्वात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अन्यस्यान्यस्वरूपत्वासम्भवादाकाशप्रतिपत्तिर्नामाऽऽकाशवत्सौक्ष्म्यं रूपं विवक्षितम् । वायुभावो वायुवशता । धूमादिभावो धूमादिभिः सम्पर्क इति निर्णयः ॥४॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

प्रवर्षणानन्तरं व्रीह्यादिभाव आम्नायते "त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते" (छा० ५·१०-६) इति । प्रागेतस्माद्व्रीह्यादिभावादाकाशादौ विलम्बत्वरयोर्नियामकाभावद-नियतिः ।

इति प्राप्ते ब्रूम—व्रीह्यादिभावमभिधायानन्तरम "अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम" (छा० ५-१०-६) इति 'व्रीह्यादिभावान्निर्गमनं दुःखकम्' इति ब्रुवती श्रुतिर्व्रीह्यादौ विलम्बनं विशेषयति । ततोऽर्थात् 'पूर्वं त्वरा' इत्यवसीयते ॥५॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

आकाशादाविव व्रीह्यादौ न संश्लेषमात्रम्, किंतु व्रीह्यादिरूपेण मुख्यं जन्म विवक्षितम्।

वैधान्न पापसंश्लेषः कर्मव्यापृत्यनुक्तितः । श्वविप्रादौ मुख्यजनौ चरणव्यापृतिः श्रुता ॥१२॥
(आदितः श्लोक सं०–१६०)

॥ इति तृतीयोऽध्यायः प्रथमः पादः समाप्तः ॥

फिर भी प्रकृत में तिलमाषादिभाव से जो जीवात्मा का जन्म होता है वह जीव का जन्म मुख्य नहीं कहा जा सकता; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२ **विषय**—स्वर्ग से लौटने वाले जीवात्मा की व्रीह्यादि जन्मप्राप्ति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—स्वर्गावरोही जीव का व्रीह्यादि में जन्म संश्लेषमात्र है अथवा मुख्यरूप है ?

४. **पूर्वपक्ष**—जायन्ते' इस श्रुति के आधार पर उसका व्रीह्यादि योनि में मुख्य जन्म ही मानना चाहिए, क्योंकि स्वर्गप्राप्ति के लिए यागादि का अनुष्ठान करते समय पशुहिंसादि पाप हो जाने के कारण उनके भोग के लिए स्वर्गारोही जीव का व्रीह्यादि योनियों में जन्म लेना मुख्य ही है।

५. **सिद्धान्त**—विहित कर्म से पाप नहीं लगता और व्रीह्यादि योनिप्राप्ति बतलाते समय किसी कर्मव्यापार का कथन नहीं है, जिससे कि आप की कल्पना उचित मानी जा सके। हाँ, उसके बाद कुत्ते, ब्राह्मणादि योनियों में जो जन्म होता है उसमें चरणव्यापार का उल्लेख 'रमणीयचरणाः' 'कपूयचरणाः' इस वाक्यों द्वारा किया गया है। अतः वे जन्म मुख्य माने जाते हैं; किन्तु व्रीह्यादि के साथ तो स्वर्गावरोही का संश्लेषमात्र ही होता है।

[तृतीय अध्याय-प्रथमपाद समाप्त]

* * *

"जायन्ते" इति श्रवणात्। न च स्वर्गे सुकृतफलमनुभूयावरोहतः पापफलरूपस्य स्थावरजन्मनोऽसम्भवः। तद्धेतोः पशुहिंसादेर्विद्यमानत्वान्मुख्यं जन्म।

इति प्राप्ते ब्रूमः—वैधत्वान्न पशुहिंसादितः पापम्। अतः 'जायन्ते' इति श्रुत्या संश्लेषमात्रं विवक्षितम्, न तु मुख्यं जन्म। कर्मव्यापारानभिधानात्। यत्र तु मुख्यं जन्म व्यवस्थितम्, तत्र कर्मव्यापारमभिधत्ते—"रमणीयचरणाः कपूयचरणाः" इति। तस्मात्स्वर्गादवरोहतां व्रीह्यादौ संश्लेषमात्रमिति स्थितम् ॥६॥

[इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः]

❀ अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ❀

(६४) सन्ध्याधिकरणम् ॥१॥

सत्या मिथ्याऽथवा स्वप्नसृष्टिः सत्या श्रुतीरणात्। जाग्रद्देशाविशिष्टत्वादीश्वरेणैव निर्मिता ॥१॥
देशकालाद्यनौचित्याद्बाधितत्वाच्च सा मृषा। अभावोक्तेर्द्वैतमात्रसाम्याज्जीवानुवादतः ॥२॥

❀ तृतीय अध्याय—द्वितीय पाद ❀

[इस पाद के पूर्वभाग मे 'त्वम्' पदार्थ का और उत्तरभाग में 'तत्' पदार्थ का शोधन बतलाया गया है।]

पिछले पाद में पञ्चाग्निविद्या का उदाहरण देकर जीव की गति-आगति का विचार किया गया था। अब इस द्वितीय पाद में कर्मफल से विरक्त मुमुक्षु को महावाक्यार्थज्ञान कराने के लिए 'त्वम्' पदार्थ का शोधन बतलाया जाता है। इसलिए पूर्वपाद के साथ पाद को हेतुहेतुमद्भाव संगति है।

६४. सन्ध्याधिकरण

१. सङ्गति—भिन्न पाद होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की संगति बतलाना आवश्यक नहीं।

२. विषय—जीव का स्वरूप इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—स्वप्नसृष्टि सत्य है अथवा मिथ्या ?

४. पूर्वपक्ष—'अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते' इस प्रमाणभूत श्रुति के आधार पर स्वप्नसृष्टि को सत्य ही मानना चाहिए। जाग्रद् देश के समान ही स्वप्न भी ईश्वर द्वारा निर्मित होने से सत्य ही है।

५. सिद्धान्त—शरीर के भीतर सूक्ष्म नाड़ियों में दीखने वाले स्वप्न दृश्य का होना उचित नहीं जान पड़ता और जगने पर स्वप्नदृश्य का बाध भी हो जाता है। साथ ही 'न तत्र रथाः' इस श्रुति से स्वप्न में रथादि का अभाव भी बतलाया गया है। द्वैतमात्र की समानता को लेकर जीव का अनुवाद किया गया है। अतः स्वप्न का स्रष्टा ईश्वर नहीं है, वह तो वासनामय जीव के द्वारा कल्पित है।

द्वितीयपादे प्रथमाधिकरणमारचयति—

"अथ रथान्, रथयोगान्, पथः सृजते" इति श्रुत्या स्वप्ने रथादीनां सृष्टिरीरिता। अतो वियदादिसृष्टिवद्व्यवहारदशायां सत्या भवितुमर्हति। न च जाग्रद्देशस्य स्वप्नदेशस्य च कंचिद्विशेषं पश्यामः। तत्काले नीजनादीनां तृप्त्याद्यर्थक्रियाकारित्वात्। अतो विमता सृष्टिः सत्या, ईश्वरकर्तृकत्वात्, वियदादिसृष्टिवत्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—स्वप्नसृष्टिर्मृषा। कुतः ? तदुचितदेशकालाद्यसम्भवात्। न हि केशसहस्रांशपरिमितनाडीमध्ये गिरिनदीसमुद्रादीनामुचितो देशोऽस्ति, महानिशीथे शयानस्य सूर्यग्रहणोचितः कालोऽस्ति नानुपनीतस्य बालस्य पुत्रोत्सवादिहर्षनिमित्तान्युचितानि। किं च स्वप्नोपलब्धानां पदार्थानां स्वप्न एव बाधो दृश्यते। कदाचित्तरुत्वेनावसीयमानः पदार्थस्तदैव गिरित्वेनावसितो भवति। यदुक्तम्—'स्वप्नसृष्टिं श्रुतिर्ब्रूते' इति। तत्र साऽपि श्रुतिरभावपूर्विकामेव सृष्टिमाह "न तत्र रथा, न रथयोगाः, न पन्थानो भवन्ति। "अथ रथान्, रथयोगान्, पथः सृजते' (बृ० ४-३-१०) इति। अतो वस्तुतोऽसन्तो रथाद्याः शुक्तिकारजतवदवभासन्त इति श्रुतेरभिप्रायः। यदपि जाग्रत्साम्यमुक्तम्, तदप्यप्रयोजकम्। अनुचितदेशकालादेर्भूयसो वैषम्यस्योक्तत्वात्। यदपि—ईश्वरनिर्मितत्वमुक्तम्। तदप्यसत्। "य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" (क० २-२-८) इति जीवस्यैव स्वप्ननिर्मातृत्वेन श्रुत्याऽनूद्यमानत्वात्। तस्मात्स्वप्नसृष्टिर्मृषा ॥१॥

(६५) तदभावाधिकरणम् ।।२।।

नाडीपुरीतद्ब्रह्माणि विकल्प्यन्ते सुषुप्तये । समुच्चितानि वैकार्थ्याद्विकल्प्यन्ते यवादिवत् ।।३।।

६५. तदभावाधिकरण

१. सङ्गति—जीव को स्वयंप्रकाश बतलाने के लिए स्वप्न को मिथ्या कहा गया है । अब ब्रह्म के साथ अभिन्न होने योग्य सुषुप्त पुरुष कहाँ रहता है, इस बात पर विचार इस अधिकरण में किया जायेगा । अतः पूर्व के साथ इसकी एकाधिकारत्व सङ्गति है ।

२. विषय—छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में जीव का सुषुप्ति स्थान भिन्न-भिन्न बतलाया गया है, इस अधिकरण का यही विचारणीय विषय है ।

३. संशय—क्या नाड़ियों में, पुरीतत् में एवं ब्रह्म में जीव की सुषुप्ति विकल्प से होती है अथवा इन स्थानों का समुच्चय है ।

३. पूर्वपक्ष—उक्त अनेक प्रमाणभूत श्रुतियों को आधार मानकर इन स्थानों में जीव की सुषुप्ति विकल्प से माननी चाहिए । जिस प्रकार 'व्रीहिभिर्यजेत' 'यवैर्वा यजेत' इन दोनों श्रुतियों के आधार पर याग का अनुष्ठान व्रीहि और जो से विकल्पपूर्वक ही होता है, वैसे ही अनेक स्थानों में से जीव स्वेच्छा से कहीं भी शयन कर सकता है ।

५. सिद्धान्त—नाड़ियों से निकलकर पुरीतत् में और वहाँ से निकल कर हृदयस्थ ब्रह्म में जीव का शयन समुच्चयपूर्वक ही होता है । ब्रह्म में प्रवेश के लिए नाड़ियाँ एवं पुरीतत् तो द्वारमात्र है,

---

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

"आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवति" (छा० ८-३-६) इति श्रुतौ सुषुप्तिकाले नाडीप्रवेशो गम्यते । "ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" (बृ० २-१-१९) इति श्रुतौ पुरीतति तदाश्रितत्वं प्रतीयते । "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते" (ब० २-१-१७) इति श्रुत्यन्तरादाकाशशब्दवाच्यब्रह्माश्रितत्व प्रतीयते । तान्येतानि नाड्यादिस्थानानि विकल्पितानि भवितुमर्हन्ति । एकप्रयोजनत्वात् । यथा "व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत" इत्यत्र पुरोडाशनिष्पादकत्वस्य प्रयोजनस्यैकत्वेन विकल्प आश्रितस्तथा-ऽत्रापि सुषुप्त्याख्यं प्रयोजनमेकम् । तस्मात्—'कदाचित्पुरीतति स्वपिति, कदाचिद्नाडीषु स्वपिति, कदाचिद्ब्रह्मणि" इति नाड्यादीनां विकल्पः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—एकप्रयोजनत्वमसिद्धम् । पृथगुपयोगस्य सुवचत्वात् । तथा हि—नाड्यस्ता-वच्चक्षुरादिषु संचरता जीवस्य हृदयनिष्ठं ब्रह्म गन्तुं मार्गभूता भविष्यन्ति । अतः एव श्रुत्यन्तरे—"ताभिः प्रत्यवसृप्य" इति तृतीयया साधनत्वं नाडीनां श्रुतम् । हृदयवेष्टनरूपं तु पुरीतत्-प्रासादवदावरकं भविष्यति । ब्रह्म तु मञ्चकवदाधारः । अतो यथा द्वारेण प्रविश्य प्रासादे पर्यङ्के शेते, तथा नाडीभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति ब्रह्मणि जीवः शयिष्यत इत्युपकारभेदान्नाड्यादीनां समुच्चयः । सुषुप्तौ ब्रह्मणि जीवावस्थाने कुत आधाराधेयभावो न प्रतिभातीति चेत् । 'एकीभावात्' इति ब्रूमः । यथा सोदककुम्भस्तडागजले प्रक्षिप्तो मग्नो न पृथग्भाति, तथाऽन्तःकरणोपाधिको जीव आवरका-ज्ञानरहिते ब्रह्मणि मग्नत्वान्न पृथगवभासते । अत एव श्रुत्यन्तरे सुषुप्तौ जीवस्य ब्रह्मणा सह तादात्म्यप्रतिपत्तिमाह—"सता सोम्य तदा संपन्नो भवति" (छा० ६-८-१) इति । यस्तु विकल्पस्त्वयोक्तः, सोऽष्टदोषग्रस्तत्वादनुपपन्नः । तथा हि—यदा जीवो नाडीषु सुप्तो भवति, तदा पुरीतद्ब्रह्मवाक्ययोः प्राप्तं प्रामाण्यं परित्यक्तव्यं स्यात्, अप्राप्तं चाप्रामाण्यं स्वीक्रियेत, यदा पुनः पुरीतद्ब्रह्मणोः शेते,

समुच्चितानि नाडीभिरुपसृप्य पुरीतति । हृत्स्थे ब्रह्मणि यात्यैक्यं विकल्पे त्वष्टदोषता ॥४॥

(९६) कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥३॥

यः कोऽप्यनियमेनात्र बुध्यते सुप्त एव वा । उदबिन्दुरिवाशक्तेर्नियन्तुं कोऽपि बुध्यते ॥५॥
कर्मविद्यापरिच्छेदादुदबिन्दुविलक्षणः । स एव बुध्यते शास्त्रात्तद्भावः पुनर्भवात् ॥६॥

सुषुप्ति स्थान तो एक ब्रह्म ही है। विकल्प मानने पर आठ दोष भी आते हैं ।

९६) कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में ब्रह्म को जीव का स्वापस्थान बतलाया था, वह ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर सोने वाला जीव दूसरा और जागने वाला दूसरा हो जायेगा। अतः ब्रह्म से भिन्न भी जीव का स्वाप स्थान सम्भव है, ऐसी आक्षेप सङ्गति पूर्व के साथ इस अधिकरण की है।

२. विषय—सोने वाले एवं जागने वाले जीव का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या पहले दिन सोया हुआ जीव ही दूसरे दिन नियमतः जागता है अथवा कोई अन्य जीव ?

४. पूर्वपक्ष—जलाशय में डाला हुआ जल ही फिर से घट में नियमतः नहीं आता, ऐसे ही सुषुप्तावस्था में ब्रह्म को प्राप्त हुआ जीव ही जगता है ऐसा कोई नियामक नहीं है ।

५. सिद्धान्त—सोया हुआ जीव ही जगता है; यह बात कर्म, प्रत्यभिज्ञा, स्मृति, शब्द तथा विधिशास्त्र से सिद्ध होती है। जिस प्रकार जल से परिपूर्ण घट को जलाशय में रख दिया जाय, उल्टा न किया जाये, तो पहले का रखा हुआ जल ही उस घट में आता है, ऐसे ही अविद्यादि उपाधि से उपहित जीव सुषुप्ति में ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है। इसलिए जगने पर अपने व्याघ्रादि स्वभाव से युक्त ही जगता है ।

तदा पुरीतद्ब्रह्मवाक्ययोः पूर्वत्यक्तं प्रामाण्यं स्वीक्रियेत, पूर्वं स्वीकृतं चाप्रामाण्यं परित्यज्येत, इति प्राप्तपरित्यागः अप्राप्तस्वीकारः, त्यक्तस्वीकारः, स्वीकृतपरित्यागश्चेति दोषचतुष्टयं पुरीतद्ब्रह्मवाक्यकोटिद्वयेऽपि दोषचतुष्टये योजिते सत्यष्टौ दोषाः सम्पद्यन्ते । तस्मात्—समुच्चय एव ग्राह्यो न तु विकल्पः ॥२॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

यथा समुद्रे प्रक्षिप्तो यो जलबिन्दुः स एव नियमेन पुनरुद्धर्तुमशक्यस्तथा सुषुप्तौ ब्रह्म प्राप्तो यो जीवः स एव बुध्यत इति नियन्तुमशक्यत्वात् यः कोऽपि बुध्यते ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—विषम उपन्यासः । 'चिद्रूपो जीवः कर्मविद्यावेष्टितो ब्रह्मणि निमज्जति । उदबिन्दुस्त्ववेष्टित' इति वैषम्यम् । यथा गङ्गोदकपरिपूर्णः पिहितद्वारः काञ्चनकुम्भः समुद्रे निक्षिप्तः पुनरुद्ध्रियते, तत्रत्यं गङ्गाजलं तदेव पुनर्विवेक्तुं शक्यते, तथा स जीवः प्रतिबुध्यताम् । अत एव श्रुतिराह—"त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदा भवन्ति" (छा० ६.९.३) इति । 'व्याघ्रादयो ये जीवाः सुषुप्तेः पूर्वं यच्छरीरं प्राप्य वर्तन्ते, त एव जीवाः सुषुप्तेरुपरि प्रबुध्यमानास्तदेव शरीरं प्राप्नुवन्ति' इत्यर्थः । न च सुषुप्तौ ब्रह्म प्राप्तस्य जीवस्य मुक्तवत्पुनरुद्भवानुपपत्तिः । अवच्छेदकस्योपाधेः सत्त्वेन तदुद्भवे जीवोद्भवसम्भवात् । यः सुप्तः स एव प्रतिबुध्यते ॥३॥

(९७) मुग्धेऽर्धसम्पत्त्यधिकरणम् ॥४॥

किं मूर्छैका जाग्रदादौ किं वाऽवस्थान्तरं भवेत् । अन्याऽवस्था न प्रसिद्धा तेनैका जाग्रदादिषु ॥७॥
न जाग्रत्स्वप्नयोरेका द्वैताभानान्न सुप्तता । मुखादिविकृतेस्तेनावस्थाऽन्या लोकसमता ॥८॥

(९८) उभयलिङ्गाधिकरणम् ॥५॥

ब्रह्म किं रूपि चारूपं भवेन्नीरूपमेव वा । द्विविधश्रुतिसद्भावाद् ब्रह्म स्यादुभयात्मकम् ॥९॥

(९७) मुग्धेऽर्धसम्पत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में कर्मादि पाँच हेतुओं से सोने वाले और जागने वाले जीव में ऐक्य बतलाया गया था, वैसे ही सुषुप्ति और मूर्च्छा में भी प्रत्यभिज्ञा के बल से ऐक्य मानना चाहिए। अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—स्वाप एवं मूर्च्छा में जीवाभिन्नत्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या सुषुप्ति ही मूर्च्छा है अथवा मूर्च्छा सुषुप्ति से भिन्न अवस्था है ?

४. पूर्वपक्ष—मूर्च्छा को सुषुप्ति के अन्तर्गत ही मानना चाहिए क्योंकि बाह्य विषयों की संज्ञा का अभाव दोनों अवस्थाओं में तुल्य ही है।

५. सिद्धान्त—जाग्रदादि चार अवस्थाओं में से स्वप्न एवं जाग्रत् में मूर्च्छा का अन्तर्भाव नहीं कह सकते क्योंकि मूर्च्छा में संज्ञा नहीं रहती। मूर्च्छाग्रस्त व्यक्ति को मरा हुआ भी नहीं मान सकते क्योंकि उसके शरीर में प्राण एवं ऊष्मा विद्यमान रहती है। सुषुप्ति में भी मूर्च्छा का अन्तर्भाव नहीं कर सकते क्योंकि मूर्च्छाग्रस्त व्यक्ति के शरीर में कम्पन, उसकी मुखाकृति भयानक एवं नेत्र विस्फारित (फटे हुए) दिखाई देते हैं। परिशेषतः मूर्च्छा को अर्धसुषुप्ति माननी चाहिए।

(९८) उभयलिङ्गाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार तत्-त्वम पदार्थ में से त्वम् पदार्थ का विचार किया गया जो उद्देश्य है। वह स्वप्रकाश, चिद्रूप एवं सभी अवस्थाओं से अतीत है, ऐसा बतला देने के बाद अब विधेय तत् पदार्थ प्रतिपादन का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की अवसर सङ्गति है।

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्योऽन्यस्या अवस्थाया अप्रसिद्धत्वान्मूर्छाया जाग्रदादावन्तर्भावः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—परिशेषादवस्थान्तरमभ्युपेयम्। न तावज्जाग्रत्स्वप्नयोरन्तर्भावः। द्वैतप्रतीत्यभावात्। नापि सुषुप्तौ। विलक्षणत्वात्। सुप्तः पुनः प्रसन्नवदनः समश्वासो निष्कम्पशरीरो भवति। मूर्च्छितस्तु विकृतमुखो विषमश्वासः शरीरकम्पादियुक्तः। यद्यपि जाग्रदादिवद्दैनंदिनत्वाभावान्न मूर्छाया बालकादिषु प्रसिद्धिरस्ति, तथाऽपि कादाचित्कीं मूर्छावस्थां विज्ञाय वृद्धाश्चिकित्सन्ते तस्मात्—अन्येयमवस्था।

तदेवमधिकरणचतुष्टयेन त्वं पदार्थः शोधितः। तत्र स्वप्नसृष्टेर्मिथ्यात्वेन सुखदुःखकर्तृत्वाद्यवभासेऽपि जीवोऽसङ्ग एवेति शोधितम्। सुषुप्तौ ब्रह्मैक्येण तदेवासङ्गत्वमनुभावितम्। तस्यैव पुनः पुनः प्रतिबोधेनानित्यत्वाशङ्का निराकृता। मूर्छाविचारेण श्वासादिमर्वव्यवहारलोपेऽपि मरणे जीवनाशो नाऽऽशङ्कनीय इति दर्शितम् ॥४॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

'तदेतच्चक्षुणाद् ब्रह्म" (छा० ३-१८-२) इत्यादिश्रुतयो रूपवद् ब्रह्म प्रतिपादयन्ति। 'अस्थूल-

नीरूपमेव वेदान्तैः प्रतिपाद्यमपूर्वतः । रूपं त्वनूद्यते भ्रान्तमुभयत्वं विरुध्यते ॥१०॥

(९९) प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम् ॥६॥

ब्रह्मापि नेति नेतीति निषिद्धमथवा न हि । द्विरुक्त्या ब्रह्मजगती निषिध्येते उभे अपि ॥११॥

---

२. विषय—ब्रह्म के स्वरूप का अवधारण इस आधकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—ब्रह्म रूपवान् है अथवा निरूप है ? ऐसा संशय उभय प्रकार की श्रुतियों के कारण होता है।

४. पूर्वपक्ष—'तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म' इस श्रुति ने ब्रह्म को रूपवान कहा है तथा 'अस्थूलमनणु' इस श्रुति ने ब्रह्म को निरूप कहा है, ऐसी प्रमाणभूत दो प्रकार की श्रुतियों के कारण ब्रह्म को उभयात्मक मानना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—वेदान्तशास्त्रप्रतिपाद्य ब्रह्म निरूप ही है क्योंकि यह मानान्तर से सिद्ध न होने के कारण अपूर्व है। जगत्कर्तृत्वादि धर्म से युक्त ब्रह्म को क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्, इस अनुमान से भी जाना जाता है। अतः सविशेष ब्रह्म का उपासना के लिए अनुवाद किया गया है, उसमें श्रुति का तात्पर्य नहीं है। उभयरूप मानना परस्पर विरुद्ध होने के कारण भ्रान्त है, वस्तुतः ब्रह्म निरूप ही है।

(९९) प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण

१ सङ्गति—निषेधश्रुति के बल से जैसे ब्रह्म में निर्विशेषत्व कहा गया है वैसे ही निषेध श्रुति के बल से ही ब्रह्म का निषेध क्यों न मान लिया जाय, ऐसा आक्षेप होने के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—ब्रह्म का अस्तित्वावधारण इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय-'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'अथात आदेशो नेति नेति' इस श्रुति से प्रपञ्च एवं ब्रह्म दोनों का निषेध किया गया है अथवा एक का ?

४. पूर्वपक्ष—अन्यतर निषेध में विनिगमक नहीं दीखता, अतः एक 'नेति' से प्रपञ्च का निषेध और दूसरे 'नेति' शब्द से ब्रह्म का निषेध किया गया है।

मनणु" (बृ० ३ ८-८) इत्यादिश्रुतयो नीरूपं । तस्मात्—वस्तुत उभयमात्मकं ब्रह्म ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—नीरूपमेव शास्त्रप्रतिपाद्यम् । मानान्तरासिद्धत्वात् । जगत्कर्तृत्वादिरूपयुक्तं तु ब्रह्म 'क्षित्यादिकं सकर्तकं, कार्यत्वात्' इत्यनुमानेनाप्यवगन्तुं शक्यते । अतः एवोपासनायानूद्यते न तु तात्पर्येण प्रतिपाद्यते । न च—अनुमानशास्त्रसिद्धयोरुभयोर्वास्तवत्वम् । एकस्मिन्वस्तुनि सरूपत्वनीरूपत्वयोर्विरुद्धत्वात् । तस्मात्-अतात्पर्यविषयस्य सरूपत्वस्य भ्रान्तत्वान्नीरूपमेव वस्तुतो ब्रह्म ॥५॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च" (बृ० २-३-१) इत्येतस्मिन्ब्राह्मण महता प्रबन्धेन पृथिव्यप्तेजोलक्षणममूर्तरूपं वाय्वाकाशलक्षणममूर्तरूपं प्रपञ्च्य तदन्ते ब्रह्मोपदेष्टुमिदमुक्तम्—"अथात आदेशो नेति नेति" (बृ० २-३-६) इति । अस्यायमर्थः—'अथ रूपद्वयकथनानन्तरमरूपिणो ब्रह्मणो वक्तव्यत्वात् 'नेति नेति' इत्यर्थः ब्रह्मोपदेश इति । तत्र पूर्वपक्षी मन्यते—प्रथमनेतिशब्देन जगत एकस्यैव निषेधत्वे द्वितीयो 'नेति' शब्दो निरर्थकः स्यात् । अतो द्वितीयेन ब्रह्मापि निषिध्यते ।

वीप्सेयमितिशब्दोक्ता सर्वदृश्यनिषिद्धये । अनिदं सत्यसत्यं च ब्रह्मैकं शिष्यतेऽवधिः ॥१२॥

(१००) पराधिकरणम् ॥७॥

वस्त्वन्यद्ब्रह्मणो नो वा विद्यते ब्रह्मणोऽधिकम् । सेतुत्वोन्मानवत्त्वाच्च संबन्धाद्भेदवत्त्वतः ॥१३॥

---

५. सिद्धान्त—प्रपञ्च एवं ब्रह्म दोनों का निषेध कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर शून्यवाद का प्रसङ्ग आ जायेगा। रज्जुसर्पादि का निषेध लोक में निरवधिक नहीं देखा गया है। 'इति' शब्द से उक्त निषेधवाचक 'न' कार सर्वदृश्यनिषेध के लिए वीप्सा (व्यापक) अर्थ में कहा गया है। जो सत्य का भी सत्य है, जिसका निर्देश इदम् शब्द से हो ही नहीं सकता उस ब्रह्म का निषेध सम्भव नहीं। अतः निषेध की अवधि में वही शेष रहता है केवल मूर्त एवं अमूर्त प्रपञ्चरूप का ही 'नेति नेति' शब्द से निषेध किया गया है।

(१००) पराधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में 'नेति नेति' शब्द द्वारा प्रपञ्च का निषेधकर ब्रह्म को शेष में रखा, यह ठीक नहीं है क्योंकि सेतुत्व, उन्मानादि का व्यपदेश होने से वस्त्वन्तर की सत्ता भी जान पड़ती है; ऐसा आक्षेप होने पर इस अधिकरण को प्रारम्भ किया गया है। अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—ब्रह्मभिन्न प्रपञ्च का निषेधकर ब्रह्म में अद्वितीयत्व का निर्धारण इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—सेतु, उन्मानादि श्रुति एवं अद्वैत श्रुति के कारण संशय होता है कि ब्रह्म से भिन्न तात्त्विक वस्तु है या नहीं ?

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावद्द्वितीयस्य निषेधस्य वैशिष्ट्यम्। वीप्सार्थत्वात्। सत्यां च वीप्सायां यद्यद्दृश्यते, इति शब्देनानिर्देशार्हं च, तत्सर्वं ब्रह्म न भवतीति निषिद्धं भविष्यति। विना तु वीप्सामेकेन नकारेण मूर्तामूर्तयोः प्रकृतत्वेनेतिशब्दनिर्देशार्हयोर्निषेधे सति मूर्ताद्यभावस्य मूलाज्ञानस्य चानिषिद्धत्वात्तयोर्ब्रह्मत्वं प्रसज्येत। ननु सत्यामपि वीप्सायामप्येव दोषः। वीप्साया निरङ्कुशत्वाद्ब्रह्मापि निषिध्यत इति। तन्न। ब्रह्मणो दृश्यत्वाभावेन निषेध्यसमर्पकेतिशब्दानर्हत्वात्। किंच "अथात आदेश." इति महता संरम्भेण ब्रह्मोपदेष्टुं प्रतिज्ञाय तदेव ब्रह्म निषेधन्ती श्रुतिः कथं न व्याहन्येत। वाक्यशेषश्च न ब्रह्मनिषेधे सङ्गच्छते। वाक्यशेषे च "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्" इत्यादिना विवक्षितस्य ब्रह्मणो लौकिकसत्याद्गिरिनदीसमुद्रादेरधिकमात्यन्तिकं सत्यत्वं सूचयितुं नाम निर्दिष्टम्। सर्वनिषेधपक्षे सर्वमप्येतत्कदर्थितं स्यात्। तस्मान्न ब्रह्म निषिध्यते ॥६॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

यदेतद्ब्रह्म "नेति नेति" इति दृश्यप्रतिषेधेन व्यवस्थापितम्, तस्मादपि ब्रह्मणोऽन्यद्वस्त्वस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्। कुतः? सेतुत्वादिव्यपदेशेभ्यः। "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः" (छा० ८-४ ५) इति सेतुत्वं व्यपदिश्यते। तत्र यथा लोके पारावारवज्जलस्य विधारकः सेतुः, तं च सेतुं तीर्त्वा द्वितीयं जगज्जालं प्रतिपद्यते, तथा ब्रह्मणोऽपि सेतुत्वेन जगद्विधारकत्वाद्ब्रह्म तीर्त्वा गन्तव्येनान्येन केनचिद्भवितव्यम्। तथोन्मानव्यपदेशोऽपि ब्रह्मणः श्रूयते—चतुष्पाद्ब्रह्म, षोडशकलं ब्रह्म" इति। इयचोन्मानं सद्वितीये गवादौ दृष्टचरम्, न त्वद्वितीये कुत्रचित्। तथा सम्बन्धव्यपदेशोऽपि ब्रह्मणः श्रूयते—"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छा० ६ ८-१) इति।

धारणात्सेतुतोन्मानमुपास्त्यं भेदसंगती । उपाध्युद्भवनाशाभ्यां नान्यदन्यनिषेधतः ॥१४॥

(१०१) फलाधिकरणम् ॥८॥

कर्मैव फलदं यद्वा कर्माराधित ईश्वरः । अपूर्वावान्तरद्वारा कर्मणः फलदातृता ॥१५॥

४. पूर्वपक्ष—ब्रह्म से भिन्न भी तात्त्विक वस्तु है क्योंकि उसमें सेतुत्व, उन्मानादि का व्यपदेश देखा जाता है। सम्बन्ध भेद में ही हुआ करता है, अतः ब्रह्म सद्वितीय सिद्ध होता है।

५. सिद्धान्त—ब्रह्म में सेतुत्व मुख्य नहीं है, ब्रह्म को मुख्य सेतु मानने पर उसमें मृत्—दारुमयत्व का भी प्रसङ्ग आने लगेगा। विधारकत्वमात्र बतलाना अभीष्ट है, सद्वितीयत्व नहीं और वह भी उपासना के लिए। भेद व्यपदेश औपाधिक है, पारमार्थिक नहीं है। ब्रह्म से भिन्न सभी उत्पत्ति-विनाशशील होने के कारण पारमार्थिक नहीं है, उन सबका निषेधकर अद्वैत निश्चय कराने में ही श्रुति का तात्पर्य है।

(१०१) फलाधिकरण

१. सङ्गति—ब्रह्मभिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च का निषेधकर निर्विशेष ब्रह्म का अवधारण पिछले अधिकरण में किया गया है, ऐसी स्थिति में उसमें फलदातृत्व नहीं रह जायेगा; ऐसा आक्षेप होने पर इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है। अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—ब्रह्म में फलदातृत्व का निश्चय कराना इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३ संशय—जीव को संसार में त्रिविध कर्मफल भोगते देखा गया है, वह फल स्वतन्त्र कर्म से मिलता है अथवा ईश्वर से मिलता है? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—शुभाशुभ कर्म अदृष्ट द्वारा फल देने में समर्थ है, ऐसी स्थिति में ईश्वर को कर्मफलदाता मानना युक्तियुक्त नहीं है।

इति। स च सम्बन्धः सद्रूपाद्ब्रह्मणोऽन्यस्य विद्यमानतायामवकल्प्यते । तथा "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृ० २-४-५) इति द्रष्टृद्रष्टव्यभेदव्यपदेशोऽपि । तस्मात्—नाद्वितीयं ब्रह्म ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावद्ब्रह्मणः सेतुत्वं मुख्यं संभवति । मृद्दारुमयत्वप्रसङ्गात् । केनचित्सेतुसामान्येन सेतुत्वविवक्षायां विधारकत्वमात्रं विवक्षितम् । न तु सद्वितीयत्वम् । "सेतुर्विधृतिः" (छा० ८-४ १) इति श्रवणात् । उन्मानं तूपास्त्यै व्यपदिश्यते, तत्प्रकरणत्वात् । न तु तत्त्वावबोधार्थम् । भेदव्यपदेशश्चोपाध्युद्भवमपेक्ष्य घटाकाशमहाकाशवदुपपद्यते । सम्बन्धव्यपदेशश्चोपाधिनाशमपेक्ष्य घटभङ्गे घटाकाशमहाकाशवदुपवर्ण्यते । तस्मात्—ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्तुसाधकहेतूनामन्यथासिद्धत्वात् । "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यन्यवस्तुनिषेधाच्चाद्वितीयमेव ब्रह्म ॥७॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

अनुक्षणविनाशिनोऽपि कर्मणोऽपूर्वव्यवधानेनापि कालान्तरभाविफलदातृत्वसंभवादीश्वरकल्पने गौरवम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अचेतनस्य कर्मणोऽपूर्वस्य वा तारतम्येन प्रतिनियतं फलं दातुं न सामर्थ्यमस्ति। लोके सेवादिक्रियायामचेतनायां तददर्शनात् । ततः सेवितराजवत्पूजितेश्वरात्फलसिद्धिरभ्युपेया । न च कल्पनागौरवम् । शास्त्रसिद्धत्वेनेश्वरस्याकल्पनीयत्वात् । "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं, यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं, यमधो निनीषते" इति। श्रुतिरीश्वरस्यैव धर्माधर्मयोः फलदातृत्वं, तत्कारयितृत्वं चाभिदधाति । सति चेश्वरस्य प्रमाणिकत्वे तवैव प्रस्तुताश्रुतस्यापूर्वस्य कल्पनं गौरवं भवेत् । तस्मात्कर्मभिराराधित ईश्वरः फलदाता ।

अचेतनात्फलासूतेः शास्त्रीयात्पूजितेश्वरात् । कालान्तरे फलोत्पत्तेर्नापूर्वपरिकल्पना ॥१६॥

(आदितः श्लो० सं० -२१८)

॥ इति तृतीयोऽध्यायः द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

—※—

॥ अथ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

(१०२) सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥१॥

सर्ववदेष्वनेकत्वमुपा तेरथवैकता । अनेकत्वं कौथुमादिनामधर्मविभेदतः ॥१॥

---

५. सिद्धान्त—अचेतन कर्म अथवा तज्जन्य अपूर्व फल नहीं दे सकता। लोक में सेवादि कर्म का फल देते अचेतन को नहीं देखा गया है, प्रत्युत सेवा से पूजित राजादि पुरुष फलदाता माने गये हैं। शास्त्रसिद्ध ईश्वर को काल्पनिक कहना भी ठीक नहीं, अतः साधुकर्म असाधुकर्म का फल जीव को ईश्वर ही देता है। कर्मसापेक्ष फलदातृत्व ईश्वर में मानने के कारण उसमें वैषम्यादि दोष की कल्पना भी नहीं कर सकते।

इस प्रकार पहले चार अधिकरणों द्वारा 'त्वम्' पदार्थ का शोधन किया गया था, तत्पश्चात् चार अधिकरणों द्वारा ब्रह्म में निरूपत्व, निषेधाविषयत्व, अद्वितीयत्व एवं व्यवहारदशा में फलदातृत्व कहकर 'तत्' पदार्थ का संशोधन भी हो गया।

[तृतीय अध्याय–द्वितीय पाद समाप्त]

॥ तृतीय अध्याय—तृतीय पाद ॥

विगत पाद में वाक्यार्थज्ञान के लिए तत्-त्वम् पदार्थ का निरूपण किया गया, अब वाक्यार्थ-निर्णय के लिए हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति के कारण यह तृतीय पाद प्रारम्भ हो रहा है। इस पाद के अन्तर्गत निर्गुण ब्रह्म में नानाशाखापठित पुनरुक्ति का उपसंहार किया गया है। प्रसङ्गतः सगुण उपासना में कहीं पर शाखान्तरीय गुणों का उपसंहार और कहीं पर अनुपसंहार भी बतलाया जायेगा, इससे चित्त को एकाग्रतापूर्वक निर्गुणवाक्यार्थज्ञान में सामर्थ्य उत्पन्न होगा।

(१०२) सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण

१. सङ्गति—पाद भिन्न होने के कारण पिछले अधिकरण के साथ इस अधिकरण की सङ्गति अपेक्षित नहीं है।

तदेवमधिकरणचतुष्टयेन तत्पदार्थः शोधितः। तत्र प्रथमेन ब्रह्मणो नीरूपत्वम्, द्वितीयेन निषेधाविषयत्वम्, तृतीयेनाद्वितीयत्वम्, चतुर्थेन व्यवहारदशायां कर्मफलदातृत्वम्, शाखाग्रचन्द्र-न्यायेनोपलक्षणतयैव प्रतिपादितम्। इत्येवं 'तत्त्वंपदार्थौ शोधितौ' इति स्थितम् ॥८॥

(अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।)

तृतीयपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्यबृहदारण्यकयोः—पञ्चाग्न्युपासनमाम्नायते। तदेकं न भवति। नामभेदात्। 'कौथुमम्'। इति छान्दोग्यगतस्य नाम। 'वाजसनेयकम्' इति बृहदारण्यकगतस्य नाम। तथोपासनान्तरेषु योजयितव्यम्। धर्मभेदोऽप्युपासनाभेदगमकः शिरोव्रतलक्षणो मुण्डकव्रतशाखायां श्रूयते—"तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत् शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्" (मु० ३-२-१०) इति। शिरोव्रतं नाम वेदव्रत-

विधिरूपफलैकत्वादेक वं नाम न श्रुतम् । शिरोव्रताख्यधर्मस्तु स्वाध्याये स्यान्न वेदने ॥२॥
(१०३) उपसंहाराधिकरणम् ॥२॥
एकोपास्तावनाहार्या आहार्या वा गुणाः श्रुतौ । अनुक्तत्वादनाहार्या उपकारः श्रुतैर्गुणैः ॥३॥

२. विषय—बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य में पढी गयी पञ्चाग्नि विद्या का विचार इस अधिकरण में किया गया है। छान्दोग्य में आयी हुई उपासनाओं का नाम कौथुमम् है और बृहदारण्यक उपनिषद्गत उपासनाओं का नाम वाजसनेयक है, पञ्चाग्नि विद्या के अतिरिक्त तद्गत उपसनाओं का नाम भी ऐसा ही रहेगा ।

३ संशय—सभी श्रुतियों में आयी हुई पञ्चाग्नि विद्या आदि उपासनायें एक हैं अथवा भिन्न हैं ?

४. पूर्वपक्ष—कौथुमादि नाम और शिरोव्रतादि धम के भेद से उपासनायें भिन्न हैं।

५. सिद्धान्त—शाखाभेद रहने पर भी विधिरूप एवं फल का अभेद होने के कारण ऐसी उपासनायें अभिन्न मानी जाती हैं। छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' ऐसी विधि एक सी है, पञ्चाग्नि रूप भी समान ही है एवं ज्येष्ठत्व-श्रेष्ठत्व की प्राप्तिरूप फल भी एक जैसा ही है, अतः उसमें उपासनायें अभिन्न हैं। शिरोव्रतादिनामक धम स्वाध्याय का अङ्ग है, उपासना का अंग नहीं है। अतः अभेद का कारण विद्यमान रहने से और भेद के सिद्ध न होने के कारण शाखाभेद से ऐसी उपसनायें भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

(१०३) उपसंहाराधिकरण

१ सङ्गति—सभी शाखाओं में उपासना के अभेद से फल भी अभिन्न ही होता है, यह बतलाने के के लिए फलफलीभाव संगति के कारण ही यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—उपासनाओं के फल में भेदाभेद का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या सर्वत्र उपासना में एकत्व सिद्ध हो जाने पर एक शाखागत उपासना के गुणों का अन्यशाखीय उपासना में उपसंहार करना चाहिए या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—वाजसनेयक को प्राण उपासना में रेत नामक गुण अधिक पढ़ा गया है जो छान्दोग्य-

---

विशेष आथर्वणिकान्प्रति विहितो नेतरान्प्रति। तस्मात्—शाखाभेदादुपासनाभेदः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—शाखाभेदेऽपि विद्याद्यभेदादुपासनं न भिद्यते। तथा च छान्दोग्ये "यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' (छा० ५-१-१, बृ० ६-१ १) इति यादृशः प्राणविद्याविधिस्तादृश एव बृहदारण्यकेऽप्याम्नायते । तथा—द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषिदाख्यमाग्निपञ्चक वेद्यतया। पञ्चाग्नि-विद्यायां यत्स्वरूपम्, तदुभयोरपि शाखयोः समा म। फलं च "ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति" इत्येवं-रूप प्राणोपाप्तिजन्यं शाखाद्वयेऽप्येकविधम्। यत्तु कौथुमादिनामभेद उदाहृत, नासौ श्रुत्याऽभिहितः। किं तर्हि ? अध्येतार एव केवल तत्तच्छाखाप्रवर्तकमुनिनाम्ना तं तं वद व्याहरन्ति। योऽपि शिरोव्रताख्यधर्मभेद उक्त, सोऽप्यध्ययनविषय एव, नतूपास्ति वषयः । 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" (मु० ३-२ ११) इत्यध्ययनधर्मत्वावगमात् । तस्मात्—ऐक्यहेतुसद्भावाद्भेदहेत्वभावाच्च न शाखाभेदादुपासन विद्यते ॥१॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

वाजसनेयके प्राणविद्यायामधिको गुणो रेतआख्यः श्रुतः—"रेतो होच्चक्राम" (बृ० ६-१-१२) इति। नासौ छान्दोग्ये प्राणविद्यायामुपसंहर्तव्यः । अत्रानुक्तत्वात् । विद्योपकारस्त्वत्र श्रुतैरेव प्राणवागादिभिर्गुणैर्भविष्यति।

श्रुतत्वादन्यशाखायामाहार्या अग्निहोत्रवत् । विशिष्टाविद्योपकारः स्वशाखोक्तगुणैः समः ॥४॥

(१०४) अन्यथात्वाधिकरणम् ॥३॥

एका भिन्नाऽथवोद्गीयविद्या छान्दोग्यकाण्वयोः । एका स्यान्नामसामान्यात्संग्रामादिसमत्वतः ॥५॥
उद्गीथावयवोंकार उद्गातेत्युभयोर्भिदा । वेद्यभेदेऽर्थवादादिसाम्यमत्राप्रयोजकम् ॥६॥

गत प्राणोपासना में उपसंहरणीय नहीं है, उपासना का उपकार तो स्वशाखागत गुणों से ही हो जायेगा।

५. सिद्धान्त—एक शाखागत गुणों का दूसरी शाखा में श्रवण न होने पर भी परस्पर गुणों का उपसंहार होना चाहिए। जैसे अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान में शाखान्तरीय गुणों का उपसंहार होता है, वैसे ही उपासना में भी करना चाहिए। स्वशाखागत गुणों से जिस प्रकार उपासना का उपकार होता है, ऐसे ही शाखान्तरीय गुणों के चिन्तन से भी उपासना का उपकार होगा।

(१०४) अन्यथात्वाधिकरण

१. सङ्गति—विधि आदि की समानता से उपासना में एकत्व पहले कहा गया था, ऐसे ही 'उद्गीथ विद्या' ऐसी समाख्या की समानता से भी विद्या में अभेद सिद्ध होगा। अतः पूर्व अधिकरण के साथ दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण आरम्भ होता है।

२. विषय—उद्गीथ विद्या के भेदाभेद का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक में आयी हुई उद्गीथ विद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है?

४. पूर्वपक्ष—उद्गीथ नाम एवं देवासुर संग्रामादि आख्यान की समानता को देखते हुए दोनों की उद्गीथ विद्या एक ही माननी चाहिए।

५. सिद्धान्त—छान्दोग्य में उद्गीथावयव ओंकार की प्राणदृष्टि से उपासना कही गयी है, किन्तु वृहदारण्यक में सम्पूर्ण उद्गीथ भक्ति की उपासना बतलायी गयी है; अतः वेद्य के भेद से उपासना भिन्न है। संग्रामादि की अभिन्नता उपासना के अभेद का प्रयोजक नहीं है क्योंकि वह अर्थवाद है। अतः दोनों शाखाओं में उदगीथ विद्या भिन्न ही है, एक नहीं है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—एतच्छाखायामश्रवणेऽपि शाखान्तरे श्रुतत्वादुपसंहार्य एव। अग्निहोत्राद्यनुष्ठानेषु शाखान्तरोक्तगुणयुक्ततयैवानुष्ठानदर्शनात्। न च स्वशाखोक्तगुणैरेव विद्योपकारसिद्धौ गुणोपसहारो निरर्थक इति वाच्यम्। 'कर्मभूयस्त्वात्फलभूयस्त्वम्' इति न्यायेन स्वशाखोक्तगुणवत्परशाखोक्तगुणानामप्युपकारकत्वात्। तस्माद्गुणोपसंहारः कर्तव्यः ॥१॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

'उद्गीथविद्या' इति समाख्याया एकत्वाच्छान्दोग्यकाण्वशाखयोर्विद्यैक्यमुचितम्। अथ समाख्या न श्रौती, तथाऽपि श्रौताः संग्रामादय उभयत्र समानाः। तथा हि-छान्दोग्ये देवासुरभाव क्रमेण सात्त्विकेन्द्रियवृत्तीनां तामसेन्द्रियवृत्तीनां चाङ्गीकृत्य तत्संग्रामं निरूप्य वागादिदेवानामसुरविद्धत्वमुक्त्वा प्राणस्यैवतदविद्धत्वमुक्तम्। एतत्सर्वं काण्ववेदेऽपि समानम्। तस्मात्–उभयत्र विद्यैक्यम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—भिन्नेयमुद्गीथविद्या। वेद्यस्वरूपभिन्नत्वात् छान्दोग्ये तावत्सामभागविशेष्यस्योद्गीथस्यावयव ओंकारः। स एव प्राणदृष्ट्योपासनीयः। काण्ववेदे तु कृत्स्नोद्गीथभक्तेर्य उद्गाता, वागिन्द्रियप्रेरकः प्राण स उद्गातृत्वेनोपास्य इति वेद्यभेदः। यत्तु संग्रामादिसाम्यमुक्तम्। तदप्रयोजकम्। अर्थवादत्वात्। यद्यपि प्राणस्यासुरविद्धत्वाभावेन श्रेष्ठत्वम्। तद्द्वयप्युपास्यम्, तथाऽप्युक्तस्य वेद्यभेदस्यानिराकरणात्–भिन्नैवोद्गीथविद्या ॥३॥

(१०५) व्याप्त्यधिकरणम् ॥४॥

किमध्यासोऽथवा बाध ऐक्यं वाऽथ विशेष्यता । अक्षरस्यात्र नास्त्येकं नियतं हेत्वभावतः ॥७॥
वेदेषु व्याप्त ओंकार उद्गीथेन विशेष्यते । अध्यासादौ फलं कल्प्यं संनिकृष्टांशलक्षणा ॥८॥

(१०५) व्याप्त्यधिकरण

१. सङ्गति—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथम्' (छा० १-१-१) इस वाक्य में ॐ कार तथा उद्गीथ में विशेषणविशेष्यभाव मानकर प्रक्रम के भेद से उपासना में भेद कहा गया था, वह ठीक नहीं है; ऐसी आक्षेप सङ्गति पूर्व अधिकरण के साथ इसकी है।

२. विषय—इस अधिकरण में ॐकार तथा उद्गीथ में सामानाधिकरण्य विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या नाम ब्रह्म की भांति ॐकार तथा उद्गीथ में सामानाधिकरण्य अध्यासार्थ है अथवा अपवादरूप है या द्विजोत्तमो ब्राह्मणो भूसुरः की भांति मुख्यार्थक है अथवा नीलमुत्पलम् की भांति विशेषण-विशेष्य को बतलाता है ?

४. पूर्वपक्ष—ॐकार तथा उद्गीथ में अभेद नियत नहीं है क्योंकि उसका कोई कारण नहीं दीखता, अतः उक्त चारों पक्षों में से किसी भी एक पक्ष का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

५. सिद्धान्त—सम्पूर्ण वेदों में ॐकार व्याप्त है जिसमें उद्गीथ में विशेषणविशेष्यभावरूप सामानाधिकरण्य मानना ही उचित है। अध्यास पक्ष में विलक्षणा करनी पड़ेगी, अपवाद पक्ष में फलान्तर-कल्पना का प्रसङ्ग आयेगा और अभेद पक्ष में शब्दद्वय का उच्चारण व्यर्थ हो जाएगा। परिशेषतः विशेषण-विशेष्यभाव पक्ष ही श्रेष्ठ है। जब सभी वेदों में ॐकार व्याप्त है तो हम किस ॐकार की उपासना करें, ऐसा संशय होने पर 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इस श्रुतिवाक्य द्वारा सामभक्ति उद्गीथ के अवयवरूप से ॐकार को विशेषित किया गया है। अतः ॐकार विशेष्य है और उद्गीथ उसका विशेषण है अर्थात् उद्गीथावयवरूप ॐकार की ही उपासना करनी चाहिए, ऐसा विशेषणविशेष्यभाव ॐकार एवं उद्गीथ में मानना उचित होगा।

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छा० १-१-१) इत्यक्षरोद्गीथयोः सामानाधिकरण्यं श्रूयते। तत्र चतुर्धा संशयः। तथा हि—"नाम ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यत्र नाम्नि ब्रह्मदृष्ट्यध्यासाय सामानाधिकरण्यं श्रुतम्। तथा बाधार्थमप्युदाह्रियते—'यश्चौरः। स स्थाणुः" इति चौरत्वस्य बाधः। "यो जीवस्तद्ब्रह्म" इत्यैक्यम्। 'यन्नीलं तदुत्पलम्' इति विशेष्यता। अतोऽक्षरस्य चतुर्धा संदेहे सति 'इदमेव' इत्येवं नास्त्यध्यवसायः। नियामकस्य हेतोरभावात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अक्षरस्योद्गीथेन विशेष्यता नियन्तुं शक्यते। ओंकारो हि ऋग्यजुःसामसु त्रिषुत्र पठ्यते। तत्र 'कस्योपास्यत्वम्' इत्यपेक्षायाम्। 'उद्गीथभागस्थितस्य, न त्वितरस्य' इति सामवेदगतस्य विशेषणीयत्वात्। अध्यासबाधैक्यपक्षेषु फलमपि कल्पनीयं प्रसृज्येत स्वतन्त्रोपासनत्वेन फलस्याऽऽकाङ्क्षितत्वात्। विशेषणपक्षे तु वक्ष्यमाणरसतमत्वादिगुणोपासनाय प्रतीकत्वेनोंकार उद्गीथेन विशेष्यते न तु स्वतन्त्रमुपासनम्। ततो न पृथक्फलं कल्पनीयम्। ननु—उद्गीथशब्द कृत्स्नभक्तिवाचकः। ओंकारस्तु तदवयवः। एवं चोंकारं विशिंषदुद्गीथशब्देन तदंशलक्षणा स्वीकरणीया स्यात्। बाढम्। तथाऽप्यध्यासपक्षात्समीचीनो विशेषणपक्षः। अध्यासपक्षे तु यथा विष्णुशब्दः स्वार्थं सर्वं परित्यज्यार्थान्तरभूतां शिलाप्रतिमां लक्षयति, तथोद्गीथशब्दोऽपीति विप्रकर्षः। अंशलक्षणायां तु स्वार्थैकदेशस्यैव परित्याग इति संनिकर्षः। ओंकारादितराक्षरजातं यदस्ति सोऽयं परित्यक्तः स्वार्थैकदेशः। तस्मादृग्वेदादिगतोंकारव्यावृत्त्यर्थमुद्गीथावयवत्वेनाक्षरं विशिष्यते ॥४॥

(१०६) सर्वाभेदाधिकरणम् ॥५॥

वसिष्ठत्वाद्यनाहार्यमाहार्यं वैवमित्यतः । उक्तस्यैव परामर्शादनाहार्यमनुक्तितः ॥९॥
प्राणद्वारेण बुद्धिस्थं वसिष्ठत्वादि तेन तत् । एवंशब्दपरामर्शयोग्यमाहार्यमिष्यते ॥१०॥

(१०७) आनन्दाद्यधिकरणम् ॥६॥

नाऽऽहार्या उत वाऽऽहार्या आनन्दाद्या अनाहृतिः । वामनीसत्यकामादेरिवैतेषां व्यवस्थितेः ॥११॥

---

१०६ सर्वाभेदाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण की भाँति 'एवं विद्वान्' इस वाक्य द्वारा प्रकृत गुणमात्रग्राहक 'एवं' शब्द से शाखान्तरीय गुणों की व्यावृत्ति हो जाती है, अतः पूर्व के साथ इसको दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—वाजसनेयक तथा छान्दोग्य में आयी हुई प्राण उपासना के भेदाभेद पर यहाँ विचार किया गया है।

३. संशय—क्या प्राण उपासना के वसिष्ठत्वादि गुणों का उक्त दोनों शाखागत प्राण उपासना में उपसंहार करना चाहिए या नहीं?

४. पूर्वपक्ष—'य एवं वेद' इस वाक्य में 'एवं' शब्द से स्वशाखागत गुणों का ही परामर्श होता है, अतः प्राण उपासना में तत्तद्शाखीय गुणों का ही चिन्तन करना चाहिए।

५. सिद्धान्त—प्राण द्वारा बुद्धिस्थ वसिष्ठत्वादि गुणों का 'एवं' शब्द से परामर्श होता है क्योंकि उसमें ऐसी शक्ति है। अतः 'एवं' शब्द से परामर्शयोग्य समस्त गुणों का उपसंहार प्राणोपासना में उभयशाखा के अनुसार करना चाहिए।

(१०७) आनन्दाद्यधिकरण

१. सङ्गति—सविशेष प्राण की उपासना में शाखान्तरीय वसिष्ठत्वादि गुणों का उपसंहार भले हो कर लें किन्तु निर्विशेष ब्रह्म के स्वशाखागत धर्म से ही प्रमाज्ञान हो जाने के कारण शाखान्तरीय आनन्दादि गुणों का उपसंहार करना उचित नहीं है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है।

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

प्राणविद्यायां छान्दोगाः काण्वाश्च वसिष्ठत्वप्रतिष्ठादिकान्गुणानामनन्ति, न त्वैतरेयककौषीतक्यादयः। तत्र वसिष्ठत्वादिकं नोपसंहर्तव्यम्। कुतः? "य एवं वेद" इत्येवंशब्देन तत्तच्छाखोक्तगुणानामेव परामर्शात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—उक्तगुणवदनुक्ता अपि गुणा एवंशब्दपरामर्शयोग्याः। कुतः? गुणिनः प्राणस्यैकत्वेन तद्द्वारा गुणानां बुद्धिस्थत्वात्। यथा देवदत्तो मथुरायामध्यापयन्दृष्टः पुनर्माहिष्मत्यामनध्यापयन्नप्यध्यापकत्वेनैव प्रत्यभिज्ञायते, तथा छान्दोग्यादौ वसिष्ठत्वादिगुणयुक्ततयोपलब्धः पुनरैतरेयादौ केवल उपलभ्यमानोऽपि तद्गुणविशिष्टतयैव बुद्धिस्थो भवेत्। तस्मात्-एवंशब्दपरामर्शयोग्यत्वाद्वसिष्ठत्वादिकमुपसंहर्तव्यम् ॥५॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

"आनन्दो ब्रह्म" (तै० ३-६) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २-१) इत्यानन्दसत्यत्वादयस्तैत्तिरीयके परब्रह्मविद्यायां पठ्यन्ते, ते "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० ५-३) इत्याद्यैतरेयकादिप्रोक्तासु परब्रह्मविद्यासु नोपसंहर्तव्याः। वामनीत्वादिवद्व्यवस्थोपपत्तेः। "एष उ एव वामनीः, एष उ एव भामनीः"

विधीयमानधर्माणां व्यवस्था स्याद्यथाविधि । प्रतिपत्तिफलानां तु सर्वशाखासु संहृतिः ॥१२॥

(१०८) आध्यानाधिकरणम् ॥७॥

सर्वा परम्पराऽक्षादेर्ज्ञेया पुरुष एव वा । ज्ञेया सर्वा श्रुतत्वेन वाक्यानि स्युर्बहूनि हि ॥१३॥

---

२. विषय— निर्विशेष ब्रह्म के आनन्दादि गुणों के उपसंहार-अनुपसंहार का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—निर्गुणब्रह्मप्रतिपादक श्रुतियों में कहीं आनन्दरूपत्व, कहीं विज्ञानघनत्व, कहीं सर्वव्यापकत्व और कहीं सर्वात्मकत्व धर्म सुने जाते हैं। वे धर्म जहां जितने सुने गये हैं, उतनें का ही चिन्तन तत्तच्छाखागत निर्गुण उपासना में करना चाहिए अथवा शाखान्तरीय गुणों का भी चिन्तन करना चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—वामनित्व, सत्यकामत्वादि की भांति स्वशाखागत आनन्दरूपत्वादि गुणों के चिन्तन से ही निर्गुण उपासना पूर्ण हो जाती है, अतः शाखान्तरीय धर्म का चिन्तन अनावश्यक है।

५. सिद्धान्त—वामनित्वादि धर्म ध्येयरूप से विधान किये गये हैं, उनका चिन्तन भले ही स्वशाखीय गुणों से पूर्ण हो जाता है; पर आनन्दरूपत्वादि धर्म का प्रतिपादन ब्रह्मबोध के लिए किया गया है, उपासना के लिए नहीं । अतः व्यवस्थापक विधि के अभाव में सर्वत्र निर्गुण उपासनाओं में शाखान्तरीय आनन्दरूपत्वादि समस्त गुणों का चिन्तन करना ही चाहिए।

(१०८) आध्यानाधिकरण

१. सङ्गति—आनन्दादि धर्म ब्रह्मरूप होने के कारण उपसंहार के योग्य थे क्योंकि वे ब्रह्मज्ञान के उपाय हैं, किन्तु जो ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी उपसंहार के योग्य नहीं है ऐसा अर्थादिपरत्वरूप आत्मधर्म भी आत्मज्ञान का उपाय है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी एकफलत्व सङ्गति है।

२. विषय—काठकोपनिषद् के 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इत्यादि वाक्य में पढ़े गये परत्व का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या ये वाक्य भिन्न-भिन्न हैं अथवा आत्मपरक होने के कारण एक ही वाक्य है ?

(छा० ४-१५-३, ४) इति वामनेतृत्वभासकत्वादयो गुणा उपकोसलविद्यायामाम्नाताः । "सत्यकामः सत्यसंकल्पः" (छा० ८-१-५) इति सत्यकामादयो गुणा दहरविद्यायां समाम्नाताः । तत्र यथा परस्परं गुणानुपसंहार एवमानन्दादीनां व्यवस्थाऽस्तु ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—विषमो दृष्टान्तः । वामनीत्यादिना ध्येयत्वेन विधीयमानत्वाद्यथाविधि व्यवस्था युक्ता । आनन्दादयस्तु प्रतिपत्तिफला इति न विधीयन्ते । अतो व्यवस्थापकविध्यभावात्प्रतिपत्तिफलस्य सर्वत्र समानत्वाच्चाऽऽनन्दादय उपसंहर्तव्याः ॥६॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

कठवल्लीषु पठ्यते—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ इति । (क० १-३-१०/११)

अस्यायमर्थः—'मनसा विषयानभिलष्य पश्चादिन्द्रियैर्बाह्यान्विषयानाप्नोति । तत्र बाह्यविषयेभ्य इन्द्रियाणामान्तरत्वात्परत्वं प्रसिद्धम् । इन्द्रियेभ्यश्चाभिलष्यमाणत्वदशापन्ना अर्था आन्तराः । तेभ्यो-

पुमर्थः पुरुषज्ञानं तत्र यत्नः श्रुतो महान् । तद्बोधाय श्रुतोऽक्षादिर्वेद्य एकः पुमांस्ततः ॥१४॥

(१०९) आत्मगृहीत्यधिकरणम् ॥८॥

(प्रथमः वर्णकम्)

आत्मा वा इदमित्यत्र विराट्स्यादथवेश्वरः । भूतासृष्टेर्नेश्वरः स्याद्गवाद्यानयनादविराट् ॥१५॥

४. पूर्वपक्ष—प्रत्येक वाक्य मे परत्व का प्रतिपादन होने के कारण ये वाक्य भिन्न-भिन्न ही हैं।

५. सिद्धान्त—सम्यग्ज्ञान के लिए अर्थादि सभी से परे आत्मा का प्रतिपादन किया है। वहाँ पर प्रत्येक अर्थादि परत्वेन प्रतिपाद्य नहीं है क्योंकि उसमें कोई फल नहीं है। 'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' इस वाक्य द्वारा इन्द्रियादियों से परे आत्मज्ञान होने पर केवल मोक्षसिद्धि प्रयोजन सुना जाता है। अतः प्रतिपाद्य के ऐक्य से इन वाक्यों का अभेद मानना ही उचित है।

आत्मगृहीत्यधिकरण

(प्रथम वर्णक)

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में वाक्यभेद के भय से अर्थादि प्रत्येक में पृथक् प्रतिपाद्यत्व नहीं है, ऐसा कहा था। ऐसे ही ऐतरेय के पूर्ववाक्य में हिरण्यगर्भ का प्रसङ्ग होने के कारण वाक्यभेद के भय से उसी का आत्म शब्द से अभिधान मानना उचित होगा, ऐसी दृष्टान्त सङ्गति पिछले अधिकरण के साथ इसकी है।

२. विषय—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत्' (ऐत० १-१) इस वाक्य में आये हुए आत्म शब्द का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या यहाँ पर आत्म शब्द से हिरण्यगर्भ को कहा गया है अथवा परमात्मा को ?

ऽप्यभिलाषात्मिका मनोवृत्तिरान्तरा। वृत्तेरपि वृत्तिमती बुद्धिराभ्यन्तरा। बुद्धेरपि बुद्ध्युपादानभूतो महच्छब्दवाच्यो हैरण्यगर्भरूपात्माऽऽभ्यन्तरः। महतोऽपि तदुपादानभूतमव्यक्ताख्यं मूलाज्ञानमाभ्यन्तरम्। अव्यक्तादपि तदधिष्ठानभूतश्चिद्रूपः पुरुषोऽभ्यन्तरः। पुरुषादभ्यन्तरं न किंचिदस्ति। पुरुष एवाभ्यन्तरतारतम्यस्य विश्रान्तिभूमिः। पुरुषार्थकामैः परमा गन्तव्यश्च' इति। तत्र यथा पुरुषः श्रुत्या तात्पर्येण प्रतिपाद्य एवमिन्द्रियादिपरम्पराऽपि प्रतिपाद्यैव। अन्यथा तदुपन्यासवैयर्थ्यात्। बहूनां प्रतिपादने वाक्यभेदः स्यादिति चेत्। बाढम्। सन्त्येव तानि बहूनि वाक्यानि। एकवाक्यत्वासम्भवात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—पुरुषज्ञानस्याशेषसंसारनिदानभूताज्ञाननिवर्तकत्वात्पुरुष एव ज्ञेयतया प्रतिपाद्यः। अत एव वाक्यशेषे पुरुषज्ञानायैव महता प्रयत्नेन योग उपदिष्टः—

'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (क. १-३-१२) इति।

अस्यायमर्थः—'सर्वाभ्यन्तरत्वेन गूढोऽयमात्मा वहिर्मुखाणां न प्रकाशते। अन्तर्मुखा ये सूक्ष्मतत्त्वदर्शनशीलास्तैर्योगाभ्यासेनैकाग्र्यमापन्नया बुद्ध्या सूक्ष्मवस्तुविषयया द्रष्टुं शक्यते' इति। न च पुरुषस्यैव प्रतिपाद्यत्वे परम्परोपदेशवैयर्थ्यम्। वहिर्मुखस्य चित्तस्य पुरुषप्रवेशं प्रति परम्परायाः साधनत्वात्। तस्मात्पुरुष एव ज्ञातव्यः ॥७॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यत्र विराडेवाऽऽत्मशब्दवाच्यो नेश्वरः। कुतः? 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा" इति (ऐ० १-१)। पञ्चभूतसृष्टिमनुक्त्वा लोकमात्रसृष्टेरभिधानात्। ईश्वरप्रकरणे तैत्तिरीयच्छान्दोग्यादिषु भूतसृष्ट्यभिधानदर्शनात्। "ताभ्यो गामानयत्"(ऐ० २-२) इति प्रोक्तं गवा-

भूतोपसंहृतेरीशः स्यादद्वैतावधारणात् । अर्थवादो गवाद्युक्तिर्ब्रह्मात्मत्वं विवक्षितम् ॥१६॥

(द्वितीयः वर्णकम्)

द्वयोर्वस्त्वन्यदेकं वा काण्वच्छान्दोग्यषष्ठयोः । उभयत्र पृथग्वस्तु सदात्मन्यामुपक्रमात् ॥१७॥

---

४. पूर्वपक्ष—"आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः" (बृ० १-४-१) इस श्रुति और 'स वै शरीरी प्रथमः' इस स्मृति के अनुसार परमेश्वराधीन किसी दूसरे पुरुष के द्वारा लोकसृष्टि का अवतरण होता है। 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा' (ऐ० १-१) इस वाक्य में लोकस्रष्टा हिरण्यगर्भ सुना गया है, भूतसृष्टि नहीं सुनी गयी है। गवादि का आनयन भी सुना जाता है। अतः हिरण्यगर्भ ही आत्म शब्द का अर्थ है।

५. सिद्धान्त—इस सृष्टिवाक्य में आत्म शब्द से परमात्मा को ही कहा गया है। जैसे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः' (तै० २-१-१) इन अन्य सृष्टिवाक्यों में परमात्मा का ही ग्रहण आत्मशब्द से होता है वैसे ही यहाँ पर भी मानना चाहिए। भूतसृष्टि का यहाँ पर उपसंहार कर लेने पर परमात्मा का ही ग्रहण उचित होगा। गवादि आनयन तो अर्थवाद है, आत्मत्व का प्रतिपादन करना ही शास्त्र को अभीष्ट है।

(द्वितीय वर्णक)

१. सङ्गति—वाक्य की एकवाक्यता के बल से केवल आत्मा में अर्थादिपरत्व मानकर आप ने पूर्व अधिकरण में विद्यैकत्व कहा था, किन्तु वाजसनेयक और छान्दोग्य में उपक्रम के भेद से वाक्यभेद होने के कारण दोनों स्थल पर एक विद्या मानना उचित नहीं है; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति पूर्व अधिकरण के साथ इसकी है।

२. विषय—वाजसनेयक तथा छान्दोग्य में आये 'आत्म' एवं 'सत्' शब्द का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—'कतम आत्मा' (बृ ४-३-७) इस श्रुति के द्वारा बृहदारण्यक में आत्म शब्द से जिसे कहा गया है, क्या उसी को छान्दोग्य में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१) इस उपक्रमस्थ सद्वस्तु से कहा है अथवा भिन्न वस्तु से?

४. पूर्वपक्ष—'सत्' शब्द और 'आत्म' शब्द लोक में समानार्थक नहीं देखे गये हैं, अतः दोनों के अर्थ में भेद होने से वस्तु भिन्न है।

द्यानयनं शरीरिणो विराजो घटते, न त्वशरीरस्य परमेश्वरस्य ।

इति प्राप्ते ब्रूमः "एक एवाग्र आसीत्" इत्यद्वैतावधारणादीश्वरोऽत्राऽऽत्मशब्दार्थः । तथा च सति शाखान्तरोक्तभूतसृष्टिरत्रोपसंहर्तुं शक्यते । यत्तु गवाद्यानयनम्, तदर्थवादरूपम् । तद्वेदनस्य स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थत्वाभावात् । अथ भूतार्थवादत्वं मन्येथास्तर्हि विराडादिद्वारा परमेश्वर एव गवादिकमानयतु । अथ श्रूयमाणस्य गवानयनप्रपञ्चस्यार्थवादत्वे श्रुतेर्विवक्षितार्थः कोऽपि न सिध्येदिति चेत् । न जीवब्रह्मैक्यस्य विवक्षितत्वात् । 'आत्मा वै' इत्युपक्रम्य "स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्" "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० ३-१३) इत्युपसंहारात् । तस्मादीश्वरः एवाऽऽत्मशब्दवाच्यः ।

द्वितीयवर्णकमाह—

काण्वषष्ठाध्याये "कतम आत्मा" (बृ० ४-३-७) इत्यारभ्याऽऽत्मा प्रपञ्चितः । छान्दोग्यषष्ठे तु "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छा० ६-२-१) इत्युपक्रम्य सद्वस्तु प्रपञ्चितम् । न हि लोके सच्छब्दात्मशब्दौ पर्यायौ । तस्मात्—वस्तुभेदः ।

साधारणोऽयं सच्छब्दः स आत्मा तत्त्वमित्यतः । वाक्यशेषादात्मवाची तस्माद्वस्त्वेकमेतयोः ॥१८॥

(११०) कार्याख्यानाधिकरणम् ॥९॥

अनग्नबुद्ध्याचमने विधेये बुद्धिरेव वा । उभे अपि विधीयेते द्वयोरत्र श्रुतत्वतः ॥१९॥
स्मृतेराचमनं प्राप्तं प्रायत्यार्थमनूद्य तत् । अनग्नतामतिः प्राणविदोऽपूर्वा विधीयते ॥२०॥

---

५. सिद्धान्त—सच्छब्द आत्मा एव अनात्मा दोनों अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः उपक्रमवाक्य में जब 'सत्' शब्द के अर्थ में सन्देह हुआ तो 'स आत्मा, तत्त्वमसि' इस वाक्यशेष में सुना गया आत्मवाची शब्द ही शब्दार्थ अर्थात् सदर्थ का वाचक है, दोनों में भेद नहीं है।

(११०) कार्याख्यानाधिकरण

१. सङ्गति—जैसे पूर्व अधिकरण में उपसंहार वाक्यानुसार संदिग्ध 'सत्' शब्द से प्रारम्भ किया गया वाक्य आत्मपरक है, वैसे ही 'आचामेत' इस वाक्यशेष के बल से 'आचामन्ति' इस वर्तमान लकार से कही गयी संदिग्ध विधि में विधित्व का निर्णय कर लेना चाहिए। इस प्रकार पूर्व अधिकरण के निर्णय को दृष्टान्त बनाकर इसका उत्थान हुआ है।

२. विषय—भोजन से पूर्व और पश्चात् किये जाने वाले आचमन का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—छान्दोग्य तथा वाजसनेयक में कहा है कि 'तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वाचाचामेतमेव तदनग्नं कुरुते' (अतः प्राणोपासक भोजन से पूर्व और भोजन के पश्चात् आचमन करे, इस प्रकार वह उपासक प्राण को अनग्न करता है।) यहाँ पर आचमन और प्राण में अनग्नता का चिन्तन, ऐसे दो अथ प्रतीत होते हैं। दोनों का विधान करने पर वाक्यभेद हो जायेगा और एक का विधान मानने पर सन्देह होता है कि क्या आचमन विधेय है अथवा अनग्नताचिन्तन विधेय है?

४. पूर्वपक्ष—जब दोनों का विधान सुना जा रहा है तब आचमन तथा प्राण के अनग्नताचिन्तन, दोनों ही विधेय मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—अप्राप्त अर्थ में ही शास्त्र सार्थक मानाजाता है, इस न्याय से 'द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्' इस स्मृतिवाक्य द्वारा सभी अनुष्ठान में शुद्धि के लिए आचमन तो प्राप्त ही है, उसी का यहाँ पर अनुवादकर प्राणोपासना में अनग्नताचिन्तन का विधान किया गया है। आचमन पूर्व से प्राप्त है, उसका अनुवादकर प्राणोपासक के लिए अपूर्व अनग्नताचिन्तनमात्र का ही विधान करना अभीष्ट है, अतः दोनों विधेय नहीं है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सच्छब्दोऽयमात्मानात्मसाधारणत्वात्संदिग्धः। स च वाक्यशेषे 'स आत्मा, तत्त्वमसि' (छा० ६-८-८) इति श्रवणादात्मवाची भविष्यति। तस्मात्—एकमेवोभयत्र वस्तु ॥८॥

नवमाधिकरणमारचयति—

प्राणविद्यायां वाक्यशेषे श्रूयते—"अशिष्यन्नाचामेत्। अशित्वा चाऽऽचामेत्। एतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इति। तत्र प्राणस्यानग्नताबुद्धिराचमनं चेत्युभयं विधेयम्। द्वयोः श्रुतत्वात।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्" इति न्यायेन मानान्तराप्राप्तमनग्नताचिन्तनमेव विधेयम्। 'भोजनात्प्रागूर्ध्वं चाऽऽचमनीयास्वप्सु वासोबुद्धिं कृत्वा तेन वाससा प्राणस्यानग्नत्वं ध्यायेदित्यर्थः। आचमनं तु शुद्ध्यर्थतया स्मृतिबलादेव प्राप्तमिति न विधीयते। न च तस्याः स्मृतेरियं श्रुतिर्मूलमिति शङ्कनीयम्। वर्णाश्रमधर्मप्रकरणत्वाभावेन भिन्नविषयत्वात्। मूलभूतं तु श्रुत्यन्तरमनुमेयम्। तस्मादाचमनस्य प्राप्तत्वादनग्नताबुद्धिरेव प्राणोपासकं प्रति विधेया ॥९॥

(१११) समानाधिकरणम् ॥१०॥

शाण्डिल्यविद्या काण्वानां द्विविधैकविधाऽथवा । द्विरुक्तेरेकशाखायां द्वे विद्ये इति गम्यते ॥२१॥
एका मनोमयत्वादिप्रत्यभिज्ञानतो भवेत् । विद्याया विधिरेकत्र स्यादन्यत्र गुणे विधिः ॥२२॥

(११२) सम्बन्धाधिकरणम् ॥११॥

संहारः स्याद्व्यवस्था वा नाम्नोरहरहं त्विति । विद्यकत्वेन संहारः स्यादध्यात्माधिदैवयोः ॥२३॥

---

(१११) समानाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में स्मृतिप्रसिद्ध आचमन का अनुवादकर अनग्नताचिन्तनमात्र को विधेय कहा गया था, अब एक ही शाखा में अध्येता और वेदिता का भेदाभेद होने से पौनरुक्ति का परिहार नही कर सकते। अतः विप्रकृष्टदेशस्थ वाक्य में से एक को विधायक और दूसरे को अनुवादक कहना उचित नहीं होगा। ऐसा स्थिति में स्वप्रदेशस्थ गुणों से विशिष्ट विद्या का विधान मानना उचित है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. विषय—वाजसनेयक के अग्निरहस्य में 'स आत्मानमुपासीत' इस वाक्य से शाण्डिल्य विद्या प्रतीत होती है, उसी शाखा के बृहदारण्यक में 'मनोमयोऽय पुरुषो भाः सत्यः' ऐसा पाठ मिलता है। इन दोनों में प्रतिपादित विद्या के भेदाभेद का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या दोनों स्थलों में विद्या एक है और गुणों का उपसंहार होता है, ऐसा माना जाय अथवा विद्या का भेद एव गुणों का अनुपसंहार माना जाय ? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—विप्रकृष्टदेशस्थ होने के कारण दोनों स्थलों में विद्या एक नहीं है और समान गुणों का पाठ होने से गुणोपसहार भी अनावश्यक है।

५. सिद्धान्त—जैसे भिन्न शाखाओं में विद्या का अभेद और गुणों का उपसंहार होता है, ऐसे ही एक शाखा में भी विद्या का एकत्व और गुणों का उपसंहार मानना ही उचित है। समान गुणों का पाठ देख पुनरुक्ति की आशङ्का न करे, एकत्र विद्या का विधान कर अन्यत्र उसका अनुवाद करते हुए सत्यत्वादि गुणों का विधान मानना उचित ही है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से विहित होम का अनुवादकर 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य द्वारा दधि गुणमात्र का विधान जिस प्रकार मानते हैं, वैसे ही यहाँ सिद्धान्त में एक ही शाण्डिल्य विद्या है, दो नहीं। एक स्थान पर उपासना का विधान है तथा दूसरे स्थान पर विहित उपासना के गुणमात्र का विधान है।

११२) सम्बन्धाधिकरण

१. सङ्गति—एक शाखा के अग्निरहस्य और बृहदारण्यक में एक वाक्य से विद्या का विधान

दशमाधिकरणमारचयति—

काण्वानामग्निरहस्यब्राह्मणे शाण्डिल्यविद्या पठ्यते—"स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरम्" इति। तथा तेषामेव बृहदारण्यके सैव विद्या पठिता—"मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः" (बृ० ५-६-१) इति। तत्र पौनरुक्त्यभयाद्विद्याभेदः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—मनोमयत्वादिकस्य वेद्यस्वरूपस्य प्रत्यभिज्ञानादेकैव विद्या। न च पौनरुक्त्यं एकत्रविद्यां विधायापरत्र तदनुवादेन सत्यत्वसर्वेशानत्वादिगुणानां विधातुं शक्यत्वात्। "अग्निहोत्रं जुहोति, दध्ना जुहोति" इत्यादिवत्। तस्मात्—एकविधव शाण्डिल्यविद्या ॥१०॥

एकादशाधिकरणमारचयति—

बृहदारण्यके सत्यविद्यायामाधिदैविकस्य पुरुषस्याऽऽदित्यस्य 'अहः' इत्येतन्नाम ध्यानायोपदिश्यते।

तस्योपनिषदित्येवं भिन्नस्थानस्वदर्शनात् । स्थितासीनगुरूपास्त्योरिव नाम्नोर्व्यवस्थितिः ॥२४॥

(११३) सम्भृत्यधिकरणम् ॥१२॥

आहार्या वा न वाऽन्यत्र सम्भृत्यादिविभूतयः । आहार्या ब्रह्मधर्मत्वाच्छाण्डिल्यादाववारणात ॥२५॥

और दूसरे वाक्य से विहित विद्या का अनुवादकर गुणमात्र का विधान जैसे पिछले अधिकरण में कहा गया, वैसे ही सत्यविद्या के एक होने पर 'अहं और अहं' ऐसे दो नामों का अनुष्ठान कर लेना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति पूर्व के साथ इसकी है।

२. विषय—वृहदारण्यक की सत्यविद्या इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—'सत्यं ब्रह्म' वृहदारण्यक की इस सत्यविद्या में अधिदैव दृष्टि से 'अहः' इस नाम का और अध्यात्म दृष्टि से 'अहम्' इस नाम का ध्यान के लिए उपदेश किया गया है। वहाँ सन्देह होता है कि दोनों स्थानों में विद्या के एक होने पर दोनों नामों का चिन्तन करना चाहिए अथवा एक एक नाम का?

४. पूर्वपक्ष—जसे शाण्डिल्य विद्या में विभागपूर्वक पढ़े जाने पर भी एक विद्या सिद्ध हो जाने के कारण गुणों का उपसंहार माना है, वैसे ही एक विद्या से सम्बन्ध रखने के कारण अहः और अहम् इन दोनों नामों का अनुसन्धान करना चाहिए।

५. सिद्धान्त—आधिदैविक के लिए 'तस्योपनिषद' इस नाम और आध्यात्मिक सत्यविद्या में तस्योपनिषदहम्' इस नामविशेष का उपदेश किया गया है। अतः वेद्यवस्तु सत्यब्रह्म के एक होने पर भी स्थानविशेष में पृथक्-पृथक् नाम का पाठ होने से दोनों स्थानों पर दोनों नामों का चिन्तन नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार लोक में गुरु के एक होने पर भी गुरु के खड़े रहने और बैठ जाने पर पृथक्-पृथक् रीति से उपासना का विधान है, वैसे ही यहाँ भी व्यवस्थापूर्वक दोनों नामों का चिन्तन करना चाहिए।

११३. सम्भृत्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की अतिदेश सङ्गति है।

२. विषय—राणायनीयों के खिलकाण्ड में सम्भृत्यादि विभूति पढ़ी गयी है और शाण्डिल्यादि, दहरादि विद्या में आध्यात्मिक हृदयान्तरवर्ती ब्रह्म उपास्यरूप से सुना जाता है; इसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

आध्यात्मिकस्य त्वक्षिपुरुषस्य 'अहम' इत्येतन्नाम। तत्र विद्यैकत्वेन द्वयोर्नाम्नोः पुरुषद्वय उपसंहारः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः" इत्युपक्रम्य "तस्योपनिषदहः" (बृ० ५-५-३) इति तच्छब्देन मण्डलस्थमेव परामृश्य तस्यैव नामविशेष उपदिष्टः। तथा "यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष." इत्युपक्रम्य "तस्योपनिषदहम्' इति तच्छब्देनाक्षिनिष्ठमेव परामृश्य नामविशेष उपदिष्टः। अतो विद्यैकत्वेन वेद्यस्य सत्याख्यस्य ब्रह्मण एकत्वेऽपि स्थानविशेषे कटाक्षेण नामविधानादाध्यात्मिकाधिदैविकयोर्व्यवस्थिते नाम्नी। न तु तयोरुपसंहारोऽस्ति। यथा लोके गुरोरुपास्यस्यैकत्वेऽपि तिष्ठतो गुरोर्य उपचारो नासावासीनस्य युज्यते। आसीनस्य य उपचारः पादाद्यङ्गादिर्नासौ तिष्ठतो भवति, तद्वत्। तस्मात्—नाम्नोर्व्यवस्था द्रष्टव्या ॥११॥

द्वादशाधिकरणमारचयति—

राणायनीयानां खिलेषु पठ्यते—"ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान" इति। अस्यायमर्थः—'यानि लोके वीर्याणि हरिहरकमलासनादिदेहेषु प्रसिद्धानि, तानि सर्वाणि

असाधारणधर्माणां प्रत्यभिज्ञाऽत्र नास्त्यतः । अनाहार्या ब्रह्ममात्रसम्बन्धोऽतिप्रसञ्जकः ॥२६॥

(११४) पुरुषविद्याधिकरणम् ॥१३॥

पुंविद्यैका विभिन्ना वा तैत्तिरीयकताण्डिनोः । मरणावभृथत्वादिसाम्यादेकेति गम्यते ॥२७॥

३. संशय—सम्भृत्यादि विभूति अन्यत्र आहार्य (उपसंहार्य) है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—ब्रह्म एक है, अतः सम्भृत्यादि गुणों का उपसंहार शाण्डिल्य एवं दहरादि विद्या में सर्वत्र होना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—सम्भृत्यादि गुणों में से जब एक भी गुण शाण्डिल्यादि विद्या में नहीं देखा जाता है तो फिर विद्यैकत्व की प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी और गुणों का उपसंहार भी कैसे हो सकेगा । ब्रह्म एक है, इतने मात्र से गुणों का उपसंहार मानेंगे तो अतिप्रसङ्ग होने लग जायेगा । अतः सम्भृत्यादि गुणों का उपसंहार नहीं है ।

११४. पुरुषविद्याधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार असाधारण गुणों की प्रत्यभिज्ञा न होने के कारण सम्भृत्यादि गुणों से विशिष्ट विद्या में भेद पिछले अधिकरण में कहा गया था, फिर भी असाधारण मरणावभृथ गुणों से विशिष्ट पुरुष और यज्ञ के एकत्व की प्रत्यभिज्ञा होने से यहाँ पर विद्या में एकत्व मानना चाहिए; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति पिछले अधिकरण के साथ इसकी है ।

२. विषय - ताण्डि और पैङ्गी रहस्य ब्राह्मण के पुरुषयज्ञ का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—तैत्तिरीयक और ताण्डि में पुंरुषविद्या एक है या भिन्न है ?

४. पूर्वपक्ष – 'यन्मरणं तदवभृथः' 'मरणमेवावभृथः' इन दोनों ही स्थलों में मरणावभृथत्वादि की समानता होने से विद्या एक है ।

ब्रह्मपुरःसराण्येव सम्भृतानि सम्भवन्ति । न हि सशक्तिकं ब्रह्मानपेक्ष्य वीर्याणि सम्भवन्ति । तच्च ज्येष्ठ ब्रह्म पूर्वं दिवं व्याप्यावस्थितम्' इति । अत्र—ग्राधिदैविकस्य ब्रह्मणः सम्भृतिद्युव्याप्त्यादयो गुणा उपास्यत्वेनावगम्यन्ते । शाण्डिल्यादिदहरादिविद्यास्वाध्यात्मिकं हृदयान्तर्वर्ति ब्रह्मोपास्यतया श्रुतम् । तत्र ब्रह्मण एकत्वात्सम्भृत्यादयो गुणाः शाण्डिल्यदहरादिविद्य सूपसंहतव्याः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावत्सम्भृत्यादिगुणानामन्यतमोऽपि शाडिल्यादिविद्यासूपलभ्यते । अतो विद्यैकत्वप्रत्यभिज्ञानाभावाद्गुणा नोपसंहर्तव्याः । ब्रह्मैकत्वमात्रेणोपसंहृतौ न क्वाप्यनुपसंहार इति [स्यादति] प्रसङ्गः । तस्मात्सम्भृत्यादीनामनुपसंहारः ॥१२॥

त्रयोदशाधिकरणमारचयति—

अस्ति तैत्तिरीये पुरुषविद्या—"तस्यैवं विदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः" (नारा० ८०) इति । तथा ताण्डिशाखायामपि श्रूयते—"पुरुषो वाव यज्ञः" इति । सेयमेकैव पुरुषविद्या । "यन्मरणं तदवभृथः" "मरणमेवावभृथः" इत्युभयत्र समानधर्मश्रवणात् । प्रातः सवनादीनां च समानत्वात् ।

बहुना रूपभेदेन किंचित्साम्यस्य बाधनात् । न विद्यैक्यं तैत्तिरीये ब्रह्मविद्याप्रशंसनात् ।।२८।।

(११५) वेधाद्यधिकरणम् ।।१४।।

वेधमन्त्रप्रवर्ग्यादि विद्याङ्गमथवा न तु । विद्यासंनिधिपाठेन विद्याङ्गं मन्त्रकर्मणि ।।२९।।
लिङ्गेनान्यत्र मन्त्राणां वाक्येनापि च कर्मणाम् । विनियोगात्संनिधिस्तु बाध्योऽतो नाङ्गता तयोः ।।३०।।

---

५. सिद्धान्त—वेद्यरूप का बहुधा भेद होने के कारण किञ्चित् साम्य बाधित हो जायेगा, अतः ताण्डि और पैङ्गि को पुरुषविद्या एक नहीं है । इसीलिए विद्या के भेद से शाखान्तरीय पठित पुरुषविद्या के धर्म आशीर्मन्त्रादि को तैत्तिरीयक में प्राप्ति नहीं है अतः विद्यैकत्व की शङ्का भी यहाँ नहीं करनी चाहिए ।

(११५) वेधाद्यधिकरण

१. सङ्गति—जैसे आत्मविद्या के सन्निहित होने से पुरुषयज्ञ आत्मविद्या का शेष माना गया है, ऐसे ही सन्निहित होने के कारण मन्त्र और कर्म को भी तत्तद् विद्या का शेष मानना चाहिए, ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—विद्या के समीपवर्ती वेधादि मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कम इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—क्या आथर्वणिकों के उपनिषदारम्भ में 'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य' इत्यादि आभिचारिक मन्त्र और काण्वों के उपनिषदारम्भ में पढ़ा गया प्रवर्ग्यादि कर्म विद्या के अङ्ग हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—विद्याप्रधान उपनिषद् ग्रन्थ के समीप में पढ़े जाने के कारण वेधादि मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्म को विद्या का अङ्ग मानना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—लिङ्ग प्रमाण से मन्त्रों का विनियोग आभिचारिक कर्म में हो चुका है और वाक्य प्रमाण से प्रवर्ग्यादि कर्म का विनियोग अग्निष्टोम में हो चुका है, अतः लिङ्ग और वाक्य प्रमाण सन्निधिरूप प्रकरण प्रमाण से बलवान होने के कारण वेधादि मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्म को विद्या का अङ्ग नहीं मान सकते ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—वेद्यस्य रूपस्य भूयानत्र भेदः श्रूयते । तथा हि—'विदुषो यो यज्ञस्तस्य यज्ञस्याऽऽत्मा' इति तैत्तिरीयके व्यधिकरणे षष्ठ्यौ । अन्यथा 'आत्मा यजमानः' इति व्याघातात् । 'विद्वानेव यज्ञः, स एव यजमानः' इति कथं न व्याहन्येत । ताण्डिनां तु पुरुषयज्ञयोः सामानाधिकरण्यं श्रुतमित्येको रूपभेदः । आत्मयजमानादिकं च सर्वत्र श्रुतम्, ताण्डिनां नोपलभ्यते । यत्तु ताण्डिनामुपलभ्यते त्रेधाविभक्तस्याऽऽयुषः सवनत्रयत्वमित्यादि, तन्न किंचिदपि तैत्तिरीयके पश्यामः । अतो मरणावभृथत्वाद्यल्पसाम्यबाधाद्विद्ययोर्भेद एवोचितः अपि च न तैत्तिरीयाणामुपासनाभेदम् । किं तर्हि ? ब्रह्मविद्याप्रशंसा । "तस्यैवं विदुषः" इति ब्रह्मविद उत्कर्षणात् । तस्मान्न विद्यैक्यशङ्काया अप्यवकाशोऽस्ति ।।१३।।

चतुर्दशाधिकरणमारचयति—

आथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे "सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य" इत्यादय आभिचारिकमन्त्राः पठिताः । काण्वानामुपनिषदादौ प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठितम् । एवमन्यत्राप्युदाहर्तव्यम् । तत्र विद्यासंनिधिवशान्मन्त्रकर्मणोर्विद्याङ्गत्वम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—हृदयवेधादिमन्त्राणां लिङ्गादभिचारकर्मणि विनियोगः । प्रवर्ग्यस्य "पुरस्तादुपसदां प्रवृणक्ति" इत्यग्निष्टोमे विनियोगो दृश्यते । 'लिङ्गवाक्ये च संनिधेर्बलीयसी' इति पूर्वकाण्डे श्रुतिलिङ्गाधिकरणे व्यवस्थापितम् । तस्मान्न विद्याङ्गत्वं मन्त्रकर्मणोः ।।१४।।

(११६) हान्यधिकरणम् ॥१५॥

(प्रथमः वर्णकम्)

उपायनमनाहार्यं हानायाऽऽह्नियतेऽथवा । अश्रुतत्वादनाक्षेपाद्विद्याभेदाच्च नाऽऽहृतिः ॥३१॥

---

(११६) हान्यधिकरण

(प्रथम वर्णक)

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में विद्यासन्निहित भी मन्त्रों का, अनावश्यक होने से, उपासना में उपसंहार नहीं बतलाया गया था; वैसे ही अनावश्यक होने से हान की सन्निधि में पढ़ गये उपादान को भी हान का अङ्ग नहीं मानना चाहिए अर्थात् उपादान के बिना भी हान का होना सम्भव है। अतः उपादान का उपसंहार अनावश्यक है, ऐसो दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण आरम्भ होता है।

२. विषय—ज्ञानी के पुण्यपापादि कर्मों के हानोपादान पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—शाट्यायनी में कहा गया है कि 'ज्ञानी के पुत्रस्थानीय सभी प्राणी उसके वित्तस्थानीय कर्म को यथायोग्य ग्रहण कर लेते हैं।' ताण्डी में कहा है कि 'जैसे घोड़ा अपने शरीर के रोये को झाड़ देता है और जैसे राहु के मुख से चन्द्रमा मुक्त हो जाता है, ऐसे ही ज्ञानो सम्पूर्ण पुण्य-पाप को छोड़ देता है। उसी प्रकार आथर्वणिकों ने कहा है कि 'उस समय ज्ञानी पुण्य-पाप दानों का परित्याग कर भावीजन्म के कारण से रहित हो परमसाम्य को प्राप्त करता है।' यहाँ पर सन्देह होता है कि ज्ञानी के पुण्य-पाप का हान एवं उपादान सभी स्थलों पर समान रूप से होता है या नहीं होता ?

४. पूर्वपक्ष—अश्रुत होने से, आक्षेप अनावश्यक होने के कारण और विद्या के भेद से सर्वत्र हानोपादान का उपसंहार नहीं होता।

पञ्चदशाधिकरणमारचयति—

प्रथमवर्णकमाह—

शाट्यायनिनः पठन्ति—"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति, सुहृदः साधुकृत्याम्, द्विषन्तः पापकृत्याम्" इति । अस्यायमर्थः-'ज्ञानिनः पुत्रस्थानीयाः सर्वे प्राणिनस्तदीयं वित्तस्थानीयं कर्म यथायोग्यं गृह्णन्ति ।' ताण्डिनस्तु पठन्ति—

"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरम्" (छा० ८-१३-१) इति ।

तथाऽऽथर्वणिकाः पठन्ति—"तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परं साम्यमुपैति" (मु० ३-१-३) इति । निरञ्जनो भाविजन्मकारणरहितः । साम्यं ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः । तत्र 'तत्त्वज्ञानिनः पापपुण्यपरित्यागप्रतिपादिकासु श्रुतिषु परित्यक्तयोर्पुण्यपापयोरितरपुरुषस्वीकारो नोपसंहर्तव्यः । त्यागश्रुतिषु क्वाप्यस्यस्वीकारस्याश्रुतत्वात् । अश्रुतमप्याक्षिप्यत इति चेत् । न । अनुपपत्तेरभावात् । इतरस्वीकारमन्तरेणापि ज्ञानिनां परित्याग उपपद्यत एव । किंचेतरस्वीकारवाक्यं सगुणविद्यायां पठितम् । त्यागवाक्यं तु निर्गुणविद्यायाम् । तस्मात्केवलायां हानौ श्रूयमाणायामुपायनं नोपसंहर्तव्यम् ।

विद्याभेदेऽप्यर्थवाद आहार्यः स्तुतिसाम्यतः । हानस्य प्रत्यभिज्ञानादेकविंशादिवादवत् ॥३२॥

(द्वितीयवर्णकम्)

विधूननं चालनं स्याद्धानं वा चालनं भवेत् । दोधूयन्ते ध्वजाग्राणीत्यादौ चालनदर्शनात् ॥३३॥

हानमेव भवेद्वाक्यशेषेऽन्योपायनश्रवात् । कर्त्रा न ह्यपरित्यक्तमन्यः स्वीकर्तुमर्हति ॥३४॥

---

५. सिद्धान्त—विद्याभेद होने पर भी स्तुति की समानता के कारण उपसंहार अर्थवाद के रूप में करना चाहिए क्योंकि हान की प्रत्यभिज्ञा तो सर्वत्र होती ही है। इसीलिए अर्थवाद होने पर भी उपादान उपसंहार के योग्य है।

(द्वितीय वर्णक)

१. सङ्गति—पहले विद्या की सन्निधि में पढ़े गये मन्त्रादि को जैसे अकिञ्चित्कर कहा था, वैसे ही विधूनन शब्द उपायन शब्द की सन्निधि में अप्रयोजक होने से अकिञ्चित्कर है; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति पिछले अधिकरण के साथ इसकी है।

२. विषय—'विधूनन' शब्द के अर्थ का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या 'विधूनन' शब्द का अर्थ चालन है अथवा हान है?

४. पूर्वपक्ष—'दोधूयन्ते ध्वजाग्राणि' इस वाक्य से धूञ् धातु का अर्थ चालन होने से 'विधूनन' का अर्थ चालन ही मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—'विधूनन' शब्द का अर्थ हान ही करना चाहिए क्योंकि वाक्यशेष में अन्य के द्वारा उसका ग्रहण करना सुना गया है। जब तक कोई त्याग नहीं करता, तो उसका ग्रहण दूसरा कैसे कर सकता है। अतः विधूनन शब्द का अर्थ त्याग ही करना चाहिए।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सत्यं विद्याभेदोऽस्ति । अत एव न वयमुपायनमनुष्ठेयधर्मतयोपसंहरामः। किन्त्वर्थवादत्वेन । यथा श्रूयमाणेन पुण्यपापपरित्यागेन ब्रह्मविद्या स्तूयते, तथेतरस्वीकारेणापि स्तोतुं शक्यत एव । न चार्थवादत्वमात्रेण हानोपायनश्रुत्योः स्वार्थे तात्पर्याभावः । मानान्तरप्रसिद्धि-विरोधयोरभावेन भूतार्थवादत्वात् । यत्तु हानश्रुतिषु न क्वाप्युपायनं श्रुतमित्युक्तम् । तदसत् । कौषीतकीश्रुतौ हानोपायनयोरुभयोरवगमात्—"तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते । तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति । अप्रियादुष्कृतम्" (कौ० १-४) इति । तत्तत्र ब्रह्मलोकप्राप्तिवेलायामित्यर्थः । एवं च सति कौषीतकी-श्रुतस्य हानस्याऽऽथर्वणिकताण्डिनशाखयोः प्रत्यभिज्ञानात्कौषीतकीप्रोक्तस्योपायनस्योपसंहारो युक्तः । ननु अर्थवादान्तरापेक्षोऽर्थवादो न क्वचिद्दृष्टचर इति चेत् । न । सामोपास्तिस्तावकत्वेन श्रुतस्य 'एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः" (छा० २-१० ५) इत्यर्थवादस्यैकविंशत्वाणगाय तैत्तिरीयकगतसत्र-प्रकरणस्यार्थवादापेक्षत्वात् । "द्वादश मासाः, पञ्चर्तवः, त्रय इमे लोकाः, असावादित्य एकविंशः' इति हि तत्र संख्यानिर्वाह उक्तः। तस्मादर्थवादत्वेऽप्युपायनमुपसंहर्तव्यम् ।

द्वितीयवर्णकमाह—

'सुकृतदुष्कृते विधूनुते" (कौ० १-४) इत्यत्र विधूननशब्दस्य 'दोधूयन्ते' इत्यादाविव चालनमर्थः, न तु परित्यागः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—वाक्यशेषे श्रूयमाणस्येतरस्वीकारस्य विना परित्यागमनुपपत्तेश्चालनवाचिना विधूननशब्देन परित्याग उपलक्ष्यते ॥१५॥

(११७) साम्परायाधिकरणम् ॥१६॥

कर्मत्यागो मार्गमध्ये यदि वा मरणात्पुरा । उत्तीर्य विरजां त्यागस्तथा कौषीतकीश्रुतेः ॥३५॥
कर्मप्राप्यफलाभावान्मध्ये साधनवर्जनात् । ताण्डिश्रुतेः पुरा त्यागो बाध्यः कौषीतकीक्रमः ॥३६॥

---

(११७) साम्परायाधिकरण

१. सङ्गति—यदि विद्या कर्मनाश का हेतु होती तो केवल हानश्रवणस्थल में भी उपायन का उपसंहार किया जा सकता था, पर अभी तक विद्या में कर्मनाशहेतुत्व ही सिद्ध नहीं हो सकी है। इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ करते हैं, इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—विद्यासामर्थ्य का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—पर्यङ्कविद्या में पर्यङ्क उपासक के लिए सुकृतादि का विधूनन सुना जाता है, क्या वह विरजा नदी सन्तरण के बाद आधे मार्ग में होता है अथवा देहत्याग से पूर्वकाल में होता है ?

४. पूर्वपक्ष—'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' (वह ब्रह्मलोक का यात्री विरजा नदी के पास आता है और उसे मन से ही पार कर जाता है, तत्पश्चात् वहाँ पर वह पुण्य-पाप को छोड़ देता है) इस श्रुति के आधार पर विरजा नदी सन्तरण के बाद ही पुण्य-पाप का परित्याग वह यात्री करता है।

५. सिद्धान्त—ब्रह्मलोक मार्ग के मध्य में ब्रह्मप्राप्ति से भिन्न पुण्य-पाप के द्वारा प्राप्तव्य कोई फल नहीं दीखता है, फिर भला उन पुण्य-पापों को विरजानदीपर्यन्त वह ब्रह्मलोकयात्री निरर्थक क्यों ले जायेगा। साथ ही, मरण से पूर्व जिस पुण्य-पाप का परित्याग कर चुका है उनके, मार्ग के मध्य में, पुनः परित्याग का साधन भी सम्भव नहीं है। उस समय उसका स्थूल शरीर नहीं है जिससे कि किसी साधन का अनुष्ठान कर सके। यदि कहो कि मरण से पूर्व पुण्य-पाप के त्यागने में प्रमाण नहीं दीखता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' यह ताण्डिश्रुति ही उक्त विषय में प्रमाण है। अतः उक्त श्रुति से नदीसन्तरण के बाद पुण्य-पाप का परित्यागरूप कर्म कौषीतकि श्रुति ने जो कहा है उसका बाध समझना चाहिए। इसलिए मरण से पूर्व ही उपास्य का साक्षात्कार हो जाने पर पुण्य-पाप का परित्याग निश्चित होता है।

षोडशाधिकरणमारचयति—

पूर्वाधिकरणोक्तः सुकृतदुष्कृतपरित्यागो ब्रह्मलोकमार्गस्य मध्ये भवितुमर्हति। तल्लोकसमीपवर्तिनद्युत्तरणानन्तरं तच्छ्रवणात्। "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते" (कौ० १-४) इति। तस्मान्मार्गमध्ये परित्यागः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मलोकमार्गमध्ये ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तस्य सुकृतदुष्कृताभ्यां प्राप्तव्यफलस्याभावात्तयोर्नदीपर्यन्तनयनं निरर्थकम्। किं च मरणात्प्राक्परित्यक्तयोः सुकृतदुष्कृतयोर्मार्गमध्ये परित्यागस्य साधनं न संभवति। देहराहित्ये साधनस्यानुष्ठातुमशक्यत्वात्। न च मरणात्पुरा तत्त्यागे प्रमाणाभावः। "अश्व इव रोमाणि" (छा० ८-१३-१) इति ताण्डिश्रुतौ तदवगमात्। तथा च श्रुत्या 'नदीमुत्तीर्य परित्यागः' इत्ययं कौषीतकिप्रोक्तः क्रमो बाधनीयः। तस्मान्मरणात्प्रागेवोपास्ये साक्षात्कृते तयोः परित्यागः ॥१६॥

(११८) गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम् ॥१७॥

उपास्तिबोधयोर्मार्गः समो यद्वा व्यवस्थितः । सम एवोत्तरो मार्ग एतयोः कर्महानवत् ॥३७॥
देशान्तरफलप्राप्त्यै युक्तो मार्ग उपास्तिषु । आरोग्यवद्बोधफलं तेन मार्गो व्यवस्थितः ॥३८॥

(११९) अनियमाधिकरणम् ॥१८॥

मार्गः श्रुतस्थलेष्वेव सर्वोपास्तिषु वा भवेत् । श्रुतेष्वेव प्रकरणाद्द्विःपाठोऽस्य वृथाऽन्यथा ॥३९॥

---

(११८) गतेरर्थवत्त्वाधिकरण

१. सङ्गति—विद्या से कर्महान विषय प्रासङ्गिक था जिसे बतला देने के बाद, जिस प्रकार हान की सन्निधि में कहीं कहीं पर सुने गये उपायन का सर्वत्र उपसंहार बतला दिया गया, वैसे ही हान की सन्निधि में सुने गये क्वचित्क देवयान मार्ग का सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—देवयान मार्ग के उपसंहारस्थल का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—उपासना और ज्ञान मार्ग दोनों ही में देवयान मार्ग की व्यवस्था है अथवा केवल उपसना में ही है?

४. पूर्वपक्ष—देवयान मार्ग सगुण ब्रह्म उपासक और निर्गुण ब्रह्मज्ञानी दोनों के लिए समान रूप से बतलाया गया है। जैसे पुण्य-पाप कर्म का हान दोनों के लिए समान है, ऐसे ही देवयान मार्ग भी दोनों के लिए तुल्य ही है।

५. सिद्धान्त—उपासना से ब्रह्मलोक फल प्राप्त होता है जो देशान्तरवर्ती है, अतः यहाँ पर देवयान मार्ग की आवश्यकता है। किन्तु रोगनिवृत्ति की भाँति ब्रह्मज्ञान का फल अविद्या-निवृत्तिमात्र है, वहाँ मार्ग का कोई प्रयोजन नहीं है। अतः उपासक के लिए ही देवयान मार्ग है, ब्रह्मज्ञानी के लिए नहीं; ऐसी व्यवस्था समझनी चाहिए।

(११९) अनियमाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार जैसे सगुण विद्या में मार्ग की सार्थकता है, निर्गुण विद्या में नहीं; वैसे ही सगुण विद्या में भी कहीं मार्ग सुना जाता है, कहीं नहीं सुना जाता है। ऐसी स्थिति में इसकी व्यवस्था होनी चाहिए, अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—सभी सगुण उपासनाओं में मार्ग की आवश्यकता पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

सप्तदशाधिकरणमारचयति—

चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादे वक्ष्यमाणोऽर्चिरादिमार्गः सगुणब्रह्मोपासकस्य निर्गुणब्रह्मतत्त्वविदश्च समान एव। सुकृतदुष्कृतकर्महानवत्समानत्वसंभवात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—उपास्तिप्राप्तस्य ब्रह्मलोकफलस्य देशान्तरवर्तित्वाद्युक्तस्तत्र मार्गः। ब्रह्मज्ञानफलं तु रोगनिवृत्तिवदविद्यानिवृत्तिमात्रमिति किं तत्र मार्गेण करणीयं स्यात्। तस्मात्—उपासकस्यैव, न तु ज्ञानिनः इति व्यवस्थितो मार्गः ॥१७॥

अष्टादशाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्ये पञ्चाग्निविद्यायामुपकोशलविद्यायां चोत्तरमार्गः पठितः। शाण्डिल्यवैश्वानरादि-विद्यासु न पठितः। तथा च प्रकरणवशाद्यासु विद्यासु श्रुतस्तास्वेव मार्गो व्यवतिष्ठते, न त्वन्यत्रोपसंहर्तव्यः। उपसंहारे च सकृत्पठितस्यैव सर्वत्रोपसंहर्तुं शक्यतया विद्याद्वये पाठो निरर्थकः स्यात्।

प्रोक्तो विद्यान्तरे मार्गो ये चेम इति वाक्यतः । तेन बाध्यं प्रकरणं द्विःपाठश्चिन्तनाय हि ॥४०॥

(१२०) यावदधिकाराधिकरणम् ॥१९॥

ब्रह्मतत्त्वविदां मुक्तिः पाक्षिकी नियताऽथवा । पाक्षिक्यपान्तरतमःप्रभृतेर्जन्मकीर्तनात् ॥४१॥

---

३. संशय—छान्दोग्य की पञ्चाग्नि विद्या और उपकोसल विद्या में देवयान मार्ग पढ़ा गया है, किन्तु शाण्डिल्य और वैश्वानर विद्या में देवयान मार्ग नहीं पढ़ा गया है। ऐसी स्थिति में यह सन्देह होता है कि यथाश्रुतस्थल में ही मार्ग का नियम है अथवा अश्रुतस्थल में भी मार्ग का उपसंहार करना चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—यदि सभी सगुण विद्याओं में मार्ग का उपसंहार करना अभीष्ट होता तो एक स्थान पर मार्ग का पाठ रहने मात्र से ही सर्वत्र उपसंहार सम्भव था, दो विद्या में मार्ग का पाठ निरर्थक हो जाता। अतः यथाश्रुतस्थल में ही मार्ग का चिन्तन करना चाहिए, सर्वत्र नहीं।

५. सिद्धान्त—पञ्चाग्निविद्या के वाक्यशेष में उसके उपासक के लिए उत्तर मार्ग बतलाती हुई श्रुति ने अन्य विद्या के उपासकों के लिए भी कण्ठतः अर्चिरादि (देवयान) मार्ग का कथन किया है। 'जो इस प्रकार उपासना करते हैं और जो अरण्य में रह कर श्रद्धा एवं तप की उपासना करते हैं वे सभी अर्चि को प्राप्त करते हैं' इस मार्गप्रतिपादक वाक्य से प्रकरण को बाध लेना चाहिए। उपास्य के गुणों का चिन्तन करते समय उपासना के फल की प्राप्ति के लिए मार्ग का चिन्तन भी अनिवार्य कहा गया है। अतः सभी सगुण उपासनाओं में देवयान मार्ग का उपसंहार करना चाहिए।

(१२०) यावदधिकाराधिकरण

१. सङ्गति—निर्गुण ब्रह्मविद्या का फल मोक्ष है इसलिए उसमें मार्ग व्यर्थ ही है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि इतिहासादि में कुछ ब्रह्मज्ञानियों की भी देहान्तर-उत्पत्ति देखी जाती है। अतः निर्गुण ब्रह्मविद्या को मोक्ष का साधन कहना ठीक नहीं है, इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—निर्गुण ब्रह्मविद्या की फलप्राप्ति के लिए देवयान मार्ग की आवश्यकता पर विचार करना इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—ब्रह्मज्ञानियों की मुक्ति वैकल्पिक है अथवा निश्चित है ?

तस्मात्—श्रुतस्थलेष्वेव मार्गः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—पञ्चाग्निविद्यावाक्यशेषे पञ्चाग्न्युपासकानामुत्तरमार्गं ब्रुवती श्रुतिर्विद्यान्तरशालिनां च मुखत एवार्चिरादिमार्गमुदाजहार—"तद्य इत्थं विदुः ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" छा० ५ १०-१) इति। अस्यायमर्थः—य उपासका इत्थं पञ्चाग्नीनुपासते, ये चारण्ये श्रद्धा तप इत्येवमादिधर्मयुक्ताः सन्तोऽप्युपासनान्तरेषु प्रवर्तन्ते, ते सर्वेऽप्यर्चिरादिमार्गं प्राप्नुवन्ति इति। ततश्च मार्गप्रतिपादकवाक्येन प्रकरणं बाधितव्यम्। न च द्विःपाठवैयर्थ्यम्। उपास्यगुणचिन्तनार्थत्वोपपत्तेः। तस्मात्सर्वोपास्तिषूत्तरो मार्गोऽवगन्तव्यः ॥१८॥

एकोनविंशाधिकरणमारचयति—

पुराणेषु अपान्तरतमा नाम वेदप्रवर्तक आचार्यो विष्णोराज्ञया द्वापरान्ते कृष्णद्वैपायनरूपेण शरीरान्तरं जग्राहेति स्मर्यते। तथा सनत्कुमारः स्कन्दरूपेण पार्वतीपरमेश्वराभ्यामजायत।

नानादेहोपभोक्तव्यमीशोपास्तिफलं बुधाः । भुक्त्वाऽधिकारिपुरुषा मुच्यन्ते नियता ततः ॥४२॥

(१२१) अक्षरध्यधिकरणम् ॥२०॥

निषेधानामसंहारः संहारो वा न संहृतिः । आनन्दादिवदात्मत्वं नैषां संभाव्यते यतः ॥४३॥

४. पूर्वपक्ष—पुराणों में अपान्तरतमानामक वेदप्रवर्तक आचार्य विष्णु की आज्ञा से द्वापर के अन्त में कृष्णद्वैपायनरूप से शरीर धारण करते देखे जाते हैं। वैसे ही सनत्कुमार स्कन्धरूप से उमा-महेश्वर के घर में जन्म लेते हैं। इसी प्रकार वसिष्ठादि तत्त्वज्ञानी होते हुए भी कहीं शाप से, कहीं स्वेच्छा से भी शरीर धारण करते देखे जाते हैं। इससे निर्गुण ब्रह्मज्ञानियों की मुक्ति वैकल्पिक सिद्ध होती है।

५. सिद्धान्त—पूर्वपक्षी ने जिन पुरुषों का उदाहरण दिया है वे सब जगन्निर्वाहक माने जाते हैं जिन्होंने पूर्वकल्प में महान् तपश्चर्या द्वारा ईश्वर की उपासनाकर इस कल्प में नाना देह से उपभोग-योग्य अधिकार पद को प्राप्त किये हैं, यह उनके प्रारब्ध हैं, इस प्रारब्ध के क्षीण होने पर वे भी मुक्त हो जायेंगे। अनारब्ध कर्मों का नाश तत्त्वज्ञान से हो जाता है और प्रारब्ध कर्म का नाश भोग से होता है, तत्पश्चात् निर्गुण ब्रह्मज्ञानी की मुक्ति सुनिश्चित ही होती है।

(१२१) अक्षरध्यधिकरण

१. सङ्गति—जैसे धनुष से निकला हुआ बाण अपना काम करके ही रहता है ऐसे ही आधिकारिक पुरुषों के प्रारब्धकर्मवेग से ही देहान्तर की उत्पत्ति होती है, उसमें सञ्चित कर्म को कारण नहीं कहा गया है। उसी प्रकार जहाँ पर जितनी निषेध श्रुतियाँ हैं उन्हीं से उपलक्षणविधया सर्वद्वैतनिषेध सिद्ध हो जायेगा, शाखान्तरीय निषेधों को ब्रह्मबोध का हेतु नहीं मानना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—निषेधश्रुतियों के उपसंहारस्थल पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—सर्वत्र पठित निषेधश्रुति की यथास्थान व्यवस्था होनी चाहिए अथवा सर्वत्र सभी निषेध श्रुतियों का उपसंहार होना चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" इत्यादि वाक्य द्वारा गार्गी ब्राह्मण में और 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि वाक्य कठ श्रुति में जो निषेध करके ब्रह्मावबोध कराया गया है; ऐसे ही अन्य श्रुतियाँ भी हैं। इन सभी निषेधश्रुतियों के सर्वत्र उपसंहार का कोई प्रयोजन न होने के कारण जहाँ पर जितना निषेध है उसी से उपलक्षणतया सकल द्वैत का निषेध हो जायेगा अन्यत्र पठित द्वैतनिषेध-श्रुति का उपसंहार अन्यत्र निष्प्रयोजन ही है क्योंकि वे आनन्दादि के समान ब्रह्मरूप नहीं है।

एवमन्येऽपि वसिष्ठादयस्तत्त्वज्ञानिन एव सन्तस्तत्र तत्र शापद्वारा स्वेच्छया वा शरीरान्तराणि जगृहुरिति स्मरणान्मुक्तिस्तत्त्वविदां पाक्षिकी।

इति प्राप्ते ब्रूमः—य एते त्वयोदाहृताः पुरुषास्ते सर्वे जगन्निर्वाहकारिणः। ते च पूर्वस्मिन्कल्पे महता तपसा परमेश्वरमुपास्यास्मिन्कल्पे नानादेहोपभोग्यमधिकारिपदं भेजिरे। क्षीणे प्रारब्धे कर्मणि मोक्ष्यन्ते। तथाऽनारब्धकर्मणां तत्त्वज्ञानेन दाहस्य निवारयितुमशक्यत्वात्तत्त्वविदां मुक्तिर्नियतैव ॥१९॥

विशाधिकरणमारचयति—

"अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" (बृ० ३-८-८) इत्यादिना ब्रह्मावबोधनाय गार्गीब्राह्मणे केचिन्निषेधाः श्रुताः। तथा च कठवल्लीषु—"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" (क० १-३-१५) इति। एवमन्यत्राप्युदाहर्तव्यम्। तत्र निषेधानां परस्परमुपसंहारो नास्ति। आनन्दसत्यत्वादिधर्मवदात्मस्वरूपत्वाभावेनोपसंहारे प्रयोजनाभावात्।

श्रुतानामाहृतानां च निषेधानां समायतः । आत्मलक्षणता तस्माद्दाढर्चयास्तूपसंहृतिः ॥४४॥

(१२२) इयदधिकरणम् ॥२१॥

पिबन्तौ द्वा सुपर्णेति द्वे विद्ये अथवैकता । भोक्तारौ भोक्त्रभोक्तारावििति विद्ये उभे इमे ॥४५॥
पिबन्तौ भोक्त्रभोक्तारावित्युक्तं हि समन्वये । इयत्ताप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैका मन्त्रयोर्द्वयोः ॥४६॥

---

५. सिद्धान्त—निषेध श्रुतियाँ श्रुत हों अथवा आहृत हों सभी एक जैसी हैं । अतः आत्मबोध की दृढ़ता के लिए द्वैतनिषेधश्रुतियों का उपसंहार सर्वत्र होना चाहिए ।

(१२२) इयदधिकरण

१. सङ्गति—पहले प्रतिपाद्य ब्रह्म की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण सर्वत्र निर्गुण ब्रह्मविद्या एक ही है, अतः निषेधश्रुतियों का सर्वत्र उपसंहार कहा गया था, किन्तु इस अधिकरण में प्रतिपाद्य वस्तु का भेद होने से विद्या भिन्न है; इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ करते हैं ।

२. विषय—मुण्डक तथा कठश्रुति में कही गयी ब्रह्मविद्या के भेदाभेद पर इस अधिकरण में विचार किया गया है ।

३. संशय—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इस मुण्डक श्रुति तथा 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इस कठ श्रुति में बतलायी गयी विद्या एक है अथवा भिन्न है ?

४. पूर्वपक्ष—एक स्थान पर एक भोक्ता और दूसरे स्थान पर दो भोक्ता बतलाये गये हैं, इस प्रकार भेद देख जाने के कारण विद्या भिन्न है ।

५. सिद्धान्त—प्रथमाध्याय-द्वितीयपाद के तृतीय अधिकरण में 'पिबन्तौ' शब्द जीव एवं ब्रह्म-परक होने से उसका भोक्ता और अभोक्ता अर्थ किया गया है । अतः वेद्यवस्तु में भेद नहीं है और द्वित्व संख्या की प्रत्यभिज्ञा उभयत्र समान रूप से होती है, इसलिए उक्त दोनों स्थलों में विद्या एक ही है ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यथा स्वशाखायां श्रूयमाणानां निषेधानामात्मस्वरूपत्वाभावेऽप्यात्मोपलक्षकत्वम्, तथा-शाखान्तरेऽप्युपसंहृतानां निषेधानामपि तत्समानम् । न च स्वशाखोक्तनिषेधैरेवोपलक्षणसिद्धावितरोपसंहारवैयर्थ्यम् । इतरोपसंहारस्य दाढर्चार्थत्वात् । अन्यथा स्वशाखायामपि द्वित्वप्रतिषेधमात्रेण तत्सिद्धौवितरवैयर्थ्यं प्रसज्येत । तस्मान्निषेधा उपसंहर्तव्याः ॥२०॥

एकविंशाधिकरणमारचयति—

"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके" (क० १-३-१) इत्यस्मिन्मन्त्रे द्विवचनेन द्वयोर्भोक्तृत्वं प्रतीयते । "द्वा सुपर्णा" इत्यस्मिन्मन्त्रे "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" (मु० ३-१-१) इत्येकस्यैव कर्मफलभोक्तृत्वम् । इतरस्य तु "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" इत्यभोक्तृत्वम् । ततो वेद्यस्वरूपभेदाद्विद्याभेदः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः-प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे तृतीयाधिकरणे-'पिबन्तौ' इति शब्दस्य जीवब्रह्मपरत्वेन भोक्त्रभोक्तारावर्थ इत्युक्तम् । अतो न वेद्यभेदः । द्वित्वसंख्या चोभयत्र प्रत्यभिज्ञायते । तस्मादेका विद्या ॥२१॥

(१२३) अन्तरत्वाधिकरणम् ॥२२।

विद्याभेदोऽथ विद्यैक्यं स्यादुषस्तकहोलयोः । समानस्य द्विराम्नानाद्विद्याभेदः प्रतीयते ॥४७॥
सर्वान्तरत्वमुभयोरस्ति विद्यैकता ततः । शङ्काविशेषनुत्यै द्विःपाठस्तत्त्वमसीतिवत् ॥४८॥

(१२४) व्यतिहाराधिकरणम् ॥२३॥

व्यतिहारे स्वात्मरव्योरेकधा धीरुत द्विधा । वस्त्वैक्यादेकधैक्यस्य दार्ढ्याय व्यतिहारगीः ॥४९॥

---

(१२३) अन्तराधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में 'पिबन्तौ' इस पद को लाक्षणिक मानकर दोनों ही मन्त्रों में भोक्ता और अभोक्ता अर्थ कर लेने से विद्या एक ही सिद्ध की गयी थी, पर यहाँ अर्थ का अभेद होने पर भी विद्या एक इसलिए नहीं मानी जायेगी क्योंकि पुनरावृत्ति देखी जाती है; इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—बृहदारण्यक के उषस्त और कहोल ब्राह्मण में प्रतिपादित विद्या के भेदाभेद पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३ संशय—क्या उषस्त और कहोल ब्राह्मण में प्रतिपादित विद्या एक है अथवा भिन्न है ?

४. पूर्वपक्ष—"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" ऐसा दो बार पाठ एक ही वाजसनेय शाखा के उषस्त एवं कहोल ब्राह्मण में आया है, अतः पुनरुक्तिपरिहार के लिए इन दोनों स्थानों में विद्या भिन्न मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—दोनों स्थानों में सर्वान्तरत्व समान रूप से कहा गया है, अतः वेद्यवस्तु का अभेद होने के कारण विद्या एक है। विशेष शङ्का की निवृत्ति के लिए दो बार पाठ वैसे ही किया गया है जैसे 'तत्त्वमसि' महावाक्य का पाठ नौ बार किया गया है।

(१२४) व्यतिहाराधिकरणम् ।

१. सङ्गति-पिछले अधिकरण में विद्या के एक होने पर भी अभ्यास आदरार्थ बतलाया गया था, वैसे ही जीव एवं ईश्वर के परस्पर विशेषण-विशेष्य भावरूप व्यतिहार उपदेश आदरार्थ होने के कारण ऐतरेयक में विद्या एक माननी चाहिए; इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

द्वाविंशाधिकरणमारचयति—

"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" इत्येकस्यां शाखायामेवोषस्तब्राह्मणे कहोलब्राह्मणे च पठितम्। 'अपरोक्षात्' इत्यत्र विभक्तिव्यत्ययेन 'अपरोक्षम्' इत्यर्थः । तयोरुभयोर्ब्राह्मणयोरन्यूनानतिरिक्ततया पठितस्य वाक्यस्य पौनरुक्त्यपरिहाराय विद्याभेदः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—द्वयोरपि ब्राह्मणयोः सर्वान्तरत्वं प्रतिपाद्यते । तच्चैकस्मिन्नेव वस्तुनि संभवति । द्वयोस्तु वस्तुनोरेकतरस्य बहिर्भावोऽवश्यंभावी । तस्मात्सर्वान्तरस्य वेद्यस्यैकत्वान्न विद्याभेदः । न च पुनरुक्तिः । यथा शाखान्तरे तद्विशेषशङ्कापनुत्यर्थम् "तत्त्वमसि" इति नवकृत्व उपन्यस्तम, तथाऽत्राप्युपपत्तेः । उषस्तब्राह्मणेन देहाद्यात्मत्वशङ्काऽपाद्यते । कहोलब्राह्मणेन देहादिव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मत्वमापाद्यते । वाक्यशेषयोस्तथादर्शनात् । तस्मात्—एका विद्या ॥२२॥

त्रयोविंशाधिकरणमारचयति—

ऐतरेयके पठ्यते—"तद्योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्' इति । अस्यायमर्थः—'य एष देहेन्द्रियसाक्षी जीवात्मा स एवाऽऽदित्यमण्डलवर्ती परमात्मा । यो मण्डलवर्ती स एवास्मद्देहादिवर्ती' इति तत्र

ऐक्येऽपि व्यतिहारोक्त्या धीर्द्वेधेशस्य जीवता। युक्तोपास्त्यै वाचनिकी मूर्तिवद्दार्ढ्यमार्थिकम् ॥५०॥

(१२५) सत्याद्यधिकरणम् ॥२५॥

द्वे सत्यविद्ये एका वा यक्षरव्यादिवाक्ययोः । फलभेदादुभे लोकजयात्पापहतेः पृथक् ॥५१॥

२. विषय—एतरेयक श्रुति में आये हुए व्यतिहार पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं' ऐसा आदित्यपुरुष के प्रसङ्ग में पाठ मिलता है, इससे यह संशय होता है कि यहाँ पर व्यतिहाररूपा मनोवृत्ति दो प्रकार की बनानी चाहिए अथवा एक ही प्रकार की ?

४. पूर्वपक्ष—वस्तु अभिन्न होने के कारण एक प्रकार की ही मनोवृत्ति बनानी चाहिए, व्यतिहार तो केवल दृढ़ता के लिए कहा गया है।

५. सिद्धान्त—वस्तु के एक होने पर भी व्यतिहार कथन होने से उपास्यविषयक बुद्धि दो प्रकार से करनी चाहिए। जैसे चतुर्भुज आदि मूर्तियों का चिन्तन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है, ऐसे ही यहाँ भी भिन्न प्रकार से चिन्तन करना चाहिए, दार्ढ्य तो अर्थतः सिद्ध हो जायेगा।

(१२५) सत्याद्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में जीव-ब्रह्म के व्यतिहार उपदेश भेद के कारण दो प्रकार की मनोवृत्ति बनाने के लिए कहा था, ऐसे ही यहाँ भी 'जयतीमान् लोकान् हन्ति पाप्मानम्' इस श्रुति में लोकजय और पापहननरूप फलकथन से विद्या में भेद सिद्ध होता है; इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—अधिदैव और अध्यात्म स्थल के भेद से सत्यविद्या के भेदाभेद पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—वाजसनेयक में सत्यविद्याविधान के पश्चात् आदित्य मण्डल और दक्षिण नेत्र में जिस सत्यपुरुष की उपासना कही गयी है, इन दोनों स्थलों में उपास्य सत्य पुरुष एक है अथवा

स्वदेहरविमण्डलयोरन्योन्यव्यतिहारे श्रूयमाणेऽपि जीवब्रह्मैक्यलक्षणस्य वस्तुन एकत्वादेकधैव बुद्धिः कर्तव्या न च व्यतिहारपाठवैयर्थ्यम्। एकस्यापि वस्तुनो दार्ढ्याय तदुपपत्तेः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न खल्विदं तत्त्वावबोधप्रकरणम्। येनैकत्वप्रतिपत्तिर्दार्ढ्यमपेक्षते। किं तर्हि? सगुणोपास्तिप्रकरणम्। उपास्तिश्च यथावचनमनुष्ठेया। ततो व्यतिहारेण द्वेधा बुद्धिः कर्तव्या। नन्वेवं सति जीवस्य ब्रह्मैक्यमुत्कर्षाय कल्पते, ब्रह्मणस्तु जीवैक्यमपकर्षाय स्यादिति चेत्। नायं दोषः। यथा देहादिरहितस्याप्युपासकचित्तस्थैर्यार्थं चतुर्भुजाष्टभुजादिमूर्त्युपदेशेऽपि नापकर्षस्तथा वचनबलादीशस्य जीवत्वोपासनेन तव का हानिः। यद्युपासनाय व्यतिहारेऽनुष्ठीयमानेऽर्थाज्जीवब्रह्मणोरेकत्वप्रतिपत्तिर्दृढा भवेत्तर्हि चरितार्थाः संपद्यामहे। तस्मात्—व्यतिहारेण द्विधा बुद्धिः कर्तव्या ॥२३॥

चतुर्विंशाधिकरणमारचयति—

बृहदारण्यके श्रूयते—"स यो हैतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति, जयतीमाँल्लोकान्" (बृ० ५-४-१) इति। यक्षं पूज्यम्। प्रथमजं हिरण्यगर्भरूपेण प्रथममुत्पन्नमित्यर्थः। अनेन वाक्येन सत्यविद्यां प्रतिपाद्य पश्चादिदं प्रतिपाद्यते— 'तद्यत्तत्सत्यम्। असौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिण ऽक्षन्पुरुषः" (बृ० ५-५-२) इति। तत्तत्रेत्यर्थः। एवं वाक्यद्वयोक्ते सत्यविद्ये द्वे भवतः। कुतः? फलभेदात्। यक्षवाक्ये लोकजयः फलमुक्तम्। रवि-

प्रकृताकर्षणादेका पापघातोऽङ्गधीफलम् । अर्थवादोऽथवा मुख्यो युक्तोऽधिकृतकल्पकः ॥५२॥

(१२६) कामाद्यधिकाराधिकरणम् ॥२५॥

असंहृतिः संहृतिर्वा व्योम्नोर्दहरहार्दयोः । उपास्यज्ञेयभेदेन तद्गुणानामसंहृतिः ॥५३॥

भिन्न है।

४. पूर्वपक्ष—फलभेद के कारण विद्या भिन्न माननी पड़ेगी, चाहे उपास्य एक ही हो।

५. सिद्धान्त—सत्यविद्या एक ही है क्योंकि उपास्य हिरण्यगर्भ दोनों स्थानों में अभिन्न है, फलभेद तो अङ्गोपासना का है, उसे अर्थवाद भी माना जा सकता है। मुख्य फल हिरण्यगर्भ की प्राप्ति है, वह एक ही है। अतः सत्यविद्या एक होने के कारण सत्यादि गुणों का उपसंहार एक ही सत्यब्रह्म में करना चाहिए।

(१२६) कामाद्यधिकाराधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में 'तद्यत्तत्सत्यम्' इस वाक्य द्वारा प्रसङ्गगत पदार्थ का आकर्षण होने से उपास्यरूप का अभेद सिद्ध हुआ था, इसीलिए अधिदैव एवं अध्यात्म मण्डल में सत्यादि गुणों का उपसंहार कहा गया था; किन्तु यहाँ पर कहीं-कहीं आकाश को उपास्य कहा और कहीं आकाशाश्रित को ज्ञेय बतलाया गया है। इस प्रकार उपास्य के रूप भिन्न होने से गुणों का उपसंहार अभीष्ट नहीं है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति पूर्व के साथ इसकी है।

२. विषय—आकाश एवं तदाश्रित विद्या के वेद्यवस्तु पर इस अधिकरण में विचार किया गया विषय है।

३. संशय—छान्दोग्य की दहर विद्या में अपहतपाप्मत्वादि गुण पढ़े गये हैं और वाजसनेय के हार्दविद्या में सर्ववशित्वादि गुण पढ़े गये हैं, इन दोनों स्थलों में हार्दविद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है? अभिन्न होने पर भी गुणों का उपसंहार होना चाहिए अथवा नहीं?

४. पूर्वपक्ष—उक्त दोनों श्रुतियों में विद्या भिन्न होने के कारण गुणों का उपसंहार नहीं होना चाहिए क्योंकि एकत्र दहराकाश उपास्य है और अन्यत्र हार्दब्रह्म ज्ञेय है।

वाक्ये च "हन्ति पाप्मानं जहाति च" (बृ० ५-५ ३,४) इति पापघातलक्षणं पृथक् फलं श्रूयते तस्मात्-विद्याभेदः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—एकैवेयं सत्यविद्या। "तद्यत्तत्सत्यम्" इति प्रकृतं सत्यं ब्रह्मानूद्य "असौ स आदित्यः" इति रविरूपत्ववर्णनात्। न चात्र फलभेदोऽस्ति। पापघातस्योपाहितफलत्वेनार्थवादत्वात्। अङ्गेषु फलश्रुतिरर्थवादः' इतिन्यायेनाविवक्षितत्वात् अथवाऽत्रोपासनायामधिकार्यप्रवणाच्छ्रूयमाणफलस्यैव कामोपबन्धमध्याहृत्याधिकारिणि कल्पयितव्ये सति 'पापघातलोकजयकाम उपासीत' इति वक्तुं शक्यत्वाद्विशिष्टफलस्य विवक्षितत्वम्। तस्मादेकैवेयं सत्यविद्या ॥२४॥

पञ्चविंशाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्ये "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" (छा० ८ १-१) इति हृदयान्तर्गतत्वेन श्रुतस्य दहराकाशस्य सत्यकामत्वादयो गुणा उक्ताः। बृहदारण्यके तु—"य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः" (बृ० ४ ४-२२) इत्युक्तस्य हार्दाकाशस्य वशित्वादयो गुणा उक्ताः। तत्र न परस्परगुणोपसंहारः। दहराकाशस्योपास्यत्वेन, हार्दाकाशस्य ज्ञेयत्वेन विद्याभेदात्।

उपास्त्यै वशित्वादिरत्र स्तुत्यै त्वात्र संहृतिः । दहराकाश आत्मात्र हृदाकाशोऽपि नेतरः ॥५४॥

(१२७) आदराधिकरणम् ॥२६॥

न लुप्यते लुप्यते वा प्राणाहुतिरभोजने । न लुप्यतेऽतिथेः पूर्वं भुञ्जीतेत्यादरोक्तितः ॥५५॥
भुज्यर्थान्नोपजीवित्वात्तल्लोपे लोप इष्यते । भुक्तिपक्षे पूर्वभुक्तावादरोऽप्युपपद्यते ॥५६॥

५. सिद्धान्त—छान्दोग्य में पठित सत्यकामत्वादि गुणों का वाजसनेयक में और वाजसनेयक में पढ़े गये सर्ववशित्वादि गुणों का छान्दोग्य में उपसंहार करना चाहिए क्योंकि हृदय आयतन, वेद्यवस्तु ब्रह्म, ब्रह्म का सेतुत्व और लोकासम्भेदरूप प्रयोजन इत्यादि दोनों स्थलों पर समान रूप से देखे जाते हैं। एकत्र सगुण उपासना और अन्यत्र निर्गुण उपासना का भेद होने पर भी यहाँ पर विद्या में भेद नहीं है क्योंकि गुणों का उपसंहार यहाँ उपासना के लिए नहीं अपितु स्तुति के लिए कह रहे हैं।

(१२७) आदराधिकरण

१. सङ्गति—जैसे पिछले अधिकरण में सगुण और निर्गुण विद्या का भेद होने पर भी गुणोपसंहार स्तुति के लिए कहा गया था, वैसे ही भोजन के लोप होने पर भी पूर्वभोजन की स्तुति के लिए प्राणाग्निहोत्र का अलोप मानना चाहिए; इस प्रकार पूर्व के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—प्राणाग्निहोत्र के लोप एवं अलोप का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—छान्दोग्य की वैश्वानर विद्या में प्राणाग्निहोत्र सुना जाता है, क्या भोजन के लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप होता है अथवा नहीं होता है?

४. पूर्वपक्ष—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इस श्रुति में अतिथिभोजन से पूर्व अग्निहोत्र का विधान होने के कारण भोजन के लोप होने पर भी प्राणाग्निहोत्र का लोप नहीं होना चाहिए।

५. सिद्धान्त—'तद्यद्भक्तं प्रथमागच्छेत्तद्धोमीयम्' इस श्रुति से भोजन के निमित्त उपस्थित भात से ही प्राणाग्निहोत्र बतलाया गया है, अतः किसी कारण से भोजन का लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप ही रहेगा। भोजन पक्ष में आदरवचन प्राणाग्निहोत्र के प्राथम्यविधान के लिए कहा गया है। अतः भोजन के लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप ही रहेगा।

इति प्राप्ते ब्रूम—तत्र वशित्वादीनां दहराकाश उपसंहार उपास्त्यै भविष्यति। सत्यकामत्वादीनां तु हार्दाकाश उपसंहारः स्तुत्यर्थः। न च प्रयोजनत्वेऽपि विद्याभेदो दुष्परिहर इति वाच्यम्। विद्याभेदेऽप्युभयत्राऽऽकाशशब्दवाच्यस्याऽऽत्मन एकत्वात्। दहराकाशस्य तावदात्मत्वं दहराधिकरणे (ब्र० सू० १-३-५) वर्णितम्। हार्दाकाशस्यापि "महानज आत्मा" इत्युपक्रमादात्मत्वमवगन्तव्यम्। तस्मादुभयत्रोपसंहारः ॥२५॥

षड्विंशाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यावाक्यशेषे—"यां प्रथमाहुतिं जुहुयात्, तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति" (छा० ५-१९-१) इति प्राणाहुतयः पठ्यन्ते। तत्र केनचिन्निमित्तेन भोजनलोपेऽप्युपासकस्य प्राणाहुतिर्न लुप्यते। "पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्" इत्यतिथिभोजनात्पूर्वमुपासकस्य यजमानस्य भोजनं प्रतिपादयन्त्या श्रुतेः प्राणाहुतावादरदर्शनात्। तमादरं प्रख्यापयितुमेवातिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दति—"यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयात्, तादृक्तत्स्यात्" इति। तस्मात्प्राणाहुतेरलोपः।

इति प्राप्ते ब्रूम—"तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्" इति भोजनार्थान्नस्य होमद्रव्यत्वश्रवणाद्भोजनलोपे द्रव्याभावादाहुतिर्लुप्यते। आदरस्तु भोजनपक्षे प्राथम्यविधानाय भविष्यति। तस्मात्—भोजनलोपे प्राणाहुतिर्लुप्यते ॥२६॥

(१२८) तन्निर्धारणाधिकरणम् ॥२७॥

नित्या अङ्गावबद्धाः स्युः कर्मस्वनियता उत । पर्णवत्क्रतुसंबन्धो वाक्यान्नित्यास्ततो मताः ॥२७॥
पृथक्फलश्रुतेर्नैता नित्या गोदोहनादिवत् । उभौ कुरुत इत्युक्तं कर्मोपास्त्यनुपासिनोः ॥२८॥

(१२९) प्रदानाधिकरणम् ॥२८॥

एकीकृत्य पृथग्वा स्याद्वायुप्राणानुचिन्तनम् । तत्त्वाभेदात्तयोरेकीकरणेनानुचिन्तनम् ॥५९॥

---

(११८) तन्निर्धारणाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वाधिकरण में अनित्य भोजनाश्रित प्राणाग्निहोत्र को जैसे अनित्य कहा था, ऐसे ही यहाँ पर नित्यकर्म की अङ्गभूत उपासनाओं में नित्यत्व बतलाने के लिए दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है।

२. विषय—इस अधिकरण में नित्यकर्माङ्गाश्रित उपासनाओं की नित्यता पर विचार किया गया है।

३. संशय—क्या नित्यकर्माङ्ग उपासना पर्णता की भाँति नित्य है अथवा गोदोहन की भाँति अनित्य है?

४. पूर्वपक्ष—अनारभ्याधीत होने के कारण वे कर्माङ्ग उपासना नित्य हैं। जिस प्रकार 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' यह वाक्य अनारभ्याधीत होने के कारण सभी क्रतु के साथ पर्णता का सम्बन्ध बतलाता है, ऐसे ही कर्माङ्ग उपासना भी नित्य ही है।

५. सिद्धान्त—नित्यकर्माङ्ग उपासना का फल पृथक् सुना गया है इसलिए गोदोहनपात्र से जलाहरण की भाँति वह नित्य नहीं है, वह तो उपासक की इच्छा पर आधारित है। उपासना करे या न करे, कर्म तो नित्य करना ही चाहिए, किन्तु उपासना उसकी इच्छा पर आधारित है। अतः नित्यकर्म के आश्रित उपासना नित्य नहीं है।

(१२९) प्रदानाधिकरण

१. सङ्गति—पहले फलभेद से कर्माङ्ग उपासनाओं का नित्यानित्यरूप प्रयोगभेद कहा था,

---

सप्तविंशाधिकरणमारचयति—

उद्गीथादिषु कर्माङ्गेषु प्रतिमादिवत्प्रतीकभूतेषु विधीयमाना देवतोपास्तयोऽङ्गावबद्धाः। ततश्च कर्मस्वनुष्ठीयमानेषु कर्माङ्गवन्नियमेनानुष्ठातव्याः। कर्मप्रकरणमारभ्याध्ययनाभावेऽपि वाक्यात्क्रतुसंबन्धोपपत्तेः। यथा "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति" इत्यनारभ्याधीतस्याप्यव्यभिचारिजुहूद्वारा वाक्यात्क्रतुसंबन्धस्तथा "य एवं विद्वानुद्गायति, य एवं विद्वान्साम गायति" इत्यादिष्वव्यभिचरितक्रतुसंबन्धिसामोद्गीथादिद्वारा तदुपासनानां क्रतुसंबन्धः प्रतीयते। तस्मात्कर्मसु नियता उपास्तयः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—गोदोहनादिवदनियता उपास्तयः। यथा "चमसेनापः प्रणयेत्, गोदोहनेन पशुकामस्य" इत्यत्राप्प्रणयनमाश्रित्य विधीयमानमपि गोदोहनमक्रत्वर्थत्वादैच्छिकम्' न तु प्रणयनादिवन्नियतम्। तथा कर्माङ्गाण्याश्रित्य विधीयमाना उपास्तयो न क्रत्वर्थाः, किंतु पुरुषार्थाः। कर्मफलात्पृथक्फलश्रवणात्। "वर्षति हास्मै" (छा० २-३-२) इति पञ्चविधे सामनि वृष्टिदेवतामुपासीनस्य कामवृष्टिः क्रतुफलात्पृथक्फलत्वेन श्रूयते। किं च "तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद, यश्च न वेद" इत्यस्मिन्नङ्गावबद्धोपास्तिवाक्यशेष उपासकानुपासकयोरुपास्याधारभूतेन तेनाङ्गेन कर्मानुष्ठानं विस्पष्टमाम्नायते। तस्मात्कर्मस्वनियता उपास्तयः ॥२७॥

अष्टाविंशाधिकरणमारचयति—

संवर्गविद्यायाम्—अधिदैवं वायुरुपास्यत्वेन श्रुतः। अध्यात्मं च प्राणः। तत्र प्राणस्य वायु-

अवस्थाभेदतोऽध्यात्ममधिदैवं पृथक्श्रुतेः । प्रयोगभेदो राजादिगुणकेन्द्रप्रदानवत् ॥६०॥

(१३०) लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥२६॥

कर्मशेषाः स्वतन्त्रा वा मनश्चित्प्रमुखाग्नयः । कर्मशेषाः प्रकरणाल्लिङ्गं त्वन्यार्थदर्शनम् ॥६१॥

किन्तु इस अधिकरण में वायु और प्राण का तत्त्वतः अभेद होने के कारण और उसकी प्राप्तिरूप फल का ऐक्य होने के कारण ध्यानप्रयोग में भी एकता है; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति पूर्व के साथ इसकी है।

२. विषय—वाजसनेयक में 'वाणी ने घोषणा की—'मैं बोलती ही रहूँगी' इस वाक्य द्वारा वागादि से प्राण को श्रेष्ठ कहा है। वैसे ही, अग्न्यादि से वायु को श्रेष्ठ कहा है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् को संवर्ग विद्या में प्राण और वायु की श्रेष्ठता कही गयी है। इस पर विचार करके निर्णय लेना इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या इस विद्या में वायु एवं प्राण के प्रयोग का अभेद है अथवा भेद है?

४. पूर्वपक्ष—वायु और प्राण में तत्त्वतः अभेद होने के कारण दोनों का एक रूप में चिन्तन करना चाहिए।

५. सिद्धान्त—अवस्थाभेद से एवं पृथक् श्रुति को देखते हुए अध्यात्म प्राण और अधिदैव वायु का चिन्तन पृथक्-पृथक् करना चाहिए। जिस प्रकार इन्द्र देवता के एक होने पर भी 'राजा इन्द्र को एकादश कपाल वाले पुरोडाश' का निर्वाप बतलाया है, उससे भिन्न अधिराज इन्द्र और स्वराज इन्द्र के लिए पृथक् पुरोडाश का निर्वाप कहा गया है; वैसे ही तत्त्वतः एक होते हुए भी वायु एवं प्राण का, स्थानभेद से, पृथक्-पृथक् चिन्तन करना चाहिए।

(१३०) लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में एक प्रयोग का होना असम्भव होने के कारण वायु एवं प्राण का भिन्न रूप में चिन्तन कहा गया था, तब तो मनश्चिदादि अग्नि का कर्माङ्गरूप से अभिन्नरूप में चिन्तन करना उचित होगा; इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण कहा गया है।

कार्यत्वेन तत्त्वभेदाभावादुभयोरेकीकरणेन चिन्तनम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—तत्त्वभेदाभावेऽपि कार्यत्वेन कारणत्वेन चावस्थाभेदस्य सद्भावात् "इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्" (छा० ४·३·२,३) इति विविच्य पृथगनुचिन्तनाय श्रुतिर्विविनक्ति। तस्मात्—इन्द्रप्रदानवत्प्रयोगभेदो द्रष्टव्यः। यथा—"इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालम्, इन्द्रायाधिराजाय, इन्द्राय स्वराज्ञे" इतीन्द्रस्यैकत्वेऽपि राजादिगुणभेदात्पृथक्पुरोडाशप्रदानं कृतम्, तथा—एकस्यापि वायुतत्त्वस्य स्थानभेदात्पृथक्चिन्तनं भविष्यति ॥२८॥

एकोनत्रिंशाधिकरणमारचयति—

अग्निरहस्ये कस्मिंश्चिद्ब्राह्मणे श्रूयते—"षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चित" इति। अस्यायमर्थः—'पुरुषस्य शतसंवत्सरपरिमिते आयुषि षट्त्रिंशत्सहस्राणि दिनानि भवन्ति। तत्रैकैकस्मिन्दिवसे या मनोवृत्तिस्तस्या एकैकाग्नित्वेन ध्याने सति ध्यातव्या अग्नयः षट्त्रिंशत्सहस्राणि सम्पद्यन्ते। ते च प्रत्यगात्मस्वरूपत्वेन ध्येयाः। एते एवार्चनीयाः। मनसा चीयन्ते संपद्यन्त इति मनश्चितः। एवं 'वाक्चितःप्राणचितश्चक्षुश्चितः' इति ते चाग्नयोऽग्निचयनप्रकरणपठितत्वात्कर्मशेषाः, न तु स्वतन्त्रविद्यात्मकाः। ननु लिङ्गे बलात्स्वतन्त्रविद्यात्मका

उत्प्रेयविधिगालिङ्गादेव श्रुत्या च वाक्यतः । बाध्यं प्रकरणं तस्मात्स्वतन्त्रं वह्निचिन्तनम् ॥६२॥

(१३१) ऐकात्म्याधिकरणम् ॥३०॥

आत्मा देहस्तदन्यो वा चैतन्यं मदशक्तिवत् । भूतमेलनजं देहे नान्यश्चाऽऽत्मा वपुस्ततः ॥६३॥

---

२. विषय—वाजसनेयक अग्निरहस्य में मन के अधिकार में 'छत्तीस हजार अग्नियाँ सुनी जाती हैं जो मनोमय हैं। वैसे ही वाक्चित्, प्राणचित् चक्षुश्चित्, श्रोत्रचित्, कर्मचित् और अग्निचित्, भी सुनी जाती हैं। इस अधिकरण में इनके स्वरूप तथा चयन पर विचार किया गया है।

३. संशय—क्या मनश्चिदादिरूप कर्माङ्गभूत अग्नि केवल उपासना के लिए है अथवा स्वतन्त्र हैं ?

४. पूर्वपक्ष—प्रकरण को देखते हुए क्रियानुप्रवेशी मनश्चिदादि अग्नियाँ कर्माङ्ग ही हैं।

५. सिद्धान्त—पूर्वोक्त मनश्चिदादि अग्नियाँ स्वतन्त्र हैं इसके बोधक अनेक लिङ्ग हैं। प्रकरण प्रमाण से लिङ्ग प्रमाण प्रमाण बलवान होता है, ऐसा पूर्वमीमांसा में कहा गया है। अतः मनश्चिदादि अग्नियों का स्वतन्त्ररूप से ही चिन्तन करना चाहिए, कर्माङ्गरूप में नहीं।

(१३१) ऐकात्म्याधिकरण

१. सङ्गति—मनश्चिदादि अग्नियों के चिन्तन को पुरुषार्थ मानना उचित नहीं है क्योंकि देहादि से भिन्न उसके फल का भोक्ता पुरुष है ही नहीं, इस प्रकार आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

भविष्यन्ति। तथाऽपि-तान्हैतानेवंविदे सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इति वाक्यशेषः पठ्यते। तस्यायमर्थः-उपासकस्य स्वपतोऽप्यग्नयो न च्छिन्नाः। स्वकीयमनोवागादिवृत्त्युपरमेऽपि प्रबुद्धपुरुषमनोवागादिवृत्तीनां सर्वदा प्रवर्तमानत्वात्। अविशेषेण पुरुषमनआदिवृत्तीनामाग्नित्वेन वर्णनात्। तस्मादेवंविदे स्वपतेऽपि तानेतानग्नीन्सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्तीति। अत्र यावज्जीवमग्नीनामविच्छेदेन नैरन्तर्यं प्रतीयते। तच्च विद्यास्वातन्त्र्ये लिङ्गम्। कर्मशेषत्वे हि कर्मणो यावज्जीवं नैरन्तर्याभावात्तच्छेषाणां मनश्चिदादीनां कथं नैरन्तर्यं स्यात्। तच्च लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः। तस्मात्स्वतन्त्रा इति चेत्। नायं दोषः। अन्यार्थदर्शनरूपत्वेन लिङ्गस्यैतस्य दुर्बलत्वात्। तथा हि-द्विविधं लिङ्गम्-सामर्थ्यमन्यार्थदर्शनं चेति। तत्र विध्युद्देशगतं लिङ्गं सामर्थ्यम्। तच्च स्वातन्त्र्येण प्रमाणम्। अर्थवादगतं त्वन्यशेषवाक्ये दृश्यमानत्वादन्यार्थदर्शनम्। तच्च तात्पर्यरहितत्वान्न स्वातन्त्र्येण प्रमाणम्, किंच प्रमेयस्तावकप्रमाणान्तरे केवलमुपोद्बलकं भवति। एवं च सत्यत्रोदाहृतलिङ्गस्य दुर्बलत्वात्प्रकरणात्कर्मशेषा मनश्चिदादय।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावदत्र शब्दो विधिरुपलभ्यते। लिङ्गादेरश्रवणात्। किं तर्ह्यर्थवादसामर्थ्याद्विज्ञेयो विधिः। तथा च फलप्रतिपादकस्तावकवाक्यानां रात्रिसत्रन्यायेनाधिकारिसमर्पणपर्यवसानादशेषमप्येतद्ब्राह्मणं विधिरूपं भविष्यति। ततोविध्युद्देशगतत्वेन लिङ्गस्य प्राबल्यम्। किंच "ते हैते विद्या चित एव" इत्येव श्रुत्या कर्माङ्गत्वं व्यावर्तते। तथा 'विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति" इति वाक्यमपि स्वातन्त्र्यगमकम्। श्रुतिलिङ्गवाक्यैः प्रकरणं बाधित्वा स्वतन्त्रविद्यात्मकत्वं मनश्चिदादीनामभ्युपगन्तव्यम ॥२९॥

त्रिंशाधिकरणमारचयति—

'मनश्चिदादीनां क्रत्वर्थता नास्ति, किंतु पुरुषार्थत्वम्' इत्युक्ते सति 'कोऽसौ पुरुषः' इति प्रसङ्गाद्विचार्यते। तदेतदधिकरणं पूर्वोत्तरयोरुभयोर्मीमांसयोः शेषभूतम्। स्वर्गमोक्षभागिन

भूतोपलब्धिर्भूतेभ्यो विभिन्ना विषयित्वतः । सेवाऽऽत्मा भौतिकाद्देहादन्योऽतो परलोकभाक् ॥६४॥

(१३२) अङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥३१॥

उक्थादिधी स्वशाखाङ्गेष्वेवान्यत्रापि वा भवेत् । सांनिध्यात्स्वस्वशाखाङ्गेष्वेवासौ व्यवतिष्ठते ॥६५॥

---

२. विषय—देहादि से भिन्न आत्मसत्ता का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या आत्मा देहादि से भिन्न है अथवा अभिन्न है ?

४. पूर्वपक्ष—मदशक्ति की भाँति भूतों के सम्मेलन से देह में चैतन्य फूट उठता है; अतः शरीर ही आत्मा है, उससे भिन्न आत्मा नहीं है ।

५. सिद्धान्त—पृथिव्यादि भूतों को उपलब्धि उनसे भिन्न चैतन्य के द्वारा ही होता है क्योंकि पृथिव्यादि विषय हैं और चैतन्य आत्मा विषयी है जो भौतिक देह से भिन्न है और इस शरीर से किए हुए शुभाशुभ कर्मों का फल लोकान्तर एवं देहान्तर में जाकर भोगता है ।

(१३२) अङ्गावबद्धाधिकरण

१. सङ्गति—आत्मा के चैतन्यादि धर्म देह में सम्भव न होने के कारण देह एवं आत्मा का भेद पूर्व अधिकरण में बतलाया गया था । वैसे ही एक शाखागत उद्गीथधर्मों का शाखान्तरीय उद्गीथ से स्वरादि में भेद के कारण अन्यत्र प्राप्ति सम्भव नहीं है । इस प्रकार पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है ।

२. विषय—इस अधिकरण में उद्गीथ कर्म के आश्रित उपासनाओं के शाखाभेद से भेदाभेद का विचार किया गया है ।

३. संशय—अपनी शाखागत कर्मानुष्ठान के साथ ही कर्माङ्ग उद्गीथ उपासना करनी चाहिए अथवा स्वशाखीय उद्गीथ कर्म में उसकी उपासना करनी चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—अपनी शाखागत उद्गीथादि कर्मों में ही उद्गीथ उपासना का विधान किया गया है क्योंकि 'उद्गीथ की उपासना करें' ऐसी सामान्य विधि का विशेष की आकांक्षा होने पर सन्निहित स्वशाखागत विशेषण से ही आकांक्षा शान्त हो जाती है । अतः प्रतिशाखा कर्माङ्ग उद्गीथादि उपासना में व्यवस्था ही माननी चाहिए ।

आत्मनः प्रतिपाद्यत्वात् । तत्र बौद्धा लोकायतिकाः देह एवाऽऽत्मेति मन्यन्ते । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चैतन्यस्य देहे एवोपलम्भात् । सति हि देहे चैतन्यमुपलभ्यते, न त्वसति । न च चैतन्यस्य जात्यन्तरतया देहव्यतिरिक्त आत्मत्वं शङ्कनीयम् । क्रमुकनागवल्लीचूर्णानां संयोगान्मदशक्तिरिव देहाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यो जायमानं चैतन्यं कथं नाम जात्यन्तरं स्यात् । तस्माच्चेतनो देह आत्मा ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—पृथिव्यादीनां भूतानामुपलब्धिर्भूतेभ्यो व्यतिरिक्ता भवितुमर्हति । विषयित्वात् । 'यद्यद्विषयि तत्तद्विषयाद्व्यतिरिक्तम् । यथा रूपाच्चक्षुः । तथासति तादृशचैतन्यमात्मतत्त्वं वदन्तं प्रति कथं भौतिकदेहरूपत्वमापद्येत । सत्येवदेहे चैतन्यमुपलभ्यते, नासति इति यावन्वयव्यतिरेकावुक्तौ तत्र व्यतिरेकोऽसिद्धः । असत्यपि देहे परलोकगामिनश्चिदात्मनः शास्त्रेणोपलम्भात् । शास्त्रस्य च प्रामाण्यं समर्थनीयम् । सत्यपि मृते देहे चैतन्यानुपलब्धेश्चान्वयासिद्धिः ॥३०॥

एकत्रिंशाधिकरणमारचयति—

अङ्गावबद्धास्तु पासनेषु—उक्थशास्त्राख्ये कर्माङ्गपृथिव्यादिदृष्टिरैतरेयोपनिषदि श्रूयते । उक्थं तु कौषीतक्यादिशाखान्तरेऽपि विहितम् । तत्र 'पृथिव्यादिदृष्टिरैतरेयगतोक्थ एव व्यवतिष्ठत उत कौषीतक्यादिष्वनुवर्तते' इति संदेहे सति संनिहितत्वात्स्वशाखायामेव व्यवतिष्ठते ।

उक्थोद्गीथादिसामान्यं तत्तच्छब्दैः प्रतीयते । श्रुत्या च संनिधेर्बाधस्ततोऽन्यत्रापि यात्यसौ ॥६६॥

(१३३) भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥३२॥

ध्येयो वैश्वानरांशोऽपि ध्यातव्यः कृत्स्न एव वा । अशेषूपास्तिफलयोरुक्तेरस्त्यंशधीरपि ॥६७।

---

५. सिद्धान्त—उद्गीथ शब्द मुख्यवृत्ति से सामान्यतः सर्वशाखीय उदगीथ को बतलाता है, अतः उद्गीथ श्रुति के द्वारा सर्वशाखीय उद्गीथ कर्म में इसकी उपासना प्राप्त है। सन्निधि से श्रुति बलवान मानी गयी है, अतः एक स्थान में विहित कर्माङ्ग उद्गीथ उपासना का चिन्तन सर्वशाखीय उद्गीथ कर्म में करना चाहिए ।

(१३३) भूमज्यायस्त्वाधिकरण

१. सङ्गति—पहले उद्गीथ श्रुति के द्वारा सन्निधि को बाधकर उद्गीथादि उपासनाओं का प्रयोग सर्वशाखीय उद्गीथ कर्म में कहा गया था। वैसे ही यहाँ पर व्यस्त उपासना में भी विधिश्रुति और फलश्रुति को देखते हुए समस्त उपासना समीपवर्ती स्तुत्यर्थ को बाधकर व्यस्त उपासना में विधेयत्व मानना चाहिए। इस प्रकार पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—छान्दोग्य की वैश्वानर विद्या में 'हे भगवन्! मैं तो द्युलोक की उपासना करता हूँ' इत्यादि वाक्यों द्वारा द्युलोक, सूर्यादि व्यस्त उपासनाओं का वर्णन है और इसके बाद व्यस्त उपासना की निन्दाकर समस्त उपासनाओं का विधान है; इनके स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या वैश्वानर विद्या में द्युलोकादि को व्यस्तरूप से उपासना करनी चाहिए अथवा समस्तरूप से उपासना करनी चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—व्यस्त उपासनाओं में भी विधि और फल सुने गये हैं, अतः व्यस्त उपासना भी विहित है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—उक्थशब्दस्तावन्मुख्यया वृत्त्या सर्वशाखागतमुक्थसामान्यमाचष्टे । तत उक्थश्रुतिवशात्सर्वशाखागतोक्थशास्त्रेष्वनुवृत्तिः प्राप्ता । श्रुतिश्च संनिधेर्बलीयसी । तस्मात्क्वचिद्विहिता धीः शाखान्तरेष्वनुगच्छति ॥३१॥

द्वात्रिंशाधिकरणमारचयति—

वैश्वानरविद्यायां विराड्रूपवैश्वानरस्य द्युलोकसूर्यवाय्वाकाशोदकपृथिव्यो मूर्धचक्षुःप्राणमध्यशरीरमूत्रस्थानपादरूपेण ध्यातव्यांशा निरूपिताः । तेषामंशानामपि प्रत्येकं स्वातन्त्र्येणोपासनं विद्यते । उपास्तिशब्दस्य फलकथनस्य च प्रत्येकमुपलभ्यमानत्वात् । तथा हि—"औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्से" इति, "दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच" (छा० ५-१२-१) इति प्रश्नोत्तराभ्यां द्युलोकमात्रोपास्तिरवगम्यते । तस्मात् "तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते" इति सुतादिशब्दवाच्यानां सोमयागविशेषाणां संपत्तिः फलत्वेनावगम्यते । एवमंशान्तरेषूदाहर्तव्यम् । सर्वावयवसमष्ट्युपासनं "तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य" (छा० ५-१८-२) इति वाक्यशेषे विस्पष्टं प्रतीयते । तस्माद्व्यस्तोपासनं समस्तोपासनं चोभयं विवक्षितम् ।

उपक्रमावसानाभ्यां समस्तस्यैव चिन्तनम् । अंशोपास्तिफले स्तुत्यै प्रत्येकोपास्तिनिन्दनात् ॥६८॥

(१३४) शब्दभेदाधिकरण् ॥३३॥

न भिन्ना उत भिद्यन्ते शाण्डिल्यदहरादयः । समस्तोपासनश्रेष्ठ्याद्ब्रह्मैक्याद्व्यभिन्नता ॥६९॥

---

५. सिद्धान्त—उपक्रम और उपसंहार के द्वारा समस्त उपासना का ही चिन्तन निश्चित होता है, व्यस्त उपासनाओं का फलप्रतिपादन समस्त उपासनाओं की स्तुति के लिए किया गया है। साथ ही, व्यस्त उपासना की निन्दा भी की गयी है। जैसे दर्शपूर्णमासादि याग में अङ्ग के सहित प्रधान का अनुष्ठान बतलाना अभीष्ट है, प्रयाजादि का नहीं; ऐसे ही वैश्वानर विद्या में भी समस्त उपासना का प्रतिपादन ही अभीष्ट है, व्यस्त उपासना का नहीं।

(१३४) शब्दभेदादिकरण

१. सङ्गति—जिस प्रकार व्यस्त उपासनाओं में विधिश्रुति के होते हुए भी पहले समस्त उपासना को श्रेष्ठ कहा था, उसी प्रकार वेद्यवस्तु का अभेद रहने पर प्रत्येक में विधि के रहते हुए भी समस्त उपासना को श्रेष्ठ नहीं कह सकते। अतः विधि के भेद से उपासना में भी भेद माना गया है, इस प्रकार पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—सगुणब्रह्मविषयक शाण्डिल्यादि विद्या और प्राणादि विद्या के भेदाभेद का इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—क्या सगुणब्रह्मविषयक शाण्डिल्यादि विद्या और प्राणादि विद्या अभिन्न हैं या भिन्न हैं?

४. पूर्वपक्ष—समस्त उपासना श्रेष्ठ मानी गयी है और उसका विषय ब्रह्म भी एक है, इसीलिए ये सब सगुणब्रह्मविषयक विद्यायें अभिन्न मानी जायेंगी।

५. सिद्धान्त—वेद्य से अभेद रहने पर भी यहां पर विद्या भिन्न-भिन्न ही है क्योंकि सभी विद्याओं का अनुष्ठान शक्य नहीं है और गुणों के कारण ब्रह्म का स्वरूप भी पृथक् पृथक् हो जाता है। अतः

इति प्राप्ते ब्रूमः—समस्तोपासनमेव विवक्षितम्, न तु व्यस्तोपासनम्। कुतः? । उपक्रमोपसंहाराभ्यामेकवाक्यत्वावगमात् । उपक्रमे तावत् "को न आत्मा किं ब्रह्म" (छा० ५-११-१) इति कृत्स्नमेव ब्रह्मोपास्यत्वेन विचारयितुं प्रक्रान्तम् । उपसंहारेऽपि "तस्य ह वै" (छा० ५-१८-२) इत्यादिना समस्तोपासनं विस्पष्टमभिधीयते तथा च सत्यंशोपास्तिषु पृथगभ्युपगम्यमानासु वाक्यभेदः प्रसज्यते। पृथगुपास्तिफलकथनं तु कैमुतिकन्यायेन स्तुत्यै भविष्यति । अथ बहूपास्तिलाभाय वाक्यभेदोऽप्यभ्युपगम्यते, तदा प्रत्येकोपास्तिनिन्दावचनानि कथं समर्थयेथाः । निन्द्यन्ते हि प्रत्येकोपास्तयः। "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" (छा० ५-१२-२) इति शिरोमात्रोपासनं विद्यते। तस्मात्समस्तोपासनमेव विवक्षितम् ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशाधिकरणमारचयति—

छान्दोग्ये शाण्डिल्यविद्यामधुविद्येत्यादयः पठिताः। तथा शाखान्तरेष्वपि। तत्र पूर्वाधिकरणन्यायेन समस्तोपासनस्य श्रेष्ठत्वाद्वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वाच्च सर्वासामेकविद्यात्वम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अनन्तासु विद्यास्वेकीकरणेनानुष्ठानं तावदशक्यमिति विद्याभेदोऽभ्युपगन्तव्यः। न च वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वं शङ्कनीयम्। गुणभेदेन भेदोपपत्तेः। न चैकस्या विद्याया

कृत्स्नोपास्तिरशक्यत्वाद्गुणैर्ब्रह्म पृथक्कृतम् । दहरादीनि भिद्यन्ते पृथक्पृथगुपक्रमात् ॥७०॥

(१३५) विकल्पाधिकरणम् ॥३४॥

अहंग्रहेष्वनियमो विकल्पनियमोऽथवा । नियामकस्याभावेन याथाकाम्यं प्रतीयताम् ॥७१॥

ईशसाक्षात्कृतेस्त्वेकविद्ययैव प्रसिद्धितः । अन्यानर्थक्यविक्षेपौ विकल्पस्य नियामकौ ॥७२॥

(१३६) काम्यधिकरणम् ॥३५॥

प्रतीकेषु विकल्पः स्याद्याथाकाम्येन वा मतिः । अहंग्रहेष्विवैतेषु साक्षात्कृत्यै विकल्पनम् ॥७३॥

वेद्य का अभेद रहने पर भी अनुबन्ध गुण के भेद से वेद्यवस्तु में भी भेद आ जाता है, इसीलिए यह विद्या भिन्न-भिन्न ही है।

(१३५) विकल्पाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वाधिकरण के साथ इस अधिकरण की हेतु हेतुमद्भाव सङ्गति है।

२. विषय—अहंग्रह उपासना में विकल्प एवं समुच्चय के अनुष्ठान पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—क्या अपनी इच्छा से उपासक सगुणब्रह्मविद्या का अनुष्ठान समुच्चयरूप में करेगा अथवा विकल्परूप में ?

४. पूर्वपक्ष—नियामक के अभाव में उपासक इनका यथेच्छ अनुष्ठान कर सकता है।

५. सिद्धान्त—इन विद्याओं का अनुष्ठान विकल्प से ही करना चाहिए, समुच्चयरूप में नहीं क्योंकि उपास्य का साक्षात्काररूप फल सभी का समान रूप से बतलाया गया है। अतः समुच्चय अनुष्ठान विक्षेपकारक और अनावश्यक होने के कारण साक्षात्कारपर्यन्त एक ही उपासना करनी चाहिए।

(१३६) काम्यधिकरण

१. सङ्गति—पहले अहंग्रह उपासनाओं का अनुष्ठान विकल्प से कहा गया था, वैसे ही उपासनात्व

इयत्ता निश्चेतुमशक्या । प्रत्येकमुपक्रमोपसंहारयोस्तन्निश्चायकत्वात् । तस्मात्—विद्यानां नानात्वमिति ॥३३॥

चतुस्त्रिंशाधिकरणमारचयति—

द्विविधान्युपासनानि—अहंग्रहाणि प्रतीकानि चेति । आत्मनः सगुणत्वोपासनेष्वहंग्रहस्य चतुर्थाध्याये वक्ष्यमाणत्वात्तान्यहंग्रहाणि। अनात्मवस्तुनि देवतादृष्ट्या संस्कृत्योपास्यमानानि प्रतीकानि। तत्राहंग्रहेषु शाण्डिल्यविद्याद्युपासनेषु, एकं द्वे बहूनि चोपासनानि यथाकाम्येनानुष्ठेयानि । विकल्पस्य नियामकाभावात्। न हि शाण्डिल्योपासनं दहरोपासनमन्यद्वा, एकमेवानुष्ठेयं नेतरदिति विकल्पनियमे किंचित्कारणमस्ति। तस्मात् याथाकाम्यम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अन्यानर्थक्यं तावदेकं नियामकम् । तथा हि—ईश्वरसाक्षात्कार उपासनस्य प्रयोजनम्। तच्चैकेनैवोपासनेन सिध्यति । तत्रान्योपासनवैयर्थ्यम्। किंचोपासनेषु न प्रमाणजन्यः साक्षात्कारः। किं तर्हि ? निरन्तरभावनया ध्येयतादात्म्याभिमानः । स चाभिमान एकमुपासनमनुष्ठाय तत्परित्यज्यान्यत्र प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य चित्तविक्षेपात्कथं नाम दृढो भवेत्। तस्मादनर्थक्यविक्षेपयोर्नियामकत्वाद्विकल्पो नियम्यते ॥३४॥

पञ्चत्रिंशाधिकरणमारचयति—

प्रतीकोपासनेषु पूर्वाधिकरणन्यायः।

देवो भूत्वेतिवन्नात्र काचित्साक्षात्कृतौ मितिः । याथाकाम्यमतोऽमीषां समुच्चयविकल्पयोः ॥७४॥

(१३७) यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥३६॥

समुच्चयोऽङ्गबद्धेषु याथाकाम्येन वा मतिः । समुच्चितत्वादङ्गानां तद्‌बद्धेषु समुच्चयः ॥७५॥

सामान्य को देखते हुए प्रतीक उपासनाओं का भी क्यों नहीं विकल्प से ही अनुष्ठान माना जाय; इस प्रकार आक्षेप होने पर इस अधिकरण का उत्थापन हुआ है।

२. विषय—'नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७-१-५) इत्यादि वाक्यों से कही गयी प्रतीक उपासनाओं के विकल्प और सम्मुच्चय का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या प्रतीक उपासनायें विकल्प से की जायं अथवा उपासक के इच्छानुरूप विकल्प या समुच्चय माना जाय?

४. पूर्वपक्ष—साक्षात्कार फलवाली अहंग्रह उपासनाओं की भांति इन प्रतीक उपासनाओं में भी विकल्प ही मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—क्रिया की भांति अदृष्ट द्वारा फल का जनक होने के कारण इन प्रतीक उपासनाओं का फल इष्ट का साक्षात्कार करना नहीं है, ये तो काम्य उपासनायें हैं। अतः उपासक की इच्छानुसार विकल्प या समुच्चय दोनों ही प्रकार से प्रतीक उपासना की जा सकती है।

(१३७) यथाश्रयभावाधिकरण

१. सङ्गति—पहले जिस प्रकार स्वतन्त्र होने के कारण प्रतीक उपासनाओं का अनुष्ठान यथेच्छ कहा था, अङ्गाश्रित उपासना वैसी स्वतन्त्र नहीं है किन्तु अङ्गतन्त्र है; इस प्रकार पूर्व के साथ इस अधिकरण की प्रत्युदाहरण सङ्गति है।

२. विषय—वेदत्रयविहित कर्माङ्ग उद्गीथाश्रित विद्याओं के समुच्चय और विकल्प पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—क्या कर्माङ्ग उद्गीथाश्रित वेदत्रयविहित उपासनाओं का अनुष्ठान समुच्चयरूप में किया जाय अथवा विकल्परूप में?

४. पूर्वपक्ष—अङ्गावबद्ध उपासनाओं का अनुष्ठान समुच्चयरूप में ही करना चाहिए। जैसे याग के अंगों का अनुष्ठान समुच्चयरूप में किया जाता है, वैसे ही अंगाश्रित उपासनाओं का अनुष्ठान भी समुच्चयरूप में करना चाहिए क्योंकि ये भी अपने आश्रय के अधीन हैं।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अस्त्यत्र महद्वैषम्यम् । "देवो भूत्वा देवानप्येति" (बृ० ४-१-२) इति 'जीवन्नेव भावनाप्रकर्षवशाद्देवसाक्षात्कारं प्राप्य मृतो देवत्वमुपैति' इति यथाऽहंग्रहेष्ववगम्यते, न तथा प्रतीकेषु साक्षात्कारफलत्वे किंचिन्मानमस्ति । साक्षात्कारफलत्वभावे च तत्र तत्र प्रोक्ता भोग्यवस्तुप्राप्तयः फलत्वेनाभ्युपगन्तव्याः । तथा च सति भिन्नफलत्वान्नान्यानर्थक्यम् । विक्षेपशङ्का तु दूरापेता । एकं प्रतीकं केषुचित्क्षणेषूपास्य क्षणान्तरे प्रतीकान्तरोपासने पूर्वोपास्तिजन्यस्या पूर्वस्याविनाशात् । तस्माद्विकल्पेनैकमेव वा, बहूनि समुच्चित्य वा, याथाकाम्येन प्रतीकमुपासितव्यम् ॥३५॥

षट्त्रिंशाधिकरणमारचयति—

द्विविधानि प्रतीकानि लौकिकानि कर्माङ्गाणि च । तत्र लौकिकेषु प्रतीकेषु निर्णयः पूर्वत्रोक्तः । अत्र कर्माङ्गेषु समुच्चययाथाकाम्ये विचार्येते । तत्र कर्माणि कर्माङ्गाणि समुच्चित्यैवानुष्ठेयतया प्रयोगविधिप्रापितानि । तथा चाङ्गतन्त्रत्वादङ्गावबद्धोपासनानामपि समुच्चयनियमः ।

ग्रहं गृहीत्वा स्तोत्रस्याऽऽरम्भ इत्यादिवन्नहि । श्रूयते सहभावोऽत्र याथाकाम्यं ततो भवेत् ।।७६।।

(आदितः श्लोक संख्या-२६४)

(इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः)

तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

(१३८) पुरुषार्थाधिकरणम् ।।१।।

क्रत्वर्थमात्मविज्ञानं स्वतन्त्रं वाऽऽत्मनो यतः । देहातिरेकमज्ञात्वा न कुर्यात्क्रतुगं ततः ।।१।।

---

५. सिद्धान्त—अंगों की भाँति अंगाश्रित उपासनाओं में सहभाव का नियम नहीं है। अतः 'ग्रहं गृहीत्वा चमसं बोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति' इत्यादि वाक्य में ग्रह, स्तोत्र और शंसनादि का जैसे पौर्वापर्य निश्चित रहने के कारण सहभाव नियत न रहने के कारण उसका अनुष्ठ न साधक की इच्छा पर आधारित है, वह यथेच्छ विकल्प और समुच्चयरूप में उन उपासनाओं का अनुष्ठान कर सकता है।

(तृतीय अध्याय – तृतीय पाद समाप्त)

तृतीय अध्याय—चतुर्थ पाद

इस पाद में निर्गुण ब्रह्मविद्यागत अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग साधनों का विचार किया गया है। पहले गुणोपसंहारनिरूपण द्वारा परापर ब्रह्मविद्या का फल निश्चित किया गया था, अब इस पाद में कर्मनिरपेक्ष उस विद्या में पुरुषार्थसाधनत्व बतलाने के लिए उसके बहिरंग साधन यज्ञादि और अन्तरग साधन शम-दमादि एवं श्रवणादि का निरूपण किया जाता है। इस प्रकार पूर्व पाद के साथ इस पाद की एकविद्याविषयकत्वरूप संगति है।

(१३८) पुरुषार्थाधिकरण

१. सङ्गति—कर्मांग विद्या के प्रसंग को लेकर ब्रह्मज्ञान में कर्मांगत्व का प्रश्न उठाकर समाधान देने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ होता है, इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी प्रसंग संगति है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकुर्यात्स्तुतमनुशंसति" इत्यादौ यथा ग्रहस्तोत्रशंसनादीनां नियतः पौर्वापर्येण सहभावः श्रुतो न तथोपासनेषु श्रूयते । तस्माद्विकल्प-समुच्चययोर्याथाकाम्यम् ।।३६।।

(इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पाद)

* * *

तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे प्रथमाधिकरणमारचयति—

आत्मनो देहादिव्यतिरेकज्ञानमन्तरेण परलोकगामित्वानिश्चयाज्ज्योतिष्टोमादिप्रवृत्तिरेव न स्यादिति क्रतुषु प्रवर्तनत्वेनोपनिषदमात्मतत्त्वज्ञानं कर्माङ्गम् ।

नाद्वैतधीः कर्महेतुर्हन्ति प्रत्युत कर्म सा । आचारो लोकसंग्राही स्वतन्त्रा ब्रह्मधीस्ततः ॥२॥

(१३९) परामर्शाधिकरणम् ॥२॥

(प्रथमवर्णकम्)

नास्त्यूर्ध्वरेताः किं वाऽस्ति नास्त्यसावविधानतः । वीरघातो विधेः क्लृप्तावन्धपङ्ग्वादिगा स्मृतिः ॥३॥

---

२. विषय—इस अधिकरण में औपनिषद् आत्मज्ञान का विचार किया गया है।

३. संशय—क्या आत्मज्ञान कर्ता द्वारा कर्म में प्रवेशकर पुरुषार्थ का साधक है अथवा स्वतंत्र ही पुरुषार्थ का साधन है ?

४. पूर्वपक्ष—देहातिरिक्त आत्मा को माने तथा जाने विना कोई भी यागादि कर्म नहीं करता, अतः आत्मज्ञान कर्म के अंगरूप में पुरुषार्थ का साधक माना गया है।

५. सिद्धान्त—इस स्वतन्त्र औपनिषद् आत्मज्ञान से मोक्ष मिलता है, यह आत्मज्ञान अपना फल मोक्ष देने में कर्मादि की अपेक्षा नहीं रखता। ज्ञान की उत्पत्ति में कर्म और उपासना सहायक हो सकते हैं, किन्तु उत्पन्न आत्मज्ञान स्वतन्त्र ही मोक्ष देने में समर्थ है। ब्रह्मज्ञानियों द्वारा यागादि कर्मों का अनुष्ठान लोकसंग्रहार्थ किया जाता है, वह ज्ञान का उपकारक नहीं है।

(१३९) परामर्शाधिकरण

(प्रथम वर्णक)

१. सङ्गति—पहले संन्यास आश्रम के सद्भाव में जो प्रमाण दिया गया था, वह विधि के अभाव में कैसे सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार आक्षेप संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—संन्यास आश्रम की वैधता का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—संन्यास आश्रम शास्त्रविहित हैं अथवा नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—सन्यास आश्रम का विधान नहीं है। इसके विपरीत 'वह देवताओं का हत्यारा माना जाता है जो अग्नि का उद्वास कर देता है' ऐसा निषेधवचन भी मिलता है। और यदि स्मृति

इति प्राप्ते ब्रूमः—द्विविधं देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानम्—परलोकगामिकर्त्रात्मविज्ञानमेकम्, द्वितीयं ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानं चेति तत्र कर्त्रात्मज्ञानस्य प्रवर्तकत्वेऽपि नाद्वैतब्रह्मतत्त्वज्ञान प्रवर्तकम्। प्रत्युत क्रियाकारकफलनिषेधेन निवर्तकमेव। ननु तत्त्वविदामपि जनकादीनां कर्मप्रवृत्तिलक्षण आचारो दृश्यते। बाढम्। लोकसंग्रहार्थमयमाचारः स्यात्। यदि तत्त्वविदामपि मुक्तये कर्माण्यनुष्ठेयानि स्युः कथं तर्हि प्रजादिवैयर्थ्यश्रुतिरुपपद्यते। "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" (बृ० ४-४-२२) इति। आत्मतत्त्वस्वरूपस्य लोकस्यापरोक्षत्वे सत्यनात्मलोकसाधनभूतायाः प्रजाया वैयर्थ्यं श्रूयते। एवं "किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे" इत्याद्युदाहरणीयम्। तस्मादात्मतत्त्वज्ञानं स्वतन्त्रं पुरुषार्थसाधनम्, न तु कर्माङ्गम् ॥१॥

द्वितीयाधिकरणस्य प्रथमवर्णकमारचयति—

पूर्वाधिकरणे—स्वतन्त्रमात्मविज्ञानमित्युक्तम्। तस्य चाऽऽत्मविज्ञानस्योर्ध्वरेतः स्वाश्रमेषु सुलभत्वादाश्रमसद्भावश्चिन्त्यते। तत्र नास्त्यूर्ध्वरेताः—इति प्राप्तम्। कुतः? विध्यभावात्। छान्दोग्ये—"त्रयो धर्मस्कन्धाः। यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः। तप एव द्वितीयः। ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः।" (छा० २-२३-१) इत्यत्र यज्ञाद्युपलक्षितगार्हस्थ्यस्य, तपःशब्दलक्षितवानप्रस्थत्वस्य, नैष्ठिकब्रह्मचर्यस्य, परामर्शमात्रं गम्यते, न तु विधिरुपलभ्यते। न चापूर्वार्थत्वेन विधिः

अस्त्यपूर्वविधेः क्लृप्तेर्वीरहाऽनग्निको गृही । अन्धादेः पृथगुक्तत्वात्स्वस्थानां श्रूयते विधिः ॥४॥

(द्वितीयवर्णकम्)

लोककाम्याश्रमी ब्रह्मनिष्ठामर्हति वा न वा । यथावकाशं ब्रह्मैव ज्ञातुमर्हत्यवारणात् ॥५॥

में कहीं संन्यास का विधान है तो वह अन्धे, पगु इत्यादि के लिए है क्योंकि वे कर्म करने में समर्थ नहीं हैं।

५. सिद्धान्त—गार्हस्थ्य की भाँति संन्यास आश्रम का भी विधान शास्त्रों में मिलता है। विधि का श्रवण न होने पर भी अपूर्व अर्थ के रूप में विधि की कल्पना की जा सकती है। और 'वीरहा' इत्यादि जो दोष कहे गये हैं वह तो उपसन्नाग्नि गृहस्थ के लिए है। अन्धे आदि अपङ्ग के लिए पृथक् से संन्यास की बात कही है। अतः स्वस्थ त्रैवर्णिक के लिए विधि सुनी जाती है, जैसा कि 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा परिव्रजेत्' ऐसा जाबालश्रुति में वचन मिलता है।

(द्वितीय वर्णक)

१. सङ्गति—पूर्वोक्त रीति से आक्षेप होने पर इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है।

२. विषय—इस अधिकरण में संन्यास आश्रम की वैधता का विचार किया गया है।

३. संशय—लोककामी आश्रमी ब्रह्मनिष्ठ हो सकता है या नहीं ?

कल्पयितुं शक्यः। 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते' इत्यग्न्युद्वासनलक्षितस्य गार्हस्थ्यपरित्यागस्य निन्दितत्वात्। "चत्वारश्चाश्रमाः" (म० स्मृ० १२-९७) इति स्मृतिस्तु गार्हस्थ्यधर्मानधिकृतान्धपङ्ग्वादिविषया भविष्यति। न ह्यन्धस्याऽऽज्यावेक्षणोपेते कर्मण्यधिकारोऽस्ति। नापि पङ्गोर्विष्णुक्रमाद्युपेते कर्मण्यधिकारः। तस्मात्—चक्षुरादिपाटवयुक्तस्याऽऽत्मज्ञानोपयुक्त ऊर्ध्वरेता आश्रमो नास्ति।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अस्त्यूर्ध्वरेता आश्रमः। विध्यश्रवणेऽप्यपूर्वार्थत्वेन विधेः कल्पयितुं शक्यत्वात्। न च वीरघातदोषः। उत्सन्नाग्निगृहस्थविषयत्वाद्वीरहत्यायाः। यत्त्वन्धादिविषयत्वं स्मृतेरुक्तम्। तदसत्। "अथ पुनरव्रती व्रती वा, स्नातकोऽस्नातको वा, उत्सन्नाग्निरनग्निको वा, यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" (जाबा० ४) इति गार्हस्थ्यानाधिकृतानां पृथक्संन्यासाविधानात्। न च चक्षुरादिपाटववतामाश्रमान्तरविधिः कल्पनीयः। जाबालश्रुतौ प्रत्यक्षविध्युपलम्भात्। "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्" जाबा० ४) इति। तस्मादस्त्याश्रमान्तरम्।

(द्वितीयवर्णकम्)

द्वितीयवर्णकमारचयति—

"त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यत्राऽऽश्रमानाधिकृत्य "सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति" इत्याश्रमानुष्ठायिनां पुण्यलोकमभिधाय "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति मोक्षसाधनत्वेन ब्रह्मनिष्ठा प्रतिपाद्यते। सेयं ब्रह्मनिष्ठा पुण्यलोककामिनि आश्रमिणोऽपि संभाव्यते। आश्रमकर्माण्यनुष्ठाय यथावकाशं ब्रह्मनिष्ठायाः सुकरत्वात्। न हि 'लोककामी ब्रह्म न जानीयात्' इति निषेधोऽस्ति। तस्मादस्ति

अनन्यचित्तता ब्रह्मनिष्ठासौ कर्मठे कथम् । कर्मत्यागी ततो ब्रह्मनिष्ठामर्हति नेतरः ॥६॥

(१४०) स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥३॥

स्तोत्रं रसतमत्वं किं ध्येयं वा गुणवर्णनात् । जुहूरादित्य इत्यादाविव कर्माङ्गसंस्तुतिः ॥७॥
भिन्नप्रकरणस्थत्वानाङ्गविध्येकवाक्यता । उपासीतेतिविध्युक्तेर्ध्येयं रसतमादिकम् ॥८॥

---

४. पूर्वपक्ष—किसी भी आश्रम में रहने वाला व्यक्ति आश्रमकर्म सम्पन्नकर अवकाश मिलते ही ब्रह्मचिन्तन कर सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। और लोककामी ब्रह्म को नहीं जान सकता, ऐसा निषेधवचन कहीं भी नहीं है। अतः सभी आश्रमियों में ब्रह्मनिष्ठा हो सकती है।

५. सिद्धान्त—समस्त व्यापारों का परित्यागकर अनन्यचित्त से ब्रह्म में समाप्ति को ब्रह्मनिष्ठा कहते हैं, ऐसी ब्रह्मनिष्ठा कर्मशूर में सम्भव नहीं है। कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग परस्पर विरोधी होने के कारण कर्मत्यागी में ही ब्रह्मनिष्ठा होती है, दूसरों में नहीं।

(१४०) स्तुतिमात्राधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में अनुष्ठेय स्मृति होने के कारण संन्यास आश्रम को विधेय कहा था, वैसे ही यहाँ पर रसतमत्वादि अङ्गाश्रित होने के कारण 'इयमेव जुहूरादित्यः' इत्यादि श्रुति स्तुतिमात्र के लिए है; इसप्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में उद्गीथ आदि उपासना का विचार किया गया है।

३. संशय—'रसों में सर्वश्रेष्ठ रस यह है जो अष्टम उद्गीथ है' इस वाक्य द्वारा उद्गीथ उपासनाओं में कर्माङ्ग उद्गीथ की स्तुति की गयी है अथवा गुण का विधान है?

४. पूर्वपक्ष—इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक आहवनीय' इस वाक्य द्वारा जुह्वादि स्तुति की भाँति रसतमत्वादि वाक्य भी कर्माङ्ग उद्गीथ की स्तुति के लिए आया है।

५. सिद्धान्त—भिन्न प्रकरणस्थ होने से अङ्गविधि के साथ एकवाक्यता नहीं है। 'उपासीत' इस वाक्य से उपासना का विधान किया गया है, उस विधि की सन्निधि में रसतमत्वादि गुण चिन्तन के लिए विहित है, वह स्तुतिमात्र नहीं है।

सर्वस्याऽऽश्रमिणो ब्रह्मनिष्ठा।

इति प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मनिष्ठा नाम सर्वव्यापारपरित्यागेनानन्यचित्ततया ब्रह्मणि समाप्तिः। न चासौ कर्मशूरे संभवति। कर्मानुष्ठानत्यागयोः परस्परं विरोधात्। तस्मात्कर्मत्यागिन एव ब्रह्मनिष्ठा ॥२॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

उद्गीथावयवस्योंकारस्य रसतमत्वादयो गुणाः श्रूयन्ते—"स एष रसानां रसतमः परमः" (छा० १-१-३) इत्यादिना। तद्रसतमत्वादिकमोंकारस्य स्तुतिः, न तु ध्यातव्यम्। यथा "इयमेव जुहूरादित्यः, कूर्मः—स्वर्लोक" इत्यादौ कर्माङ्गभूतानां जुह्वादीनामादित्यादिरूपेण स्तुतिः, तथा रसतमत्वादिगुणैरोंकारस्य स्तुतिः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—विषमो दृष्टान्तः। 'जुहूरादित्यः' इत्यादिकं जुहूविधिप्रकरणे पठितत्वात्स्तोत्रमस्तु रसतमत्वादिकं तूपनिषदि पठितत्वेन कर्मणप्रकरणपठितोद्गीथविधिनाक्येनैकवाक्यत्वाभावान्न स्तावकम्। किं तु "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" इति संनिहितेन विधिनैकवाक्यत्वाद्रसतमत्वादिकं ध्यातव्यम् ॥३॥

(१४१) पारिप्लवाधिकरणम् ।।४।।

पारिप्लवार्थमाख्यानं किंवा विद्यास्तुतिःस्तुतेः । ज्यायोऽनुष्ठानशेषत्वं तेन पारिप्लवार्थता ।।९।।
मनुर्वैवस्वतो राजेत्येवं तत्र विशेषणात् । अत्र विद्यैकवाक्यत्वभावाद्विद्यास्तुतिर्भवेत् ।।१०।।

(१४२) अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ।।५।।

आत्मबोधः फले कर्मापेक्षो नो वा, ह्यपेक्षते । अङ्गिनोऽङ्गेष्वपेक्षायाः प्रयाजादिषु दर्शनात् ।।११।।

---

(१४१) पारिप्लवाधिकरण

१. सङ्गति—पहले जैसे उद्गीथादि की स्तुति की अपेक्षा से उपास्य विषय को समर्पक मानने में श्रेष्ठत्व कहा गया था, वैसे ही उपनिषद् में आयी हुई आख्यायिकाओं को भी विद्या की स्तुति मानने की अपेक्षा पारिप्लवशेष मानना श्रेष्ठ होगा। इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त संगति है।

२. विषय—उपनिषद् के अन्तर्गत आयी हुई आख्यायिकाओं का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—'याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थी–मैत्रेयी और कात्यायनी' इत्यादि वाक्य से वेदान्त में पढ़े गये आख्यान क्या पारिप्लवार्थ हैं अथवा सन्निहित विद्या की स्तुति के लिए है ?

४. पूर्वपक्ष—आख्यानसामान्य को देखते हुए सभी आख्यानों को पारिप्लवार्थ ही मानना चाहिए जो अनुष्ठेय विद्या के शेषरूप में माने जायेंगे।

५. सिद्धान्त—प्रथम दिन 'मनुर्वैवस्वतो राजा' द्वितीय दिन 'यमो वैवस्वतो राजा' इन विशेष आख्यानों को पारिप्लवार्थ होने के कारण कर्म का शेष मान सकते हैं; किन्तु औपनिषद आख्यानों को कर्म का शेष नहीं मान सकते। अतः सन्निहित विद्या का स्तुति के लिए ये आख्यान आये हैं, इसलिए विद्या के साथ इसकी एकवाक्यता लक्षित होती है। अतः ये विद्या के स्तावक माने जाते हैं।

(१४२) अग्नीन्धनाद्यधिकरण

१. सङ्गति—औपनिषद आख्यानों को जैसे विद्या का अंग कहा, वैसे ही कर्मों को भी विद्या का अंग मानना चाहिए; इस प्रकार की दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—इस अधिकरण में विद्या में अग्निहोत्रादि कर्मों की आवश्यकता का विचार

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

"अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतु" (बृ० ४-५-१) "जनको ह वैदेह आसांचक्रे" (बृ० ४-१-१) इत्यादिकमुपनिषदि श्रूयमाणमाख्यानं पारिप्लवार्थं भवितुमर्हति । अश्वमेधयागे रात्रिषु राजानं सकुटुम्बमुपवेश्य तस्याग्रे वैदिकान्युपाख्यानान्यध्वर्युणा वक्तव्यानि । तदिदं पारिप्लवाख्यं कर्म "पारिप्लवमाचक्षीत" इति वाक्येन विहितम् । तदर्थत्वे सत्यौपनिषदाख्यानान्यनुष्ठानायोपयुज्येरन् । ज्यायोऽनुष्ठानं विद्यास्तुतेः । तस्मात्पारिप्लवार्थम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—प्रथमेऽहनि 'मनुर्वैवस्वतो राजा' द्वितीयेऽहनि 'यमो वैवस्वतो राजा' इत्याद्याख्यानानां पारिप्लवार्थानां विशेषितत्वादौपनिषदानामाख्यानानां तच्छेषत्वं न संभवति । संनिहितविद्यास्तावकत्वे तु विद्यावाक्यैरेकवाक्यता लक्ष्यते । तस्मात्–विद्यास्तावकमाख्यानम् ।।४।।

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

विमतो ब्रह्मतत्त्वावबोधः स्वफलप्रदाने स्वाङ्गभूतकर्मापेक्षः, अङ्गित्वात्, प्रयाजापेक्षदर्शपूर्णमासवत् । यद्यपि प्रथमाधिकरणे विद्यायाः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वप्रतिपादनेन कर्माङ्गत्वं निवारितम्,

अविद्यातमसोर्ध्वस्तौ दृष्टं हि ज्ञानदीपयोः । नैरपेक्ष्यं ततोऽत्रापि विद्या कर्मानपेक्षिणी ॥१२॥

(१४३) सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥६॥

उत्पत्तावनपेक्षेयमुत कर्माण्यपेक्षते । फले यथाऽनपेक्षैवमुत्पत्तावनपेक्षता ॥१३॥

यज्ञशान्त्यादिसापेक्षं विद्याजन्म श्रुतिद्वयात् । हलेऽनपेक्षितोऽप्यश्वो रथे यद्वदपेक्ष्यते ॥१४॥

किया गया है।

३. संशय—क्या ब्रह्मविद्या अपना फल मोक्ष देने के लिए कर्म की अपेक्षा करती है या नहीं करती ?

४. पूर्वपक्ष—अंगी को जैसे प्रयाजादि अंग की अपेक्षा होती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानरूप अंगी को अपने अंगभूत कर्मों की भी अपेक्षा होती ही है।

५. सिद्धान्त—तम का नाश करने में जैसे दीपक स्वतन्त्र है वैसे ही अविद्या का नाश करने में ज्ञान भी स्वतन्त्र है। अतः ब्रह्मविद्या अपना फल मोक्ष देने में कर्म को अपेक्षा नहीं रखती है, उसमें वह स्वतन्त्र है।

(१४३) सर्वापेक्षाधिकरण

१. सङ्गति—पहले कहा था कि जैसे ब्रह्मविद्या अपना फल मोक्ष देने में कर्मों की अपेक्षा नहीं रखती है, वैसे ही अपनी उत्पत्ति में भी ब्रह्मविद्या कर्मों की अपेक्षा नहीं रखेगी; इस प्रकार की दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—ब्रह्मविद्या के लिए यागादि कर्मों की स्थिति का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या ब्रह्मविद्या अपनी उत्पत्ति में स्वाश्रम कर्म की अपेक्षा रखती है, अथवा नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—अपने फल मोक्ष को देने में ब्रह्मविद्या जैसे कर्मनिरपेक्ष है, वैसे ही अपनी उत्पत्ति में भी वह कर्मनिरपेक्ष ही है।

५. सिद्धान्त—ब्रह्मविद्या अपनी उत्पत्ति में यागादि बाह्यकर्म और शम-दमादि आभ्यन्तर कर्म की अपेक्षा रखती है, क्योंकि श्रुति और स्मृति इसमें प्रमाण है। हल खींचने में अश्व की अपेक्षा नहीं

तथाऽप्यङ्गित्वं न निवारितम्। अतो नासिद्धो हेतुः। अतः कर्माङ्गापेक्षो बोधः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'विमतं ब्रह्मज्ञानं स्वविरोधिनिवर्त्यनिवर्तनेऽन्यापेक्षं न भवति, प्रकाशत्वात्, दीपवत्, घटज्ञानवच्च।' यत्त्वङ्गित्वमुक्तम्। तत्र कर्मणः कीदृशमङ्गत्वमभिप्रेतम्, किं प्रयाजादिवत्फलोपकार्यङ्गत्वम्, उतावघातादिवत्स्वरूपोपकार्यङ्गत्वम्। नाऽऽद्यः। मुक्तेः कर्मजन्यत्वेनानित्यत्वप्रसक्तेः। द्वितीये साध्यविकलो दृष्टान्तः। अवघातादौ प्रयाजादीनां स्वरूपोपकार्यङ्गत्वाभावात्। तस्मात्—उत्पन्ना विद्या स्वफलदाने कर्माणि नापेक्षते ॥५॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

ब्रह्मविद्या स्वफले यथा कर्माणि नापेक्षते, तथा स्वोत्पत्तावपि। अन्यथा क्वचिदपेक्षते क्वचिन्नापेक्षत इत्यर्धजरतीयन्यायः प्रसज्येत।

इति प्राप्ते ब्रूमः—नार्धजरतीयत्वदोषोऽत्रास्ति। योग्यतावशेनैकस्यैव कार्यविशेषेष्वपेक्षानपेक्षयोरुपपत्तेः। यथा लाङ्गलवहनेऽनपेक्षितोऽप्यश्वो रथवहनेऽपेक्ष्यते, तद्वत्। न च विद्यायाः स्वोत्पत्तौ कर्मापेक्षायां प्रमाणाभावः। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" (बृ० ४-४-२२) इति प्रवृत्तिरूपाणां वेदानुवचनादीनां विविदिषोत्पादनद्वारा बहिरङ्गसाधनत्वावग-

(१४४) सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥७॥

सर्वाशनविधिः प्राणविदोऽनुज्ञाऽथवाऽऽपदि । अपूर्वत्वेन सर्वान्नभुक्तिर्धातुर्विधीयते ॥१५॥
श्वाद्यन्नभोजनाशक्तेः शास्त्राच्चाभोज्यवारणात् । आपदि प्राणरक्षार्थमेवानुज्ञायतेऽखिलम् ॥१६॥

भी हो, किन्तु रथ खींचने में उसकी अपेक्षा होती ही है, वैसे ही ब्रह्मविद्या अपना फल देने में भले ही कर्मनिरपेक्ष हो, किन्तु अपनी उत्पत्ति में यागादि कर्मों की और शमादि साधनों की भी अपेक्षा रखती ही है।

(१४४) सर्वान्नानुमत्यधिकरण

१. सङ्गति—पहले जैसे 'विविदिषन्ति' इस वर्तमान क्रिया में भी पञ्चम लकार को कल्पनाकर विधि मानी गयी थी, वैसे ही 'इस प्राणोपासक के लिए कुछ भी अभक्ष्य नहीं है' इस वर्तमान लकार में अपूर्वता को देखते हुए क्यों नहीं विधि की कल्पना की जाय; ऐसी आक्षेप संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—इस अधिकरण में प्राणोपासक के लिए भक्ष्याभक्ष्य का विचार किया गया है।

३. संशय—विद्या के अंगरूप में जैसे शम-दमादि विहित हैं, क्या वैसे ही प्राण उपासक के लिए सर्वान्नभक्षण का विधान है अथवा वैसा वाक्य स्तुत्यर्थ है ?

४. पूर्वपक्ष—आपत्तिकाल में अपूर्वरूप से प्राण उपासक के लिए सर्वान्नभक्षण का विधान ही है।

५. सिद्धान्त—विधायक शब्द का अभाव होने के कारण प्राणोपासक के लिए सर्वान्नभक्षण की अनुज्ञा नहीं है और न मनुष्य के लिए श्वादि अन्नभक्षण सम्भव ही है। शास्त्र ने तो अभक्ष्य भक्षण का निषेध भी किया है। आपत्ति काल में प्राणरक्षा के लिए तो सभी को जैसा-तैसा अन्न खाने की अनुज्ञा दे दी है, उससे प्राणोपासक के लिए सर्वान्नभक्षण की विधि नहीं मान सकते।

सात्। "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति" (बृ० ५-४-२३) इति निवृत्तिरूपाणां शमदमादीनां विद्योत्पत्तिकालेऽप्यनुवर्तमानतयाऽन्तरङ्गसाधनत्वावगमात्। तस्मात्-यज्ञादीनि शमादीनि च विद्या स्वोत्पत्तावपेक्षते ॥६॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

प्राणविद्यायां श्रूयते—"न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति" (छा० ५-२-१) इति। प्राणोपासकेन भोक्तुमयोग्यं न किंचिदस्तीत्यर्थः। तत्र सर्वान्नभोजनस्य मानान्तरेणाप्राप्तत्वात्प्राणोपासकस्य तद्विधीयते।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"यदिदं किंचाऽऽश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यः, तत्तेऽन्नम्' (बृ० ६-१-१४) इति श्वादिभोज्यमन्नमुपासकस्य भोज्यतया विधेयम्। न च तद्विधातुं शक्यम्। यतो भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रं सर्वान्नाशनविधौ बाध्येत। तस्मादापदि यावता प्राणरक्षा भवति तावन्मात्रं निषिद्धमप्यनुज्ञायते। अत एव चाक्रायणो मुनिः प्राणात्यये प्राप्ते पर्युषितान्गजतत्पालकोच्छिष्टान्कुल्माषान्भक्षयित्वा शूद्रभाण्डस्थमुदकं न पपौ। तत्रोभयत्र कारणं चावोचत्—"न वा अजीविष्यमिमानखादन्" इति। "कामो म उदपानम्" (छा० १-१०-४) इति च। तस्मादापदि सर्वान्नभक्षणमभ्यनुज्ञातम् ॥७॥

(१४५) आश्रमकर्माधिकरणम् ।।८।।

विद्यार्थमाश्रमार्थं च द्विः प्रयोगोऽथवा सकृत् । प्रयोजनविभेदेन प्रयोगोऽपि विभिद्यते ।।१७।।
श्राद्धार्थभुक्त्या तृप्तिः स्याद्विद्यार्थेनाऽऽश्रमस्तथा अनित्यनित्यसंयोग उक्तिभ्यां खादिरे मत ।।१८।

(१४६) विधुराधिकरणम् ।।९।

नास्त्यनाश्रमिणो ज्ञानमस्ति वा नैव विद्यते । धीशुद्धयर्थाऽऽश्रमित्वस्य ज्ञानहेतोरभावतः ।।१९।।

(१४५) आश्रमकर्माधिकरण

१. सङ्गति—जिस प्रकार शास्त्रान्तर के साथ विरोध आने के कारण सर्वान्नत्ववचन स्तुति के लिए है, वैसे ही 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इस नित्यत्वश्रुति के साथ विरोध आने के कारण यागादि को विद्या का साधन बतलाने वाला वचन भी स्तावकमात्र है; इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त संगति है।

२ विषय—आश्रम कर्मों की स्थिति का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—विविदिषा वाक्य में यज्ञादि आश्रम कर्म का विधान विद्या के लिए है अथवा आश्रम-धर्मपालन के लिए है ?

४. पूर्वपक्ष—विविदिषा वाक्य द्वारा विहित यागादि कर्मों का अनुष्ठान दो बार करने से आश्रम धर्म की रक्षा और विद्या की प्राप्ति दोनों ही हो जायेगी।

५ सिद्धान्त—पितरों की प्राप्ति के लिए श्राद्ध में ब्राह्मण भोजन करता है, उससे ब्राह्मण की भी तृप्ति हो जाती है; वैसे ही विद्या के लिए अनुष्ठित कर्मों से आश्रम धर्म भी सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में यागादि का अनुष्ठान दो बार करने की आवश्यकता नहीं है। आश्रमधर्मपालन के लिए यागादि का अनुष्ठान नित्यकर्म है और विद्या के अंगरूप से अनुष्ठान काम्य कर्म है, जो उभयविध यज्ञादि का अनुष्ठान एक बार करने से ही पूर्ण हो जाएगा। जैसे खदिर काष्ठ का यूप बनाने पर याग की सिद्धि होती है और वीर्यकाम भी सिद्ध होता है, दो वचन के बल से एक ही खदिर यूप में नित्यत्व और काम्यत्व दोनों ही हैं; वैसे ही विविदिषा वाक्य में विहित यागादि का अनुष्ठान एक बार करने से ही उक्त दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जायेंगे।

(१४६) विधुराधिकरण

१ सङ्गति——आश्रम कर्म को आप ने पहले विद्या का सहकारी कहा था, तब तो आश्रम-विधुर व्यक्ति का विद्या में अधिकार नहीं रह जाता है; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह

अष्टमाधिकरणमारचयति—

यानि यज्ञादीनि विद्याहेतुत्वेन विविदिषावाक्ये विहितानि, तान्येवाऽऽश्रमधर्मत्वेन पूर्वकाण्डे विहितानि। तेषां प्रयोजनद्वंविध्याद्द्विरनुष्ठानम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यथा श्राद्धार्थभोजनेन तृप्तिर्नान्तरीयकतया सिध्यति, तथा विद्यार्थमनुष्ठितैः कर्मभिराश्रमधर्मः सिध्यतु। न च विद्याहेतूनां काम्यत्वादाश्रमधर्माणां च नित्यत्वात्सकृत्प्रयोगे नित्यानित्यसंयोगविरोध इति वाच्यम्। वचनद्वयबलेनैकस्य कर्मण आकारद्वयोपपत्तेः। यथा "खादिरो यूपो भवति। खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत" इत्यत्र वचनद्वयबलेनैकस्य नित्यत्वं काम्यत्वं च तद्वत् तस्मादुभयविधानां यज्ञादीनां सकृदेव प्रयोगः ।।८।।

नवमाधिकरणमारचयति—

पूर्वाश्रमं परिसमाप्य केनापि कारणेनोत्तरमाश्रममप्रतिपन्नोऽनाश्रमी, स्नातकविधुरादिः। तस्य

अस्त्येव सर्वसंबन्धिजपादेश्चित्तशुद्धितः । श्रुता हि विद्या रैक्वादेराश्रमे त्वतिशुद्धता ॥२०॥
(१४७) तद्भूताधिकरणम् ॥१०॥
अवरोहोऽस्त्याश्रमाणां न वा, रागात्स विद्यते । पूर्वधर्मश्रद्धया वा यथाऽऽरोहस्तथेच्छिकः ॥२१॥
रागस्यातिनिषिद्धत्वाद्विहितस्तैव धर्मतः । आरोहनियमोक्त्यादेर्नावरोहोऽस्त्यशास्त्रतः ॥२२॥

अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—इस अधिकरण में आश्रमविधुर जपादि कर्मों की स्थिति पर विचार किया गया है।

३. संशय—द्रव्य आदि साधनों से हीन होने के कारण विधुरों का ब्रह्मविद्या में अधिकार है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—यागादि सहकारो कर्मों का अभाव होने से विधुरों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।

५. सिद्धान्त—अनाश्रमीरूप से वर्तमान विधुरों का भी ब्रह्म विद्या में अधिकार है। रैक्व आदि जो आश्रमविधुर थे, उनमें भी ब्रह्मवित्त्व बतलाने वाली श्रुति देखो जाती है। ऐसे व्यक्ति के द्वारा किए गये जपादि से चित्त शुद्ध हो जाने पर उन्हें भो ब्रह्मविद्या प्राप्त हो जाती है। एतावता आश्रमित्व व्यर्थ नहीं है क्योंकि श्रुति और स्मृति लिङ्ग से अनाश्रमी की अपेक्षा आश्रमी श्रेष्ठ माना गया है।

(१४७) तद्भूताधिकरण

१. सङ्गति—पहले अनाश्रम कर्म को विद्या का हेतु कहा था, तब तो उत्तमाश्रम से पूर्व आश्रम के प्रति लौटे हुए व्यक्ति के द्वारा किए गए कर्म भी विद्या के हेतु होने लग जायेंगे, इस प्रकार की दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—आरूढ़पतित व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—उत्तम आश्रम से निम्न आश्रम में आने की व्यवस्था शास्त्र में है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—पूर्व आश्रम के प्रति राग अथवा पूर्वाश्रमधर्म के प्रति श्रद्धा के कारण स्वेच्छया उत्तमाश्रम से निम्न आश्रम में आ सकता है। आरोह की भाँति अवरोह में भो कोई अवैधता नहीं होनी चाहिए।

५. सिद्धान्त—राग अत्यन्त निषिद्ध है। आरोह धर्म के कारण विहित है, किन्तु अवरोह का

तत्त्वज्ञान न संभाव्यते। बुद्धिशुद्धिहेतोराश्रमित्वस्याभावात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—संभवत्यनाश्रमिणोऽपि ज्ञानम्। आश्रमनिरपेक्षस्य जपादेर्बुद्धिशुद्धिहेतुत्वात्। जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः। (म० स्मृ० २-८७) इति स्मृतेः। श्रुतश्च संवर्गविद्यायामधिकारोऽनाश्रमिणो विवाहार्थिनो रैक्वस्य। एवमाश्रमरहिता गार्ग्यादय उदाहार्याः। न चैवं सत्याश्रमवैयर्थ्यम्। शुद्धयतिशयहेतुत्वात्। तस्मादनाश्रमिणोऽपि संभवत्येव ज्ञानम् ॥९॥

दशमाधिकरणमारचयति—

"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्" (जाबा० ४) इत्याश्रमाणामारोहो यथेच्छाधीनो भवति, तथा 'पारिव्राज्याद्वनस्थः' इत्याद्यवरोहोऽपि क्वचिद्रागवशात्क्वचित्पूर्वाश्रमधर्मश्रद्धावशाच्च युक्तः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—रागस्तावन्मिथ्याज्ञानमूलत्वादतिनिषिद्धः। न च पूर्वाश्रमधर्मे श्रद्धा युज्यते। उत्तराश्रमिणं प्रत्यविहितत्वेन धर्मत्वाभावात्। न हि यो येनानुष्ठातुं शक्यते श्रद्धोयते च स तस्य

(१४८) आधिकारिकाधिकरणम् ॥११॥

भ्रष्टोर्ध्वरेतसो नास्ति प्रायश्चित्तमथास्ति वा । अदर्शनोक्तेर्नास्त्येव व्रतिनो गर्दभः पशुः ॥२३॥
उपपातकमेवैतद्व्रतिनो मधुमांसवत् । प्रायश्चित्ताच्च संस्काराच्छुद्धिर्यत्नपरं वचः ॥२४॥

विधान शास्त्रों में नहीं है और न आरोह की भाँति अवरोह में शिष्टाचार प्रमाण ही है। अतः उत्तमाश्रम से निम्नाश्रम में आने का विधान शास्त्र में है ही नहीं।

(१४८) अधिकारिकाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार आरूढपतित व्यक्ति के द्वारा किया गया कर्म विद्या का हेतु नहीं है, तब तो आरूढ़पतित के द्वारा किया गया प्रायश्चित्त भी विद्या का हेतु नहीं हो सकेगा; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२ विषय—आरूढ़पतित व्यक्ति के द्वारा किये गये प्रायश्चित्त का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—प्रमाद से आरूढ़पतित व्यक्ति के लिए प्रायश्चित्त का विधान है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—आरूढ़पतित व्यक्ति के लिए प्रायश्चित्त का विधान नहीं है और जो अधिकारप्रसङ्ग में अवकीर्ण (पतित) ब्रह्मचारी के लिए नैर्ऋत गर्दभ का आलभनरूप प्रायश्चित्त कहा है, वह भी नैष्ठिक के लिए नहीं है। इसके विपरीत 'आरूढ़ ब्रह्मचारी यदि नैष्ठिक धर्म से पतित होता हो तो उसका पुनः प्रायश्चित्त मैं नहीं देखता जिससे वह आत्महत्यारा शुद्ध हो सके' इस प्रकार नैष्ठकों के लिए प्रायश्चित्त नहीं, किन्तु उपकुर्वाण के लिए प्रायश्चित्त है।

५. सिद्धान्त—जिस प्रकार उपकुर्वाण के लिए मधु-मांसभक्षणादि उपपातक है जिसका प्रायश्चित्त करने से वह शुद्ध हो जाता है, वैसे ही उर्ध्वरेता ब्रह्मचारी के लिए गुरुपत्नी आदि से अन्यत्र प्रवृत्ति होती हो तो वह उपपातक ही माना गया है, महापातक नहीं। अतः प्रायश्चित और पुनः संस्कार से उसकी शुद्धि हो जाती है। और जो 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' इत्यादि कहा है वह तो कठिन प्रायश्चित्त के कारण दुष्कर है, इस अभिप्राय से कहा गया है। ब्रह्मचारी के लिए गर्दभालभन जिस

धर्मो भवति। किं तर्हि ? यो यं प्रति विहितः, स तस्य धर्मः। किं च "ततो न पुनरेयात्" इत्यवरोह-निषेधेनाऽऽरोहो नियम्यते। न चाऽऽरोहवदवरोहेऽपि शिष्टाचारो विद्यते। तस्मान्नास्त्यवरोहः ॥१०॥

एकादशाधिकरणमारचयति—

नैष्ठिकब्रह्मचर्यादूर्ध्वरेतस्त्वं प्राप्तस्य पुनः स्त्रीसङ्गेन भ्रष्टस्य प्रायश्चित्तं नास्ति।

"आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा॥" इति प्रायश्चित्तादर्शनवचनात्। 'अथ यो ब्रह्मचारी स्त्रीमुपेयात्, सः गर्दभं पशुमालभेत" इत्यस्ति प्रायश्चित्तमित्युच्यते। तन्न। तस्य व्रतिविषयत्वात्। उपकुर्वाणकाख्यो यो वेदाध्ययनाङ्गत्वेन ब्रह्मचर्यव्रतमनुतिष्ठति, तद्विषयमिदं प्रायश्चित्तवचनम्। तस्मादूर्ध्वरेतस्त्वाद्भ्रष्टस्य नास्ति प्रायश्चित्तम्।

इति प्राप्ते ब्रूम—यथोपकुर्वाणकस्य मधुमांसभक्षणमुपपातकमिति प्रायश्चित्तं पुनःसंस्कारो विद्यते, तद्वदूर्ध्वरेतसोऽपि गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र प्रवृत्तिरुपपातकमेव न तु महापातकम्। ततः प्राय-श्चित्तात्पुनःसंस्काराच्च शुद्धिर्भवति। यदि महापातकेष्वपरिगणितत्वेनोपपातकत्वमाश्रित्य प्रायश्चि-त्तमुच्यते, तर्ह्यदर्शनवाक्यस्य का गतिरिति चेत्। 'यत्नपरं तद्वाक्यम्' इति ब्रूमः। अत एव 'प्राय-श्चित्तं न पश्यामि' इत्याह, न तु नास्ति' इति। प्रायश्चित्तं तु गर्दभपशुरेव। ब्रह्मचारित्वस्य समान-

(१४९) बहिरधिकरणम् ॥१२॥

शुद्धः शिष्टैरुपादेयस्त्याज्यो वा दोषहानितः । उपादेयोऽन्यथा शुद्धिः प्रायश्चित्तकृता वृथा ॥२५॥
आमुष्मिक्येव शुद्धिः स्यात्ततः शिष्टास्त्यजन्ति तम् । प्रायश्चित्तादृष्टिवाक्यादशुद्धिस्त्वैहिकीष्यते ॥२६॥

(१५०) स्वाम्यधिकरणम् ॥१३॥

अङ्गध्यानं याजमानमार्त्विजं वा यतः फलम् । ध्यातुरेव श्रुतं तस्माद्याजमानमुपासनम् ॥२७॥

प्रकार प्रायश्चित है वैसे ही वानप्रस्थ और संन्यासी के पतन होने पर भी प्रायश्चित्त का विधान है। दीक्षा भेद होने पर द्वादशरात्र पर्यन्त कृच्छ्र का आचरण वानप्रस्थ के लिए और सोमवृद्धि को छोड़कर अन्य वृक्षों का संवर्धन करना रूप प्रायश्चित्त भिक्षु के लिए कहा है।

(१४९) बहिरधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार आरूढ़पतित का प्रायश्चित्त हो जाने के बाद उसके द्वारा किया गया कर्म जैसे विद्या का साधन बतलाया गया, वैसे ही उसके साथ शिष्टाचारात्मक कर्म भी विद्या का साधन हो जायेगा; इस प्रकार की दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. विषय—आरूढ़पतित के शुद्ध हो जाने पर उसके साथ शिष्टाचार कैसा होना चाहिए, इसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—आरूढ़पतित का प्रायश्चित्त हो जाने पर उसके साथ किया गया श्रवणादिक विद्या का साधन है या नहीं?

४. पूर्वपक्ष—प्रायश्चित्त व्यर्थ न हो जाय इसके लिए उस कृतप्रायश्चित्त आरूढ़पतित के साथ किया गया श्रवणादि विद्या का साधन है, ऐसा मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—आरूढ़पतित के द्वारा किया गया प्रायश्चित्त उसके परलोक का साधन तो हो जाता है, किन्तु शिष्टपुरुष उसे त्याग ही देते हैं। 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' इस वाक्य से कथित ऐहिक अशुद्धि तो उसमें बनी ही रहती है, अतः शिष्टपुरुष उसके साथ व्यवहार नहीं करते।

(१५०) स्वाम्यधिकरण

१. सङ्गति—'कृतप्रायश्चित्तः संव्यवहार्यः' इस उत्सर्ग का अतिशयनिन्दाकथन से जैसे नैष्ठिकादि में बाध हो जाता है, वैसे ही अङ्गकर्म का कर्ता ही तदाश्रित उपासना का कर्ता होता है,

---

त्वात्। तथा वनस्थपरिव्राजकयोरपि भ्रंशे प्रायश्चित्तं स्मर्यते—'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत्। भिक्षुर्वनस्थवत्सोमवृद्धिवर्जम्' इति। कक्षवृद्धिर्वनवासः। सोमवृद्धिरपि स एव ॥११॥

द्वादशाधिकरणमारचयति—

पूर्वोक्तप्रायश्चित्तापादितशुद्ध्यन्यथानुपपत्त्या कृतप्रायश्चित्तस्य शिष्टैः सह व्यवहारोऽस्ति।

इति प्राप्ते ब्रूमः—आमुष्मिकशुद्धिसद्भावेऽपि प्रायश्चित्तादर्शनवचनादैहिकशुद्ध्यभावाच्छिष्टैरेष न व्यवहार्यः ॥१२॥

त्रयोदशाधिकरणमारचयति—

अङ्गावबद्धेषूपासनेषु यजमान एवानुष्ठाता, नर्त्विजः। ध्यातुः फलश्रवणात्। फलं तु यजमानस्यैवोचितम्। स्वामित्वात्। तस्मात्फलिनो यजमानस्यैव ध्यातृत्वम्।

ब्रूयादेवंविदुद्गातेत्यृत्विजं वा स्फुटं श्रुतम् । क्रीतत्वादृत्विजस्तेन कृतं स्वामिकृतं भवेत् ॥२८॥

(१५१) सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥१४।

अविधेयं विधेयं वा मौनं तन्न विधीयते। प्राप्तं पाण्डित्यतो मौनं ज्ञानवाच्युभयं यतः ॥२९॥

इस उत्सर्ग का यजमान से भिन्न कर्ता के लिए फलश्रवण से बाध मानना चाहिए । इस प्रकार की दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—कर्तृत्व-भोक्तृत्व में एकाधिकरण्य का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या अङ्गकर्म की भाँति अङ्गाश्रित उपासना यजमान को करनी चाहिए अथवा ऋत्विक् को ?

४. पूर्वपक्ष—उपासना का फल उपासक को ही मिलता है, इस नियम के अनुसार अंगाश्रित उपासना का अनुष्ठान यजमान को ही करना चाहिए।

५. सिद्धान्त—एवंविदुद्गाता ब्रूयात्' इस वाक्यशेष में उद्गाता को स्पष्टरूप से उपासक कहा गया है जो उचित ही है। यजमान के द्वारा सम्पूर्ण कर्मानुष्ठान के लिए ऋत्विक् खरीदा हुआ होता है, अतः ऋत्विजों के द्वारा किया गया कर्म यजमान का ही माना जाता है। इसलिए ऋत्विक् के द्वारा किए हुए कर्म की भाँति उसके द्वारा अनुष्ठित उपासना का फल भी यजमान को ही मिलता है।

(१५१) सहकार्यन्तरविध्यधिकरण

१. सङ्गति—'यां वै काञ्चन यज्ञे' इत्यादि वाक्यशेष से जैसे कर्माङ्ग उपासना ऋत्विक् के द्वारा अनुष्ठेय कही गयी, वैसे ही 'अथ मुनिः' इत्यादि वाक्यशेष से विधिविरह दशा में विधि नहीं माननी चाहिए; ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—मौन में अनुष्ठेयत्व का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—'बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथमुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' इस वाक्य में मौन का विधान है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'अथ मुनिः' इस वाक्य में विधि विभक्ति का अभाव होने के कारण मुनि और पण्डित शब्द ज्ञानार्थक है और पाण्डित्य से ही मौन भी प्राप्त है, अतः मौन का विधान नहीं है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"एवंविदुद्गाता ब्रूयात्" इति वाक्यशेष उद्गातुरुपासकत्वं स्पष्टं श्रूयते। युक्तं चैतत् । ऋत्विजामशेषकर्मानुष्ठानाय यजमानेन क्रीतत्वात् । तस्मादृत्विग्भिः कृतं यजमानेनैव कृतमिति फलित्वोपपत्तेरुपासनमृत्विजां कर्म ॥१३।

चतुर्दशाधिकरणमारचयति—

कहोलब्राह्मणे श्रूयते—"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्, बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः" (बृ० ३-५-१) इति । अस्यायमर्थः—यस्माद्ब्रह्मभावः परमपुरुषार्थस्तस्माद्ब्रह्म बुभूषुरुपनिषत्तात्पर्यनिर्णयरूपं पाण्डित्यं निःशेषेण संपाद्य बालवन्नीरागद्वेषत्वेन युक्तोऽसंभावनानिराकरणाय युक्तीरनुचिन्तयन्नवस्थातुमिच्छेत् । ततः पाण्डित्यबाल्ये निःशेषेण संपाद्याथ मुनिरिति । तत्र 'भवेत्' इति विध्यश्रवणान्मुनित्वं न विधेयम् । न च विधिः कल्पयितुं शक्यः । पाण्डित्यशब्देन प्राप्तस्य मौनस्यापूर्वार्थत्वाभावात् । पण्डितस्य विदुषो भावः पाण्डित्यमिति ज्ञानवाचकोऽयं शब्दः । तथा मुनिशब्दोऽपि । 'मन ज्ञाने, इत्यस्माद्धातोस्तन्निष्पत्तेः । तस्मात्प्राप्तस्य मौनस्य नैव विधिकल्पनम् ।

निरन्तरज्ञाननिष्ठा मौनं पाण्डित्यतः पृथक् । विधेयं तद्भेददृष्टिप्राबल्ये तन्निवृत्तये ॥३०॥

(१५२) अनाविष्काराधिकरणम् ॥१५॥

बाल्यं वयः कामचारो धीशुद्धिर्वा प्रसिद्धितः । वयस्तस्याविधेयत्वे कामचारोऽस्तु नेतरा ॥३१॥
मननस्योपयुक्तत्वाद्भावशुद्धिर्विवक्षिता । प्रत्यन्तानुपयोगित्वाद्विरुद्धत्वाच्च न द्वयम् ॥३२॥

---

५. सिद्धान्त—ब्रह्म साक्षात्कार के लिए बाल्य एवं पाण्डित्य की भाँति विद्या के सहकारीरूप में मौन का विधान मानना चाहिए । निरन्तर ज्ञाननिष्ठा को मौन कहते हैं, जो पाण्डित्य से पृथक् है। प्रबल भेददृष्टि की निवृत्ति के लिए मौन को विधेय मानना उचित ही होगा, चाहे वहाँ पर विधि विभक्ति का श्रवण नहीं भी हो तो भी मौन में विधि मानना ही उचित है । छान्दोग्य श्रुति में चारों आश्रमों का उल्लेख मिलता है, उसमें मौन शब्द से संन्यास आश्रम की ही सिद्धि होती है ।

(१५२) अनाविष्काराधिकरण

१. सङ्गति—जैसे मौन शब्द की प्रसिद्धि निदिध्यासन अर्थ में है, इस प्रसिद्धि के कारण अप्राप्त मौन का भी विधान माना गया, वैसे ही भावशुद्ध अर्थ में प्रसिद्ध बाल्य शब्द को भी विधेयक मानना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—बालसुलभ यथेच्छाचरण का विचार इस अधिकरण में किया गया ।

३ संशय—'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इत्यादि वाक्य में बाल्य शब्द से बालसुलभ यथेच्छाचरण का विधान है अथवा भावशुद्धि का ?

४. पूर्वपक्ष—नियमाभाव के कारण यथेच्छाचरण का ही विधान उक्त वाक्य में मानना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—'अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः' ऐसी श्रुति और 'अन्धवज्जड़वच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्' ऐसी स्मृति के कारण ज्ञान, अध्ययन एवं धार्मिकत्वादि के द्वारा अपने को ख्यापित न करते हुए ज्ञानी को रहना चाहिए। संन्यासी का जीवन ज्ञानाभ्यासप्रधान होता है, उसी अर्थ में भावशुद्धचर्थक बाल्य शब्द का प्रयोग हुआ है, यथेच्छाचार अर्थ में नहीं क्योंकि संन्यासी के लिए शौचादि धर्मविधायक शास्त्र उपलब्ध है. उसके साथ यथेच्छाचार का विरोध होने लग जायेगा । अतः भावशुद्धि ही बाल्य है, यथेच्छाचार नहीं ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—पूर्वोक्तस्य पाण्डित्यस्य पुनर्मुनिशब्देनाभिधाने, प्रयोजनाभावान्निरन्तरज्ञाननिष्ठाऽपूर्वार्थो मुनिशब्देन विवक्षितः । ततः 'तिष्ठासेत् । इति पदानुवृत्त्या विधिर्लभ्यते । अस्ति च ज्ञाननैरन्तर्येण प्रयोजनम् । प्रबलभेदवासनावासितस्य तन्निवृत्त्यर्थत्वात् । तस्मान्निदिध्यासनात्मकं मौनं विधेयम् ॥१४॥

पञ्चदशाधिकरणमारचयति—

"बाल्येन तिष्ठासेत्" इत्यत्र बालस्यभावो बाल्यमिति प्रसिद्धचा वयो भवेत् । अथ तस्य विध्यनर्हत्वम्, तर्हि बालस्य कर्मेति व्युत्पत्त्यां कामचारादिकमस्तु । सर्वथा धीशुद्धिर्न बाल्यम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—पाण्डित्यमौनाख्ययोः श्रवणनिदिध्यासनयोर्मध्ये मननं विधेयत्वेन श्रुत्या विवक्षितम् । तस्य च भावशुद्धिरुपयुक्ता, रागद्वेषमानापमानादिदोषग्रस्तत्वेन बहिष्प्रवृत्तिमपरित्यज्य मन्तुमशक्यत्वात् । बालस्य कर्मेति व्युत्पत्तिस्तु यथेच्छाचारे भावशुद्धौ च समाना । वयःकामचारौ तु मननस्यात्यन्तमनुपयुक्तौ । प्रत्युत विरोधिनौ । मूढस्य बहिष्प्रवृत्तस्य वा मनसो मननविनाशकत्वात् । तस्मात्—भावशुद्धिरेव बाल्यं नेतरदुभयम् ॥१५॥

(१५३) ऐहिकाधिकरणम् ।।१६।।

इहैव नियतं ज्ञानं पाक्षिकं वा नियम्यते । तथाऽभिसंधेर्यज्ञादिः क्षीणो विविदिषाजनौ ।।३३।।
असति प्रतिबन्धेऽत्र ज्ञानं जन्मान्तरेऽन्यथा । श्रवणायेत्यादिशास्त्राद्वामदेवोद्भवादपि ।।३४।।

(१५४) मुक्तिफलाधिकरणम् ।।१७।।

मुक्तिः सातिशया नो वा फलत्वाद्ब्रह्मलोकवत् । स्वर्गवच्च नृभेदेन मुक्तिः सातिशयैव हि ।।३५।।

---

(१५३) ऐहिकाधिकरण

१. सङ्गति—संन्यास से लेकर बाल्यपर्यन्त साधनों को बतला देने के बाद तत्साध्य विद्योत्पत्ति के विचार के लिए हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है।

२ विषय—श्रवणादि में विद्यासाधनत्व की सिद्धि पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—क्या श्रवणादि के अनुष्ठान से इसी जन्म में ज्ञान की उत्पत्ति होती है अथवा जन्मान्तर में ?

४. पूर्वपक्ष—'इहैव मे विद्या जायताम्' इस कामना से ज्ञान के साधन श्रवणादि में प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः विद्योत्पत्ति ऐहिक ही है।

५. सिद्धान्त—प्रतिबन्ध के न रहने पर श्रवणादि के अनुष्ठान से इस जन्म में ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु प्रतिबन्ध के रहने पर जन्मान्तर में भी ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव है, अन्यथा "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' इत्यादि शास्त्र असङ्गत हो जायेंगे। वामदेवादि को मातृगर्भ में ही ज्ञान होना सुना जाता है, अतः श्रवणादि के द्वारा इस जन्म में और जन्मान्तर में भी ज्ञान का होना सम्भव है।

(१५४) मुक्तिफलाधिकरण

१. सङ्गति—जैसे साधनों के उत्कर्ष और अपकर्ष से उसके फल विद्या में उत्कर्ष अपकर्ष देखे

षोडशाधिकरणमारचयति—

श्रवणमनननिदिध्यासनेष्वनुष्ठीयमानेष्वस्मिन्नेव जन्मनि ज्ञानं जायत इति नियम्यते, न त्विह वा जन्मान्तरे वेति कालविकल्पः । कुतः ? श्रवणादिषु प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य ज्ञानेच्छाया ऐहिकज्ञानोत्पत्तिविषयत्वात् । 'इहैव मे विद्या जायताम्' इत्यभिसंधाय पुरुषः प्रवर्तते । न चादृष्टफलानां यज्ञादीनां तत्साधकत्वेन स्वर्गवज्जन्मान्तरे ज्ञानोत्पत्तिः शङ्कनीया । श्रवणादिप्रवृत्तेः प्रागेव विविदिषामुत्पाद्य यज्ञादीनां चरितार्थत्वात् । तस्मात्—ऐहिकत्वेन ज्ञानोत्पत्तिर्नियम्यते ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—असति प्रतिबन्धे ज्ञानमिहैव संभवति । सति तु प्रतिबन्धेऽत्रानुष्ठितैः श्रवणादिभिर्जन्मान्तरे ज्ञानमुत्पद्यते । प्रतिबन्धश्च बहुविधः श्रूयते—

"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः" (क० १-२-७) इति । न च पूर्वजन्मानुष्ठितैः श्रवणादिभिर्जन्मान्तरे ज्ञानोत्पत्तिर्न दृष्टचरी । वामदेवस्य गर्भ एवावस्थितस्य ज्ञानोत्पत्तिश्रवणात् । 'गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच" (ऐ० २-५) इति श्रुतेः । तस्मात्—इह वा जन्मान्तरे वा ज्ञानोत्पत्तिः ।।१६।।

सप्तदशाधिकरणमारचयति—

यथा ब्रह्मलोकस्य फलं सालोक्यसारूप्यसामीप्यसार्ष्टिभेदेन चतुर्विधम् । तत्र सार्ष्टिर्नाम

ब्रह्मैव मुक्तिर्न ब्रह्म क्वचित्सातिशयं श्रुतम् । अत एकविधा मुक्तिर्वेधसो मनुजस्य च ॥३६॥

(आदितः श्लोक संख्या—३३०)

(इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः)

॥ चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः ॥

(१५५) आवृत्त्यधिकरणम् ॥१॥

श्रवणाद्याः सकृत्कार्या आवर्त्या वा सकृद्यतः । शास्त्रार्थस्तावता सिध्येत्प्रयाजादौ सकृत्कृतेः ॥१॥

जाते हैं, वैसे ही विद्या के फल मोक्ष में भी कुछ उत्कर्षादि विशेष नियम मानना चाहिए; ऐसो दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—इस अधिकरण में ज्ञानसाध्य मुक्ति पर विचार किया गया है।

३. संशय—क्या विद्या की भाँति मुक्ति में भी विशेष नियम है अथवा नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—साधनसामर्थ्यविशेष के कारण जैसे ज्ञान में वैशिष्ट्य आता है, वैसे ही विद्या के फल मोक्ष में भी विशेष नियम मानना चाहिए। अतः स्वर्गादि की भाँति मुक्ति भी सातिशय ही है।

५. सिद्धान्त—मुक्ति ब्रह्मस्वरूप ही है, ब्रह्म कहीं भी सातिशय नहीं सुना गया है। अतः चतुर्मुख ब्रह्मा अथवा मनुष्य की मुक्ति एक जैसी ही होती है, उस मुक्ति में कोई भेद नहीं है।

इसके साथ ही वैयासिकन्यायमाला तृतीय अध्याय की कैलास पीठाधीश्वर आचार्य म० म० श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि द्वारा रचित ललिता व्याख्या पूर्ण हो गयी।

[तृतीय अध्याय—चतुर्थ पाद समाप्त]

॥ चतुर्थ अध्याय—प्रथम पाद ॥

इस प्रकार सगुण विद्या में गुणभेद के कारण उसके फल में भेद मान भी लिया जाय, फिर भी निर्गुण विद्या के फल विदेहमोक्ष मे कोई भेद नहीं है, यह अर्थ सिद्ध हुआ।

यह चतुर्थ अध्याय सगुण एवं निर्गुण विद्या के फलविशेषनिर्णय के लिए कहा गया है, इसके प्रथम पाद में जीवनमुक्ति का निरूपण हैं।

पिछले अध्याय में परापर विद्यारूप साधन वैराग्य के सहित तत्त्वंपदार्थशोधनपूर्वक प्रायशः बतला दिया गया, अब इस अध्याय में उसके फल को बतलाने के लिए कार्यकारणभाव सङ्गति के कारण यह अध्याय आरम्भ होता है।

(१५५) आवृत्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में जैसे मोक्ष में विशेष का अभाव कहा गया, वैसे ही उसके साधन श्रवणादि में भी विशेषाभाव क्यों न माना जाय; इस प्रकार की दृष्टान्त सङ्गति के कारण

चतुर्मुखेन समानैश्वर्यत्वम् । यथा वा "कर्मभूयस्त्वात्फलभूयस्त्वम्" इति न्यायेन स्वर्गो बहुविधः। तथा मुक्तिरपि फलत्वाविशेषात्सातिशया।

इति प्राप्ते ब्रूमः—मुक्तिर्नाम निजसिद्धब्रह्मस्वरूपमेव, न तु स्वर्गवदागन्तुकं किंचिद्रूपमिति वक्ष्यते। ब्रह्म चैकविधत्वेन श्रुतं निर्णीतं च। तस्माच्चतुर्मुखस्य मनुजस्य वा मुक्तिरेकविधैव। सालोक्यादिविशेषस्तु जन्यरूपत्वादुपासनातारतम्येन सातिशयो भविष्यति । मुक्तिस्तु न तादृशीति सिद्धम्। १७॥

तृतीयोऽध्यायस्य समाप्तः

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—

"सकृत्कृते कृतः शास्त्रार्थः" इति न्यायेन श्रवणादीनां प्रयाजादिवत्सकृतेवानुष्ठानम्।

आवर्त्या दर्शनान्तास्ते तण्डुलान्तावघातवत् । दृष्टेऽत्र संभवत्यर्थे नादृष्टं कल्प्यते बुधैः ॥२॥

(१५६) आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥२॥

ज्ञात्रा स्वान्यतया ब्रह्म ग्राह्यमात्मतयाऽथवा । अन्यत्वेन विजानीयाद्दुःख्यदुःखिविरोधतः ॥३॥
औपाधिको विरोधोऽत आत्मत्वेनैव गृह्यताम् । गृह्णन्त्येवं महावाक्यैः स्वशिष्यान्ग्राहयन्ति च ॥४॥

यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—इस अधिकरण में ब्रह्मज्ञान के साधन श्रवणादि का विचार किया गया है।

३. संशय—क्या श्रवणादि जीवन में एक ही बार करना चाहिए अथवा बार-बार करना चाहिए।

४. पूर्वपक्ष—प्रयाजादि जिस प्रकार अदृष्टार्थ हैं ऐसे ही श्रवणादि भी अदृष्टार्थ मान लेने पर एक बार ही उनका अनुष्ठान करना चाहिए, इतने मात्र से शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

५. सिद्धान्त—तण्डुल अवघात का फल त्वक्‌विमोक जिस प्रकार दृष्ट होता है, ऐसे ही श्रवणादि का फल तत्त्वसाक्षात्कार भी दृष्ट ही है। अतः तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्त श्रवणादि का अनुष्ठान बार-बार करते रहना चाहिए। यहाँ पर दृष्ट फल सम्भव है, इसलिए विद्वान् लोग अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करते हैं।

(१५६) आत्मत्वोपासनाधिकरण

१. सङ्गति—ब्रह्मात्मैक्य के निश्चित होने पर उसके साक्षात्कार के लिए श्रवणादि की आवृत्ति सार्थक हो सकती है, किन्तु ब्रह्म और आत्मा की एकता ही सिद्ध नहीं है; ऐसी आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—इस अधिकरण में श्रवणादि आवृत्ति के प्रकार पर विचार किया गया है।

३. संशय—क्या श्रवणादि की आवृत्ति के समय अहंभाव से स्वात्मत्वेन ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए अथवा भिन्नत्वेन चिन्तन करना चाहिए?

४. पूर्वपक्ष—मुमुक्षु साधक को ब्रह्म का चिन्तन भिन्नत्वेन करना चाहिए क्योंकि जीव और ब्रह्म सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व, सुखित्व-दुःखित्वादि विरुद्ध धर्म के आश्रित हैं। नाहं ईश्वरः इस प्रत्यक्ष से भी विरोध आता है।

५. सिद्धान्त—पूर्वपक्षी के द्वारा कहा गया विरोध औपाधिक है, अतः ब्रह्म का चिन्तन आत्मत्वेन ही करना चाहिए। इसीलिए महावाक्य द्वारा आचार्य अपने शिष्यों को जीव-ब्रह्म का अभेदरूप से

इति प्राप्ते ब्रूमः—उक्तन्यायस्यादृष्टफलविषयत्वात् । अत्र ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणस्य दृष्टफलस्य संभवात् । 'दृष्टे संभवत्यदृष्टं न कल्पनीयम्' इति न्यायेनावघातवत्फलसिद्धिपर्यन्तं श्रवणाद्यावर्तनीयम् ॥१॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

यच्छास्त्रप्रतिपाद्यं ब्रह्म तज्जीवेन ज्ञात्रा स्वव्यतिरिक्ततया ग्रहीतव्यम् । दुःख्यदुःखिनोजीवब्रह्मणोरेकत्वविरोधात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'वस्तुतो ब्रह्मस्वरूपस्यैव सतो जीवस्यान्तःकरणोपाधिकृतो दुःखित्वादिसंसारधर्मः' इति वियत्पादे (ब्र० सू० अ० २ पा० ३) जीवविचारे प्रपञ्चितम् । अतो वास्तवविरोधाभावादात्मत्वेनैव ब्रह्म गृह्यताम् । अत एव "अहं ब्रह्मास्मि" (बृ० १-४-१०) "अयमात्मा ब्रह्म"

(१५७) प्रतीकाधिकरणम् ॥३॥

प्रतीकेऽहंदृष्टिरस्ति न वा, ब्रह्माविभेदतः । जीवप्रतीकयोर्ब्रह्मद्वाराऽहंदृष्टिरिष्यते ॥५॥
प्रतीकत्वोपासकत्वहानिर्ब्रह्मैक्यवीक्षणे । अवीक्षणे तु भिन्नत्वान्नास्त्यहंदृष्टियोग्यता ॥६॥

(१५८) ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् ॥४॥

किमन्यधीर्ब्रह्मणि स्यादन्यस्मिन्ब्रह्मधीरुत । अन्यदृष्ट्योपासनीयं ब्रह्मात्र फलदत्वतः ॥७॥

उपदेश करते हैं। विरुद्धधर्माश्रयत्व औपाधिक है और प्रत्यक्ष मिथ्याभेद को विषय करता है। अतः जीव और ब्रह्म का अभेद पारमार्थिक होने के कारण अभेदभाव से ही ब्रह्म चिन्तनीय है।

(१५७) प्रतीकाधिकरण

१. सङ्गति—जैसे जीव ब्रह्म का अभेद होने के कारण 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूप में ही ब्रह्म का ध्यान करना पिछले अधिकरण में कहा गया है, वैसे ही ब्रह्म का विकार होने के कारण मन आदि प्रतीक भी ब्रह्मरूप हैं, अतः उनका चिन्तन भी ब्रह्मरूप से ही करना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त सङ्गति पूर्व अधिकरण के साथ इसकी है।

२. विषय—प्रतीकोपासना इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या मन आदि प्रतीकों में अहंदृष्टि करनी चाहिए अथवा नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादि प्रतीकों में अहंदृष्टि करनी चाहिए क्योंकि जीव और प्रतीक ब्रह्म द्वारा अभिन्न हो ही जाते हैं।

५. सिद्धान्त—ब्रह्म और आत्मा का अभेददर्शन होने पर प्रतीक में प्रतीकत्व और उपासक में उपासकत्व समाप्त हो जाता है, किन्तु ब्रह्मदर्शन से पूर्व जीव और प्रतीक में भेद रहने के कारण अहंदृष्टि की योग्यता ही उसमें नहीं है। अतः प्रतीक में अहंभाव नहीं करना चाहिए।

(१५८) ब्रह्मदृष्ट्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त प्रतीक उपासनाओं में ही कुछ अन्य बातों का विचार करना भी अभीष्ट है, अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की एकविषयत्व सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में भी पूर्वोक्त प्रतीक उपासनाओं पर ही विचार किया गया है।

(मा० २) इत्यादिमहावाक्यैस्तत्त्वविद आत्मत्वेनैव ब्रह्म गृह्णन्ति । तथा "तत्त्वमसि" (छा० ६-१६-३) इत्यादिमहावाक्यैः स्वशिष्यान्ग्राहयन्त्यपि । तस्मादात्मत्वेनैव ब्रह्म ग्रहीतव्यम् ॥२॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

"मनो ब्रह्मेत्युपासीत" (छा० ३-१८-१) "आदित्यो ब्रह्म" (छा० ३-१९-१) इत्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्या संस्कृतं मनआदित्यादिप्रतीकमुपास्यम् । तच्च प्रतीकमुपासकेन स्वात्मतया ग्रहीतव्यम् । प्रतीकस्य ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मणा सह भेदाभावात् । जीवस्य च ब्रह्माभिन्नत्वात् । ब्रह्मद्वारोपास्यप्रतीकस्योपासकजीवस्य च भेदाभावेनैकत्वसंभवात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यदि ब्रह्मकार्यस्य प्रतीकस्य ब्रह्मैक्यमवलोक्यते, तदा प्रतीकस्वरूपमेव विलीयते । घटस्य मृद्रूपेणैक्ये विलयदर्शनात् । यदि च जीवस्य ब्रह्मैक्यमवलोकयेत, तदा जीवत्वापाये सत्युपासकत्वं हीयेत । अथोपास्योपासकस्वरूपलोभेन कार्यकारणैक्यं जीवब्रह्मैक्यं च न पर्यालोच्येत, तदा गोमहिषवदत्यन्तभिन्नयोः प्रतीकोपासकयोर्नास्त्येकत्वयोग्यता । तस्मात्प्रतीके नास्त्यहंदृष्टिः ॥३॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

"मनो ब्रह्म" इत्यत्र ब्रह्मस्वरूपमनोदृष्टिं ब्रह्मणि कृत्वा ब्रह्मोपासनीयम् । ब्रह्मणः फल-

उत्कर्षेतिपरत्वाभ्यां ब्रह्मदृष्ट्याऽन्यचिन्तनम् । अन्योपास्त्या फलं दत्ते ब्रह्मातिथ्याद्युपास्तिवत् ॥८॥

(१५६) आदित्यादिमत्यधिकरणम् ॥५॥

आदित्यादावङ्गदृष्टिरङ्गे रव्यादिधीरुत । नोत्कर्षो ब्रह्मजत्वेन द्वयोस्तेनैच्छिकी मतिः ॥९॥
आदित्यादिधियाऽङ्गानां संस्कारे कर्मणः फले । युज्यतेऽतिशयस्तस्मादङ्गेष्वर्कादिदृष्टयः ॥१०॥

---

३. संशय—क्या ब्रह्म में प्रतीकदृष्टि करना चाहिए या प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—प्रतीकदृष्टि से उपासना किये जाने पर ब्रह्म फल देता है, अतः प्रतीकदृष्टि से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए ।

५. सिद्धान्त—निकृष्ट में उत्कृष्टदृष्टि करनी चाहिए, इस लौकिक न्याय की अपेक्षा रखते हुए ब्रह्मदृष्टि से प्रतीक की उपासना करनी चाहिए । ऐसा करने पर निकृष्ट का उत्कर्ष बढ़ता है, अन्यथा प्रत्यवाय का प्रसङ्ग आ जायेगा । अतिथि आदि की उपासना ब्रह्मदृष्टि से करने पर जैसे ब्रह्म फल देता है, वैसे ही ब्रह्मदृष्टि से प्रतीक की उपासना करने पर भी ब्रह्म ही फल देगा क्योंकि वह सर्वाध्यक्ष है ।

(१५६) आदित्यादिमत्यधिकरण

१. सङ्गति—जैसे सम्पूर्ण जगत् का कारण होने से और अपहतपाप्मत्वादि गुणों के साथ सम्बन्ध होने से ब्रह्म आदित्यादि प्रतीक की अपेक्षा उत्कृष्ट है, वैसे ही सिद्ध आदित्यादि की अपेक्षा साध्यरूप उद्गीथादि फल देने में उत्कृष्ट है; अतः पूर्वोत्तर अधिकरणों में दृष्टान्त सङ्गति है ।

२. विषय—छान्दोग्य उपनिषद् में कही उद्गीथादि उपासनाओं का इस अधिकरण में विचार किया गया ।

३. संशय—क्या आदित्यादि में उद्गीथदृष्टि करनी चाहिए या उद्गीथादि में आदित्यादि दृष्टि करनी चाहिए ?

४. पूर्वपक्ष—आदित्य और उद्गीथ दोनों ही ब्रह्मजन्य है, अतः इनमें उत्कर्षापकर्षभाव नहीं है, इसलिए उपासक अपनी इच्छानुसार कर सकता है ।

५. सिद्धान्त—आदित्यादिदृष्टि से उद्गीथ अङ्ग का संस्कार हो जाने पर उसमें अतिशय आ

प्रवत्वेनोपास्यताहंत्वात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मण उत्कृष्टत्वाद्दृष्टिर्निकृष्टे मनसि कर्तव्या । लोके हि निकृष्टे भृत्ये राजदृष्टिं कृत्वा राजवत्तं पूजयन्ति । किं च "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यत्र ब्रह्मशब्द इतिशब्दपरत्वेन दृष्टिलक्षको भविष्यति । मनःशब्दश्चानितिपरत्वान्मुख्यार्थवाची । यथा 'स्थाणुं चौर इति प्रत्येति' इत्यत्र स्थाणुशब्दो मुख्यार्थवाची चोरशब्दो दृष्टिलक्षकस्तद्वत् । न चाब्रह्मस्वरूपस्य मनस उपास्यत्वे ब्रह्मण फलप्रदत्वानुपपत्तिः । अब्रह्मस्वरूपस्याप्यतिथेरुपासने । यथा कर्माध्यक्षत्वेन फलं प्रयच्छति, तद्वदत्रापि संभवात् । तस्मादब्रह्मणि प्रतीके ब्रह्मधीः कर्तव्या ॥४॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

"य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" (छा० १-३) इत्यत्राऽऽदित्यदेवतां प्रतीकं कृत्वा कर्माङ्गभूतोद्गीथदृष्टिः कर्तव्या । विपर्ययेण वा कर्माङ्ग आदित्यदृष्टिः । आदित्योद्गीथयोरुभयो-र्ब्रह्मकार्यत्वेन पूर्वाधिकरणोत्कर्षन्यायानवतारेण नियामकाभावात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—आदित्यदृष्ट्या कर्माङ्गं संस्कर्तव्यम् । तथा सति दृष्टिभिः संस्कृतस्य

(१६०) आसीनाधिकरणम् ॥६॥

नास्त्युतासनस्य नियम उपास्तावुत विद्यते । न देहस्थितिसापेक्षं मनोऽतो नियमो न हि ॥११॥
शयनोत्थानगमनैर्विक्षेपस्यानिवारणात् । धीसमाधानहेतुत्वात्परिशिष्यत आसनम् ॥१२॥

(१६१) एकाग्रताधिकरणम् ॥७॥

दिग्देशकालनियमो विद्यते वा न विद्यते । विद्यते वैदिकत्वेन कर्मस्वेतस्य दर्शनात् ॥१३॥

जाता है और उद्गीथ कर्माङ्ग भी है। तथा कर्म से फलप्राप्ति प्रसिद्ध ही है। अतः उद्गीथादि अङ्गों में आदित्यादिदृष्टि करना ही युक्तियुक्त है।

(१६०) आसीनाधिकरण

१. सङ्गति—अङ्गाश्रित उपासना की भाँति अङ्ग अनाश्रित उपासनाओं में भी आसन का नियम नहीं है, इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में उपासना के समय आसननियम पर विचार किया गया है।

३. संशय—क्या जो कर्माङ्ग उपासनायें नहीं हैं अपितु स्वतन्त्र हैं, ऐसी उपासनायें बैठे-बैठे, खड़े रहकर अथवा लेटकर किसी भी प्रकार से कर सकते हैं या नियमपूर्वक बैठ करके ही कर सकते हैं?

४. पूर्वपक्ष—मनोव्यापार होने के कारण उपासना में शरीरस्थिति का कोई नियम नहीं है, साधक अपनी इच्छानुसार ऐसी उपासनायें कर सकते हैं।

५. सिद्धान्त—सोकर या लेटकर उपासना करने से निद्रा आने की आशङ्का रहेगी, खड़े-खड़े या चलते हुए उपासना करने पर विक्षेप होता रहेगा। अतः बैठकर ही उपासना करनी चाहिए, उसी में मन की स्थिरता रह सकती है।

(१६१) एकाग्रताधिकरण

१. सङ्गति—स्वतन्त्र उपासनाओं में जिस प्रकार आसन का नियम पिछले अधिकरण में कहा गया है, वैसे ही उनमें दिगादि का भी नियम क्यों न माना जाय; इस प्रकार पूर्वाधिकरण के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में अङ्ग अनाश्रित उपासनाओं में दिगादि के नियम का विचार किया गया है।

३. संशय—क्या पूर्वोक्त उपासनाओं में आसन की भाँति दिगादि का नियम है या नहीं?

कर्मणः फलातिशयसम्भवात्। विपर्यये तु कर्माङ्गैरादित्यदेवतायां संस्कृतायां किं तव फलिष्यति। न ह्यक्रियात्मिका देवता फलस्य साधनं भवति। अन्यथा देवतायाः साधारणत्वेन यजमानायजमानयोः फलसाम्यप्रसङ्गात्। तस्मादङ्गेष्वादित्यादि दृष्टयः कर्तव्याः ॥५॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

'आसीनेनैवोपासितव्यम्' इति नास्ति नियमः। मानसव्यापारं प्रति देहस्थितिविशेषस्यानुपयुक्तत्वात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—परिशेषादासनं नियम्यते। तथा हि—न तावच्छयानेनोपासितुं शक्यम्। अकस्मान्निद्रयाऽभिभूतेः संभवात्। नाप्युत्थितेन गच्छता वा। देहधारणमार्गनिश्चयादिव्यापारेण चित्तस्य विक्षिप्तत्वात्। अत आसीनेनैवोपासितव्यम् ॥६॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

"ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि" इति दिग्नियमः। "प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत"

ऐकाग्र्यस्याविशेषेण दिगादिर्न नियम्यते । मनोनुकूल इत्युक्तेर्दृष्टार्थं देशभाषणम् ॥१४॥

(१६२) आप्रायणाधिकरणम् ॥७॥

उपास्तीनां यावदिच्छमावृत्तिः स्यान्नुताऽऽमृति । उपास्यर्थाभिनिष्पत्तेर्यावदिच्छं न तूपरि ॥१५॥
अन्त्यप्रत्ययतो जन्म भाव्यतस्तत्प्रसिद्धये । आमृत्यावर्तनं न्याय्यं सदा तद्भावबाक्यतः ॥१६॥

४. पूर्वपक्ष—प्रायशः वैदिक अनुष्ठानों में दिशा और काल का नियम देखा जाता है, अतः अङ्गानवबद्ध उपासनओं में दिगादि का नियम होना ही चाहिए।

५. सिद्धान्त—जिस देश और काल में मन की एकाग्रता सुलभ हो, ऐसे देश एवं काल में उक्त उपासनाओं का अनुष्ठान करना चाहिए। इसीलिए तो श्वेताश्वतर उपनिषद् 'मनोनुकेले न तु चक्षुपीडने' ऐसा कहा गया है। अतः अङ्गानवबद्ध उपासनाओं में दिशा एवं काल का नियम नहीं है।

(१६२) आप्रायणाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त रीति से उपासनाओं में दिगादि नियम न होने की भाँति उपासना में आवृत्ति का श्रवण भी नहीं है, अतः जीवनपर्यन्त उसका आवर्तन आवश्यक नहीं है; इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में उपासना के आवर्तन पर विचार किय गया है।

३. संशय—कादाचित्क प्रत्ययाभ्यास अदृष्ट द्वारा उपास्यसाक्षात्कार का हेतु है अथवा निरन्तर प्रत्ययाभ्यास उपास्यसाक्षात्कार का कारण है?

४. पूर्वपक्ष—अहंग्रह उपासनाओं का कुछ काल अभ्यास करके विराम दे देवें।

५. सिद्धान्त—जीवन के अन्तिम क्षण तक अहंग्रह उपासना का अनुष्ठान करते रहना चाहिए क्योंकि श्रुति एवं स्मृति में मरण काल में भी ऐसे चिन्तनों को बनाये रखने का उपदेश किया गया है।

देशनियमः। "अथ यदपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति" इति कालनियमः। तदेतन्नियमत्रयं यथा कर्मणि दृश्यते, तथोपासनेऽपि द्रष्टव्यम्। वैदिकत्वस्याविशेषात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—ऐकाग्र्यं हि ध्यानस्य प्रधानं साधनम्। न च तस्य दिगादिनियत्या कश्चिद-तिशयो विद्यते। अतो नास्ति नियमः। अत एव श्रुतिर्योगाभ्यासाय प्रदेशं निर्दिशन्ती "मनोनुकूले" इत्येवाऽऽह। 'यस्मिन्देशे सौमनस्यं तत्रैव मनो युञ्ज्यात्; न तु शास्त्रेण नियमितः कश्चिद्देशोऽस्ति' इत्यर्थः। "समे शुचौ शर्कराबह्निवालुकाविवर्जिते" (श्वे० २-१०) इति योगाभ्यासाय देशविशेषः श्रूयत इति चेत्। सत्यम्। दृष्टसौकार्यार्थं तु तदिति वाक्यशेषे मनोकूलत्वविशेषणान्निश्चीयते। तस्मान्नास्ति दिगादिनियमः ॥७॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

विजातीयप्रत्ययनेननान्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाह उपास्तिशब्दार्थः। स च कियताऽपि कालेन संपद्यते। अतो यावदिच्छमावृत्तिः, न त्वामरणम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—भाविजन्मनः प्रयोजकोऽन्त्यप्रत्यय आमरणमावृत्तिमन्तरेण न सुलभः। अत एव स्मृतिः—"सदा तद्भावभावितः" (गी० ८-६) इत्याह। कथं तर्हि ज्योतिष्टोमादिकर्मणा स्वर्गं गच्छतोऽन्त्यप्रत्ययः। कर्मजन्यापूर्ववशादिति ब्रूमः। उपासनेऽप्यपूर्वमस्तीति चेत्। बाढम्। नैतावता निरन्तरावृत्तिलक्षणो दृष्टोपायः परित्याज्यो भवति। अन्यथा सर्वस्य सुखदुःखादेरपूर्वजन्यत्वेन भोजनाद्यर्थो दृष्टः प्रयत्नः परित्यज्येत। ततो दृष्टार्थोपायत्वादामरणमावर्तनं कर्तव्यम्। यद्यप्येतान्य-

(१६३) तदधिगमाधिकरणम् ॥९॥

ज्ञानिनः पापलेपोऽस्ति नास्ति वाऽनुपभोगतः । अनाश इति शास्त्रेषु घोषाल्लेपोऽस्य विद्यते ॥१७॥
अकर्त्रात्मधिया वस्तुमहिम्नैव न लिप्यते । अश्लेषनाशावप्युक्तावज्ञे घोषस्तु सार्थकः ॥१८॥

(१६४) इतरासंश्लेषाधिकरणम् ॥१०॥

पुण्येन लिप्यते नो वा लिप्यतेऽस्य श्रुतत्वतः । न हि श्रौतेन पुण्येन श्रौतं ज्ञानं विरुध्यते ॥१९॥

'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति' ऐसी श्रुति और 'यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्' इस स्मृति से उपास्य प्रत्यय का अनुवर्तन देख जाता है। अतः आमरण अहंग्रह उपासना करते रहना चाहिए।

(१६३) तदधिगमाधिकरण

१. सङ्गति—उपासकों की भाँति ज्ञानियों के लिए कर्तव्य का निर्देश नहीं है, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जा रहा है।

२. विषय—ज्ञानियों के पुण्य-पाप संश्लेष का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—ब्रह्मज्ञान हो जाने पर पूर्वोत्तर पाप के संश्लेष और विनाश होते हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' (भोगे बिना कर्म नष्ट नहीं होता, सौ कल्प बीत जाने पर भी) इस स्मृति वाक्यानुसार भोगे बिना पापकर्म का क्षय नहीं होता, ऐसी प्रसिद्धि होने के कारण ज्ञानियों में भी पापकर्म का लेप होता ही है।

५. सिद्धान्त—ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञान के उपरान्त किये हुए पाप का असंश्लेष होता है और ज्ञान से पूर्व इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में सञ्चित पाप का विनाश हो जाता है। 'नाश नहीं होता' यह उद्घोष तो अज्ञानियों के लिए सार्थक है। अकर्ता आत्मबुद्धि से और आत्मस्वरूप की महिमा से भी ज्ञानी में पापकर्म का लेप सम्भव नहीं है।

(१६४) इतरासंश्लेषाधिकरण

१ सङ्गति—जैसे ब्रह्मज्ञानियों के पूर्वपाप का विनाश और आगामी पाप का असंश्लेष कहा गया था, वैसे पुण्य का नहीं हो सकता क्योंकि श्रौतविज्ञान के साथ श्रुतिविहित पुण्यकर्म का विरोध

ष्टाधिकरणानि साधनविचारत्वात्पूर्वाध्याये योग्यानि, तथाऽपि फलप्रत्यासन्नसाधनत्वात्फलाध्याये विचारितानि ॥८॥

नवमाधिकरणमारचयति—

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इति पापाविनाशस्य सर्वशास्त्रप्रसिद्धत्वाद् ब्रह्मज्ञानिनोऽप्यस्ति पापलेपः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—तत्र तावन्निर्गुणब्रह्मात्मतत्त्वविदः पापलेपशङ्काऽपि नोदेति। नाकार्षं न करोमि करिष्यामीति कालत्रयेऽप्यकर्तृब्रह्मस्वरूपत्वेन निश्चितत्वात्। न ह्यकर्तुर्लेपं मन्दा अपि शङ्कन्ते। नापि सगुणब्रह्मविदो लेपोऽस्ति। अश्लेषविनाशयोः श्रुतत्वात्। ब्रह्मसाक्षात्कारादूर्ध्वं देहेन्द्रियव्यवहारवशात्संभावितस्य पापस्याश्लेषः श्रूयते। तद्यथा—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४-१४-३) इति। साक्षात्कारात्पूर्वं त्विह जन्मनि जन्मान्तरेषु च संचितस्य पापसंघातस्य विनाशः श्रूयते—"तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत, एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" (छा० ५-२४-३) इति। 'नाभुक्तम्' इत्यादिशास्त्रं तु सगुणनिर्गुणब्रह्मज्ञानरहितविषयम्। तस्मान्नास्तिज्ञानिनः पापलेपः ॥९॥

दशमाधिकरणमारचयति—

मा भूत्पापलेपः। पुण्यलेपस्तु विद्यते। पुण्यस्य श्रौतत्वेन श्रौतब्रह्मज्ञानेन समं विरोधाभावात्

अलेपो वस्तुसामर्थ्यात्समानः पुण्यपापयोः । श्रुतं पुण्यं पापतया तरणं च समं श्रुतम् ॥२०॥

(१६५) अनारब्धाकरणम् ॥११॥

आरब्धं न यतो नो वा संचिते इव नश्यतः । उभयत्राप्यकर्तृत्वतद्बोधौ सदृशौ खलु ॥२१॥
आदेहपातसंसारश्रुतेरनुभवादपि । इषुचक्रादिदृष्टान्तान्नैवाऽऽरब्धे विनश्यतः ॥२२॥

नहीं है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—ज्ञानियों के पुण्य-पाप के संश्लेष-विनाश का विचार इस अधिकरण किया जाता है।

३. संशय—क्या ज्ञानी का आगामी पुण्य के साथ असंश्लेष तथा उनके सञ्चित पुण्य का विनाश होता है या नहीं।

४. पूर्वपक्ष—श्रौत पुण्य का श्रौत ब्रह्मज्ञान के साथ में कोई विरोध नहीं है, अतः ज्ञानी के सञ्चित पुण्य एवं आगामी पुण्य बने रहते हैं।

५. सिद्धान्त—वस्तुसामर्थ्य के कारण पुण्य एवं पाप की स्थिति एक समान ही है, अतः ज्ञानी के पाप की भाँति सञ्चित पुण्य का भी नाश हो जाता है और आगामी पुण्य-पाप का असंश्लेष रहता है। पुनर्जन्म एवं भोग का कारण होने से पुण्य भी पाप ही कहा गया है, अतः पाप की भाँति पुण्य को भी तत्त्वज्ञानी तर जाता है, ऐसा श्रुति ने कहा है।

(१६५) अनारब्धाधिकरण

१. सङ्गति—ज्ञान के कारण से पुण्य-पाप का विनाश पिछले अधिकरणों में बतलाया गया, वह प्रारब्धकर्म से भिन्न का ही होता है; इस प्रकार उत्सर्गापवाद सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—ज्ञानियों के आरब्ध पुण्य-पाप का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या ज्ञानियों के प्रारब्ध कर्म भी तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाते हैं या नहीं?

४. पूर्वपक्ष—सञ्चित कर्म की भाँति प्रारब्ध कर्म का भी नाश बतलाना उचित है क्योंकि पूर्व की भाँति अकर्ता आत्मा का बोध ज्ञानी को यहाँ भी है ही।

५. सिद्धान्त—'उस ज्ञानी को विदेहकैवल्य प्राप्त करने में उतनी ही देर है जितनी देर तक प्रारब्ध का क्षय नहीं हो जाता' इस देहपातपर्यन्त संसारश्रुति एवं अनुभव से भी यह सिद्ध होता है

इति प्राप्ते ब्रूमः—अकर्त्रात्मवस्तुसामर्थ्यात्पापवत्पुण्येनापि न लिप्यते। सगुणज्ञानिनस्तूपासनव्यतिरिक्तं काम्यं पुण्यं पापवदधमजन्महेतुत्वात्पापसममेवेति मत्वा पापत्वेनैव दहरविद्यावाक्यशेषे श्रुतिः परामृशति—"सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते" (छा० ८·४-१) इति। अस्यायमर्थः—'सुकृतं दुष्कृतं तत्फलं च पूर्ववाक्ये यद्यदनुक्रान्तं ते सर्वे पाप्मानोऽस्मादुपासकान्निवर्तन्ते' इति। किंच "उभे उ हैवष एते तरति" (बृ० ४·४-२२) इति श्रुतिः पुण्यपापयोरुभयोर्ज्ञानिनां तरणं सममेव ब्रूते। तस्मात पापवत्पुण्येनापि न लिप्यते ॥१०॥

एकादशाधिकरणमारचयति—

ज्ञानात्पूर्वं संचिते पुण्यपापे द्विविधे—प्रारब्धे, अनारब्धे च। तयोर्द्विविधयोरप्यकर्तृत्वमात्मनः समानम्। तद्बोधश्च समः। ततोऽनारब्धवदारब्धयोरपि ज्ञानोदयसमय एव विनाशः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—श्रुत्यनुभवयुक्तिभ्य आरब्धयोरविनाशो गम्यते। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न

(१६६) अग्निहोत्राद्यधिकरणम् ॥१२॥

नश्येन्नो वाऽग्निहोत्रादि नित्यं कर्म, विनश्यति । यतोऽयं वस्तुमहिमा न क्वचित्प्रतिहन्यते ॥२३॥
अनुषक्तफलांशस्य नाशेऽप्यन्यो न नश्यति । विद्यायामुपयुक्तत्वाद्धाऽश्लेषस्तु काम्यवत् ॥२४॥

कि ज्ञानी के प्रारब्ध पुण्य-पाप भोग से नष्ट होते हैं, ज्ञान से नहीं। इस विषय में छोड़े हुए बाण एवं कुलालचक्र का उदाहरण भी दिया जाता है कि जैसे छोड़ा हुआ बाण अपना काम करके गिर जाता है और कुलाल से चलाया हुआ चक्र कुछ क्षण तक चलता रहता है, ऐसे ही ब्रह्मज्ञान के पश्चात भी प्रारब्ध कर्म सुख-दुःखादि फल देते रहते हैं।

(१६६) अग्निहोत्राद्यधिकरण

१. सङ्गति—इससे पूर्व अनारब्ध सभी कर्म तत्त्वज्ञान द्वारा उत्सर्गतः नष्ट हो जाता है, ऐसा कहा गया है, किन्तु नित्य-नैमित्तिक कर्म से अतिरिक्त अनारब्ध कर्म के विषय में ही यह बात कही गयी है; ऐसे उत्सर्गापवाद संगति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—ज्ञान से पूर्व किये गये नित्य-नैमित्तिक कर्मों का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या अग्निहोत्रादि नित्य कर्म ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—ज्ञान से पूर्व इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में किया गया नित्य कर्म भी काम्य कर्म की भाँति अकर्ता आत्मवस्तु के बोध से नष्ट हो जाता है।

५. सिद्धान्त—नित्य कर्म के दो अंश हैं, एक अंश प्रधानरूप से चित्त को शुद्ध करता है और दूसरा अंश स्वर्गादि फल देता हैं, उनमें स्वर्गादि फलप्रद अंश ही तत्त्वज्ञान से नष्ट होता है, दूसरा चित्तशुद्धिप्रद अंश ब्रह्मज्ञान का उपकारक होने से नष्ट नहीं होता। ज्ञान के पश्चात् होने वाले नित्य कर्म का असंश्लेष काम्यकर्म की भाँति ही होता है। लोक में भोग से क्षीण होने वाले व्रीहि आदि को नष्ट नहीं मानते हैं।

विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" (छा० ६-१४-२) इति श्रुतिः । अस्या अयमर्थः—'तस्य तत्त्वविदो मुक्तिर्विलम्बमानाऽपि नात्यन्तं विलम्बते । किंतु गर्भाधानकाले क्लृप्तस्याऽऽयुषः क्षयाभावेन यावद्देहः प्राणैर्न विमोक्ष्यते तावदेव विलम्बते । अथ देहप्राणवियोगे सति ब्रह्म संपद्यते' इति । यथाऽनया श्रुत्या तत्त्वविदोऽप्यादेहपातं संसारोऽङ्गीकृतस्तथा विद्वदनुभवोऽप्यस्मिन्नर्थे स्फुटः । युक्तिश्चोच्यते—यथा लोके तूणनिष्ठेषु बाणेषु धानुष्कस्य स्वीकारापरित्यागयोः स्वातन्त्र्येऽपि मुक्ते बाणे स्वातन्त्र्यं न दृश्यते । स तु बाणो वेगे क्षीणे स्वयं पतति । एवं कुलालचक्रभ्रमणमुदाहर्तव्यम् । तथा दार्ष्टान्तिकब्रह्मज्ञानस्याप्यनारब्धकर्मनाशकत्वे स्वातन्त्र्यमस्तु, न त्वारब्धे कर्मणि । आरब्धस्य प्रवृत्तफलत्वात् । यद्येतः श्रुत्यादिभिरारब्धास्थितिर्नाभ्युपगम्यते, तदोपदेष्टुरभावाद्विद्यासंप्रदाय उच्छिद्यत । न तावदविद्वानुपदेष्टेति वक्तुं शक्यम् । विद्वांस्तु वेदनसमय एव मुच्यत इति को नामोपदेष्टा संभवतिः । तस्मान्नाऽऽरब्धयोर्नाशः ॥११॥

द्वादशाधिकरणमारचयति—

ज्ञानात्पूर्वमिह जन्मनि जन्मान्तरे वाऽनुष्ठितं यदग्निहोत्रादि नित्यं कर्म, तस्यापि काम्यकर्मवदकर्त्रात्मवस्तुबोधमहिम्ना नाशोऽभ्युपेयः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—द्वावंशौ नित्यकर्मणः । एकोंऽशः प्राधान्येन चित्तशुद्धिप्रदः । अपरोंऽशोऽनुषङ्गेण स्वर्गादिफलप्रदः । तस्य नाशोऽस्तु नाम । चित्तशुद्धिप्रदस्य तु विद्यायामुपयुक्तत्वान्न नाशो वर्णयितुं शक्यः । न हि लोके भोगेनोपक्षीणं व्रीह्यादिकं नष्टं मन्यन्ते । यत्तु ज्ञानादूर्ध्वं नित्यं कर्म तस्य काम्यवदश्लेषः ॥१२॥

(१६७) विद्याज्ञानसाधनाधिकरणम् ॥१३॥

किमङ्गोपास्तिसंयुक्तमेव विद्योपयोग्युत । केवलं वा, प्रशस्तत्वात्सोपास्त्यैवोपयुज्यते ॥२५॥
केवलं वीर्यवद्विद्यासंयुक्तं वीर्यवत्तरम् । इति श्रुतेस्तारतम्यादुभयं ज्ञानसाधनम् ॥२६॥

(१६८) इतरक्षपणाधिकरणम् ॥१४॥

बहुजन्मप्रदारब्धयुक्तानां नास्त्युतास्ति मुक् । विद्यालोपे कृतं कर्म फलदं तेन नास्ति मुक् ॥२७॥

---

(१६७) विद्याज्ञानसाधनाधिकरण

१. सङ्गति—नित्यादि कर्म के विषय में कुछ और भी विचार करना है, अतः एकविषयत्व सङ्गति के कारण इस अधिकरण को कहा गया है।

२. विषय—उपासनायुक्त नित्यादि कर्म का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या अङ्ग उपासना के सहित कर्म विद्योपयोगी है अथवा केवल कर्म भी ?

४. पूर्वपक्ष—प्रशस्त होने के कारण उपासनासहित कर्म विद्या उपयोगी होता है, केवल कर्म नहीं।

५. सिद्धान्त—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इस श्रुति के अनुसार उपासनासहित कर्म में अतिशय बतलाने वाली श्रुति उपासनारहित कर्म को भी विद्योत्पत्ति में उपकारक माना है, अतः सोपासन और निरुपासन दोनों ही कर्म विद्या के साधन हैं।

(१६८) इतरक्षपणाधिकरण

१. सङ्गति—सञ्चित कर्म की भाँति आरब्ध कर्म का तत्त्वज्ञान से क्षय क्यों नहीं मानते, ऐसा आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—प्रारब्ध कर्म के क्षय का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या तत्त्वज्ञानी भी प्रारब्धक्षय के पश्चात् जन्म ग्रहण करता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—तत्त्वज्ञान के पश्चात् जैसे उसका शरीर बना रहता है, वैसे ही देहपात् के बाद तत्त्वज्ञ का संसार बना ही रहेगा।

५. सिद्धान्त—प्रारब्ध केवल भोग देता है, विद्या का लोप नहीं करता। इस प्रकार प्रारब्ध पुण्य-पाप कर्मों का नाश भोग से कर लेने के बाद तत्त्वज्ञ पुरुष विदेहकैवल्य को प्राप्त करता है।

विद्यासाधनं नित्यकर्म द्विविधं सभाव्यते- अङ्गावबद्धोपास्तिसहितं तद्रहितं च। तत्र सोपासनस्य कर्मणः प्रशस्तत्वात्तदेव विद्यासाधनं, न तूपास्तिरहितम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छा० १·१-१०) इति श्रुतिः "सोपासनस्य कर्मणोऽतिशयेन वीर्यमस्ति' इति वदन्ती निरुपासनस्यपि वीर्यमात्रमभ्यनुजानाति। अन्यथा तरप्रत्ययानुपपत्तेः। तस्मात्सोपासननिरुपासनयोस्तारतम्येन विद्यासाधनत्वम् ॥१३॥

चतुर्दशाधिकरणमारचयति—

अधिकारिपुरुषाणां मुक्तिर्नास्ति। प्रारब्धभोगाय बहुषु जन्मसु स्वीकृतेषु तत्र पूर्वार्जितविद्यायां यत्कर्म क्रियते तस्य फलप्रदत्वे सत्युत्तरोत्तरजन्मपरम्पराया अवश्यभावित्वात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—आरब्धं कर्म स्वफले सुखदुःखे भोजयेत्। तदर्थमेव प्रवृत्तत्वात्। न हि विद्यालोपार्थं किंचित्कर्म पूर्वमनुष्ठितं, येन कर्मवशाद्विद्यालोप आशङ्क्येत। न च मरणव्यवधानमात्रेण विद्यालोपः। सुषुप्तिव्यवधानेन तल्लोपादर्शनात्। अतो विद्यायामवस्थितायां बहुभिरपि

आरब्धं भोजयेदेव न तु विद्यां विलोपयेत् । सुप्तबुद्धवदश्लेषतादवस्थ्यात्कुतो न मुक् ॥२८॥

(आदितः श्लोक संख्या–३५८)

(इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः)

❁ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीय पादः ❁

(१६९) वागधिकरणम् ॥१॥

वागादीनां स्वरूपेण वृत्या वा मानसे लयः । श्रुतिर्वाङ्मनसीत्याह स्वरूपविलयस्ततः ॥१॥

मरणव्यवधानमात्र से विद्या का लोप वैसे ही नहीं होता जैसे सुषुप्तिव्यवधान के कारण विद्या का लोप नहीं होता। विद्या के उदय हो जाने पर ज्ञानी के द्वारा किए गये अनेक आगामी कर्म उसे स्पर्श नहीं करते, यह बात गुणोपसंहार पाद में कही जा चुकी है।

(चतुर्थ अध्याय – प्रथम पाद समाप्त)

❁ चतुर्थ अध्याय–द्वितीय पाद ❁

प्रथम पाद में तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने के बाद जीवनमुक्ति के विरुद्ध सञ्चित कर्मों की निवृत्ति कही गयी थी और भोग से प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर विदेहकैवल्य भी सामान्यतः परापरविद्या के फलस्वरूप में बतलाया गया था। अब अपर विद्या से प्रारब्धक्षय के पश्चात् होने वाले मोक्ष में कुछ विशेष बतलाने के लिए आगे के तीन पाद प्रारम्भ किये जा रहे हैं। सामान्य-निरूपण विशेषनिरूपण का कारण होता है, अतः प्रथम पाद के साथ अग्रिम तीन पादों की सामान्य-विशेषभाव सङ्गति है। उनमें भी उत्क्रान्ति आदि में विशेष अर्थ बतलाने के लिए यह दूसरा पाद है।

(१६९) वागधिकरण

१. सङ्गति—पादान्तर होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की सङ्गति बतलाना आवश्यक नहीं है।

२. विषय—'अस्य सोम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते' इस श्रुति अंश का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या वागादि का मन में स्वरूपतः लय होता है या वृत्तितः ?

४. पूर्वपक्ष—श्रुति के वल से वाणी का ही मन में लय मानना चाहिए, वाग्व्यापार का लय मानने पर लक्षणा का प्रसङ्ग आ जायेगा।

क्रियमाणैः कर्मभिरश्लेषादस्त्यधिकारिणां मुक्तिः। यद्यप्येतद्गुणोपसंहारपादे निर्णीतं, तथाऽपि तस्यैवाऽऽक्षेपसमाधाने इत्यनवद्यम् ॥१४॥

(इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः)

* * *

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादे प्रथमाधिकरणमारचयति—

उत्क्रान्तिक्रमश्छान्दोग्ये श्रूयते–'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" (छा० ६ ८-६) इति। तत्र म्रियमाणस्य पुरुषस्य वागादीनि दशेन्द्रियाणि मनसि लीयन्ते। स च लयः किं स्वरूपेण वृत्त्या वेति संशये सति "वाङ्मनसि" इति श्रुतौ वृत्तिशब्दाश्रवणात्स्वरूपलयः।

न लीयतेऽनुपादाने कार्यं वृत्तिस्तु लीयते । वह्निवृत्तंर्जले शान्तेर्वाक्शब्दो वृत्तिलक्षकः ॥२॥

(१७०) मनोऽधिकरणम् ॥२॥

मनः प्राणे: स्वयं वृत्त्या वा लीयेत, स्वयं यतः । कारणान्नोदकद्वारा प्राणो हेतुर्मनः प्रति । ३॥
साक्षात्स्वहेतौ लीयेत कार्यं प्राणालिके न तु । गौणः प्राणालिको हेतुस्ततो वृत्तिलयो धियः ॥४॥

---

५. सिद्धान्त—वाग्वृत्ति का ही मन में लय होता है, व्यापारसहित वाणी का नहीं क्योंकि कार्य का उपादान कारण में होता है, अन्यत्र नहीं। जैसे वह्नि का दाहकतारूप व्यापार जल में लीन होता है, ऐसे ही वाग्वृत्ति का ही मन में लय होता है, वाक् का नहीं। श्रुति में वाक् शब्दवृत्ति का लक्षक है।

(१७०) मनोधिकरण

१. सङ्गति—जैसे वागादि इन्द्रियों के व्यापार का लय मन में कहा, वैसा मनोव्यापार का प्राण में लय नहीं होता; किन्तु 'मनः प्राणे' इस श्रुति के बल से स्वरूपतः मन का लय प्राण में मानना चाहिए, परम्परया मन का उपादान कारण प्राण भी माना जा सकता है। इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—'मनः प्राणे' यह श्रुत्यंश इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—क्या प्राण में मन का स्वरूपतः लय होता है या वृत्तितः ?

४. पूर्वपक्ष—'मनः प्राणे' इस श्रुति के बल से मन का स्वरूपतः लय प्राण में मानना चाहिए।

५ सिद्धान्त—सभी इन्द्रियों के व्यापार का लयाधारभूत मन वृत्तिरूप से ही प्राण में लीन होता है। कार्य का साक्षात् लय अपने कारण में ही होता है, मन प्राण का साक्षात् कार्य नहीं है। सुषुप्ति और मुमूर्षा दशा में प्राणव्यापार रहते-रहते मनोव्यापार का लय देखा गया है। व्यापार एवं व्यापारवान में औपचारिक अभेद मानकर 'मनः प्राणे' ऐसा कहा गया है। परम्परा से उत्पन्न कार्य का कारण में लय मानने पर हिम-करकादि में घटादि के विलय का प्रसङ्ग आ जायेगा जो अनुभवविरुद्ध माना जायेगा।

इति प्राप्ते ब्रूमः—मनसो वागादिकं प्रत्यनुपादानत्वात् 'उपादान एव कार्यस्य स्वरूपलयः' इति मृद्घटादौ व्याप्तिदर्शनान्न वागादीनां स्वरूपेण लयः। वृत्तिस्त्वनुपादानेऽपि लयमर्हति। अङ्गारेषु जलमध्ये प्रक्षिप्तेषु वह्निवृत्तेर्दाहप्रकाशात्मिकाया अनुपादाने जले लयदर्शनात्। श्रुतौ तु वाक्शब्देन वृत्तिर्लक्ष्यते। वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारात्। वागादीनां मनसि वृत्तिलयः ॥१॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

वागादिषु मनसि वृत्त्या प्रलीनेषु तन्मनः प्राणे स्वरूपेण लयमर्हति। मनः प्रति प्राणस्योपादानत्वसंभवात्। तथा हि—"अन्नमयं हि सोम्य मनः" (छा० ६ ५-४) इति श्रुतेर्मनसोऽन्नं कारणम्। "आपोमयः प्राणः" इति श्रुतेश्च प्राणस्याऽऽपः कारणम्। तथा सति मन प्राणशब्दाभ्यां तत्कारणे अन्नोदके उपलक्ष्य 'मनः प्राणे लीयते' इति वाक्यस्य 'अन्नमप्सु लीयते' इत्यर्थो व्याख्यातव्यः। तथा च कार्यस्य स्वोपादाने लयो भविष्यति। तस्मान्मनसः स्वरूपेणः लयः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—द्विविधमुपादानम्-मुख्यं प्राणालिकं च। तत्र प्राणमनसोर्मृद्घटयोरिव न मुख्य उपादानोपादेयभावोऽस्ति। किं तर्हि ? त्वदुक्तप्रकारेण संबन्धपरम्परया प्रणाल्या। न हि प्राणालिक उपादाने कार्यस्य लयं क्वचित्पश्यामः। तस्मान्मनसः प्राणे साक्षादनुपादाने वृत्त्या प्रविलयो द्रष्टव्यः ॥२॥

(१७१) अध्यक्षाधिकरणम् ।।३।।

असोर्भूतेषु जीवे वा लयो भूतेषु तच्छ्रुतेः । स प्राणस्तेजसीत्याह न तु जीव इति क्वचित् ।।५।।
एवमेवेममात्मानं प्राणा यन्तीति च श्रुतेः । जीवे लीत्वा सहैतेन पुनर्भूतेषु लीयते ।।६।।

(१७२) आसृत्युपक्रमाधिकरणम् ।।४।।

ज्ञान्यज्ञोत्क्रान्तिरसमा समा वा, नहि सा समा । मोक्षसंसाररूपस्य फलस्य विषमत्वतः ।।७।।

---

(१७१) अध्यक्षाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार प्राण में मनोवृत्तिलय की भांति तेज में प्राणवृत्ति का लय मानना चाहिए, दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—'प्राणः तेजसि' इस श्रुति में आये हुए तेज शब्द का इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—क्या उत्तरवाक्य में यथाश्रुत प्राण का लय तेज में ही मानना चाहिए अथवा जीव में? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—श्रुतार्थ का परित्यागकर अश्रुत अर्थ की परिकल्पना न्यायविरुद्ध है, अतः तेज में ही प्राण का लय मानना युक्तियुक्त होगा।

५. सिद्धान्त—'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति' इस श्रुति के आधार पर अध्यक्ष जीव में प्राण का लय मानना चाहिए। जीव के सहित प्राण तेज आदि भूतों में लीन होता है, पहले तो प्राण जीव के साथ ही तादात्म्यभाव को प्राप्त करता है।

(१७२) आसृत्युपक्रमाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त उत्क्रान्ति को लेकर कुछ अन्य बातों का विचार करने के लिए उपजीव्य उपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—इस अधिकरण में देह से उत्क्रान्ति पर विचार किया गया है।

३. संशय—क्या देह से उत्क्रान्ति अज्ञानियों को ही होती है अथवा दहरादि सगुण ब्रह्म के उपासकों की भी होती है?

४. पूर्वपक्ष—मोक्ष और संसाररूप विषम फल होने के कारण उत्क्रान्ति तुल्य नहीं है।

तृतीयाधिकरणमारचयति—

अन्तर्लीनैकादशेन्द्रिययुक्तस्य प्राणस्य तेजोबन्नेषु भूतेषु वृत्त्या प्रविलयः, न तु जीवे। "प्राणस्तेजसि" इति श्रुतेः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति" इति श्रुतिर्जीवे प्राणलयमाह। 'यथा राजानं प्रयियासन्तं सर्वे भृत्याः समायन्ति, तद्वत्' इति श्रुतेरर्थः। न च 'प्राणस्तेजसि" इति श्रुत्या विरोधः। जीवेन सहितः प्राणः पश्चात्तेजआदिभूतेषु लीयत इति व्याख्यातुं शक्यत्वात्। तस्मात्प्राणो जीवे प्रथमतो लयं प्राप्य पश्चात्तद्द्वारा भूतेषु लीयते ।।३।।

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

'निर्गुणब्रह्मज्ञानिनस्तावदुत्क्रान्तिरेव नास्ति' इति वक्ष्यति। या तु सगुणब्रह्मज्ञानिन उत्क्रान्तिर्नासावज्ञान्युत्क्रान्त्या समाना। ब्रह्मलोकरूपस्य मोक्षस्य तद्विपरीतसंसारस्वरूपस्य च फलस्य विषमत्वेन तत्प्राप्तिद्वारभूताया उत्क्रान्तेर्वैषम्यस्योचितत्वात्।

आमृत्युपक्रमं जन्म वर्तमानमतः समा । पश्चात्तु फलवैषम्यादसमोत्क्रान्तिरेतयोः ॥८॥

(१७३) संसारव्यपदेशाधिकरणम् ॥५॥

स्वरूपेणाथ वृत्त्या या भूतानां विलयः परे । स्वरूपेण लयो युक्तः स्वोपादाने परात्मनि ॥९॥
आत्मज्ञस्य तथात्वेऽपि वृत्त्यैवान्यस्य तल्लयः । न चेत्कस्यापि जीवस्य न स्याज्जन्मान्तरं क्वचित् ॥१०॥

(१७४) प्रतिषेधाधिकरणम् ॥६॥

किं जीवात्कथवा देहप्राणोत्क्रान्तिर्निवार्यते । जीवान्निवारणं युक्तं जीवेद्देहोऽन्यथा सदा ॥११॥

---

५. सिद्धान्त—देवयान मार्ग प्रारम्भ होने से पूर्व ज्ञानी और अज्ञानी की उत्क्रान्ति समानरूप में ही होती है, फलवैषम्य तो पश्चाद्भावी है । अतएव ज्ञानी और अज्ञानी की उत्क्रान्ति विषम कही गयी है ।

(१७३) संसारव्यपदेशाधिकरण

१. सङ्गति—सभी की उत्क्रान्ति समान मानने पर मरणमात्र से ही ब्रह्म की आत्यन्तिक प्राप्ति क्यों न मानी जाय, इस प्रकार आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—'तेजः परस्यां देवतायाम्' यह श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. संशय—परमात्मा में तेज आदि भूतों का विलय स्वरूपतः होता है अथवा वृत्तितः ?

४. पूर्वपक्ष—परमात्मा सबका उपादान कारण है, अतः तेज आदि भूतों का परमात्मा में स्वरूपतः विलय मानना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—आत्मतत्त्वज्ञानी का उक्त प्रकार से स्वरूपतः भूतलय मान लेने पर भी कर्मी एवं उपासक का, जन्मान्तर की सिद्धि के लिए, वृत्तिलय मानना ही उचित होगा ।

(१७४) प्रतिषेधाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में मुख्य अमृतत्व की प्राप्ति के लिए उत्क्रान्ति का अभाव जो कहा गया था, वह ठीक नहीं है; इस प्रकार की आक्षेप सङ्गति से यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है ।

२. विषय—निर्गुण ब्रह्मज्ञानियों के प्राण उत्क्रमण का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—जीवात्मा से प्राण उत्क्रान्ति का निषेध किया गया है अथवा देह से ?

४. पूर्वपक्ष—जीवात्मा से ही प्राण उत्क्रान्ति का निषेध मानना उचित होगा, अन्यथा देह सदा जीवित रहने लग जायेगा ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सगुणज्ञानिनो मूर्धन्यनाडीप्रवेश उत्तरमार्गोपक्रमः । ज्ञानरहितस्य नाड्यन्तरप्रवेशो मार्गान्तरोपक्रमः । मार्गपर्यन्तमिदमेव वर्तमानं जन्म । अत ऐहिकसुखदुःखवदुत्क्रान्तिरपि समाना । उपक्रान्ते तु मार्गे त्वदुक्तफलभेदाद्वैषम्यमस्तु ॥४॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

"तेजः परस्यां देवतायाम्" (छा० ६-८ ६) इत्यत्र तेजःप्रभृतीनां भूतानां परमात्मनि स्वरूपेण परमात्मनो भूतोपादानत्वात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—आत्मतत्त्वज्ञानिनस्त्वदुक्तप्रकारेणा भूतानां स्वरूपेण लयोऽस्तु । तस्य निर्णेष्यमाणत्वात् । उपासकस्य कर्मिणश्च जन्मान्तरसिद्धये वृत्तिलय एवाभ्युपगन्तव्यः ॥५॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" (बृ० ४-४-६) इति तत्त्वविद प्राणानामुत्क्रान्तिर्निषिध्यते । तस्य निषेधस्यापादानं जीवः, न तु देहः । अन्यथा देहादनुत्क्रान्तौ मरणाभावः प्रसज्येत ।

तप्ताश्मजलवद्देहे प्राणानां विलयः स्मृतः । उच्छ्वयत्येव देहोऽन्ते देहात्मा विनिवार्यते ।१२।।

(१७५) वागादिलयाधिकरणम् ।।७।।

ह्यस्य वागादयः स्वस्वहेतौ लीनाः परेऽथवा । गताः कला इति श्रुत्या स्वस्वहेतुषु तल्लयः ।।१३।।
नद्यब्धिलयसाम्योक्तेर्विद्वद्दृष्ट्या लयः परे। अन्यदृष्टिपरं शास्त्रं गता इत्याद्युदाहृतम् ।।१ ।।

---

५. सिद्धान्त—तप्त लोहपिण्ड पर छोड़े हुए जल की भाँति ज्ञानियों के प्राणों का विलय देह में ही हो जाता है । तत्त्वज्ञानी के प्राण देह से निकलते नहीं किन्तु देह के भीतर ही अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं, अतः जीवित रहना असम्भव हो जाता है इसीलिए देहो मृतः ऐसा व्यवहार होता है ।

(१७५) वागादिलयाधिकरण

१. सङ्गति—ब्रह्म में प्राणों का लय कहना असङ्गत है क्योंकि प्राणशब्दवाच्य इन्द्रियों का एवं भूतों का, ब्रह्मज्ञानियों के प्रसङ्ग में, पृथिव्यादि में लय सुना जाता है; ऐसा आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

२. विषय—ब्रह्मज्ञानियों के प्राणविलय का विचार इस अधिकरण का विषय है ।

३. संशय—क्या ब्रह्मज्ञानियों के प्राण पृथिव्यादि में लीन होते हैं या परमात्मा में ?

४. पूर्वपक्ष—'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' इस श्रुति के आधार पर अपने-अपने कारणों में ही वागादि का लय मानना चाहिए ।

५. सिद्धान्त—नदी का लय जैसे सागर में होता है, वैसे ही ज्ञानियों की दृष्टि से उनके प्राणों

इति प्राप्ते ब्रूमः—तप्ताश्मनि प्रक्षिप्तं जलं न यथाऽन्यत्र गच्छति, नापि तत्र दृश्यते, किं तु स्वरूपेण लीयते । तद्वत्तत्त्वविदः प्राणा देहादनुत्क्रान्ता अपि न देहेऽवतिष्ठन्ते, किंतु विलीयन्ते । अतो जीवनासंभवात् 'मृतो देहः' इति व्यवहारः । अनुत्क्रान्तानां प्राणानां देहावस्थानाभावे देहस्योच्छूनत्वमेव लिङ्गम् । नन्वियतः प्रयासाद्वरं देहादुत्क्रान्तिरस्तु । प्रतिषेधस्तु जीवापादानको भविष्यति । मैवम् । देहादुत्क्रान्तस्य जीवेन सहावस्थितेषु प्राणेषु देहान्तरग्रहणस्याऽऽवश्यकत्वान्मुक्तिरेव न स्यात् । तस्मादुत्क्रान्तिप्रतिषेधस्य देह एवापादानं, न जीवः ।।६।।

सप्तमाधिकरणमारचयति—

तत्त्वज्ञानिनो वागादयः प्राणा विलीयमानाः प्रातिस्विकेष्वग्न्याद्यधिकरणेषु विलीयन्ते, न तु परमात्मनि । "गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः" (मु० ३-२-७) इति कलाशब्दवाच्यानां प्राणादीनां प्रतिष्ठाशब्दवाच्यस्वस्वकारणप्राप्तिप्रतिपादकत्वात् । 'यत्रास्य पुरुषस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणः, चक्षुरादित्यम्" (बृ० ३-२-१३) इत्यादिश्रुतेः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—तत्त्वविदो दृष्ट्या परमात्मन्येव लय इति श्रुत्यन्तरान्निश्चीयते । "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" (मु० ३-२-८) इति श्रुतौ नद्यब्धिलयदृष्टान्त उपन्यस्यते । अथ दार्ष्टान्तिके परमात्मनि लय इत्ययमर्थो न विशदः, तर्हि श्रुत्यन्तरे विशदो गम्यते—"यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति । भिद्येते तासां नामरूपे । 'समुद्रः' इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति । भिद्येते तासां नामरूपे 'पुरुष' इत्येवं प्रोच्यते" (प्र० ६-५) इति । भिद्येते विलीयेते सेयं श्रुतिस्तत्त्वविद्दृष्टिविषया । "गताः कलाः"

(१७६) अविभागाधिकरणम् ॥८॥

तल्लयः शक्तिशेषेण निःशेषेणाथवाऽऽत्मनि । शक्तिशेषेण युक्तोऽसावज्ञानिष्वेतदीक्षणात् ॥१५॥
नामरूपविभेदोक्तेर्निःशेषेणैव तल्लयः । अज्ञे जन्मान्तरार्थं तु शक्तिशेषत्वमिष्यते ॥१६॥

(१७७) तदोकोऽधिकरणम् ॥९॥

अविशेषो विशेषो वा स्यादुत्क्रान्तेरुपासितुः । हृत्प्रद्योतनसाम्योक्तेरविशेषोऽन्यनिर्गमात् ॥१७॥

का विलय परमात्मा में होता है। व्यवहारदृष्टि से कलाओं का विलय अपने-अपने उपादान कारण में शास्त्र ने बतलाया है।

(१७६) अविभागाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त विद्वत् कलाओं के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातों का विचार करने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ हुआ है, इस प्रकार पूर्वोत्तर अधिकरणों की एकविषयत्व सङ्गति है।

२ विषय—ज्ञानियों की कलाओं के विलय का विचार इस अधिकरण का विषय है।

३. संशय—क्या अज्ञानियों की भाँति ज्ञानियों की भी कलाओं का विलय सावशेष होता है या निरवशेष ?

४. पूर्वपक्ष—अज्ञानियों की भाँति ज्ञानियों की कलाओं का विलय भी सावशेष ही होता है।

५. सिद्धान्त—'भिद्येते तासां नामरूपे' इस श्रुति के आधार पर संसार के कारण षोडश कलाओं का विलय ज्ञानियों का निरवशेष होता है, किन्तु अज्ञानियों का जन्मान्तरप्राप्ति के लिए सावशेष विलय माना गया है।

(१७७) तदोकोऽधिकरण

१. सङ्गति—जैसे सगुण ब्रह्मोपासकों की उत्क्रान्ति देवयानमार्गारम्भपर्यन्त होती है, वैसे ही मार्गारम्भ में भी हृदय का प्रद्योतनादि समान ही सुना जाता है; इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

इति शास्त्रं तु तटस्थपुरुषप्रतीतिविषयम्। म्रियमाणे तत्त्वविदि समीपवर्तिनः पुरुषाः स्वस्वदृष्टान्तेन तदीयवागादीनामप्यग्न्यादिषु लयं मन्यन्ते। अतः श्रुत्योर्न विरोधः। तस्मात्परमात्मनि तत्त्वविदः प्राणानां लयः ॥७॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

पूर्वाधिकरण उक्तो लयो न निःशेषः, किंतु सावशेषो भवितुमर्हति। वागादिलयत्वात्, अज्ञानिवागादिलयवत्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"भिद्येते तासां नामरूपे" इत्यत्र जीवस्य याः षोडशकलाः संसारहेतवः' तासां कलानां नामरूपविभेदः श्रूयते। कलाश्च वाक्योपक्रमेऽनुक्रान्ताः—"स प्राणमसृजत। प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्। अन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोकाः, लोकेषु च नाम च" (प्र० ६-४) इति। यदि प्राणादीनां नामान्तानां नामरूपे शक्त्यवशेषेण लीयते, तदा नामरूपविभेदश्रुतिरुपरुध्यते। शक्त्यात्मना नामरूपयोः सूक्ष्मयोरवस्थानात्। अज्ञानिनस्तु जन्मान्तरसिद्धये शक्त्यवशेषत्वमिष्यते। तस्मात्तत्त्वविदो वागादीनां निःशेषेण परमात्मनि लयः ॥८॥

नवमाधिकरणमारचयति—

उपासकस्य येयमुत्क्रान्तिः सेयमितरोत्क्रान्त्या मार्गोपक्रमपर्यन्तं समेत्युक्तम्। अथ मार्गोपक्रमेऽपि समैव भवितुमर्हति। हृत्प्रद्योतनादेः समत्वश्रवणात्। तथा हि—"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते,

मूर्धन्ययैव नाड्याऽसौ व्रजेन्नाडीविचिन्तनात्। विद्यासामर्थ्यतश्चापि विशेषोऽस्त्यन्यनिर्गमात् ॥१८॥

(१७८) रश्म्यधिकरणम् ॥१०॥

अहन्येव मृतो रश्मीन्याति निश्यपि वा निशि। सूर्यरश्मेरभावेन मृतोऽहन्येव याति तम् ॥१९॥

---

२. विषय—अज्ञानी और सगुणब्रह्म उपासक दोनों के प्राणोत्क्रमण भिन्न प्रकार से इस अधिकरण में बतलाया गया है।

३. संशय—क्या सगुण ब्रह्मोपासक और अज्ञानी का मूर्धादि स्थान से प्राण उत्क्रमण एक जैसा होता है अथवा भिन्न प्रकार से होता है?

४. पूर्वपक्ष—हृदयप्रद्योतन आदि सभी के एक जैसे होते हैं, अतः अज्ञानी और सगुण ब्रह्मोपासक के प्राण उत्क्रमण में कोई भेद नहीं है।

५. सिद्धान्त—सगुण उपासक को नाड़ी का चिन्तन करने के लिए कहा गया है। अतः विद्या-सामर्थ्य रहने के कारण वह सगुण ब्रह्म उपासक मूर्धा नाड़ी से ही निकलता है, अन्य प्राणी दूसरे-दूसरे मार्ग से निकलते हैं।

(१७८) रश्म्यधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में कहे गये नाड़ीसम्बद्ध रश्मियों को उपजीव्य बनाकर कुछ अन्य विचार करने के लिए उपजीव्योपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया हैं।

२. विषय—इस अधिकरण में मरण के पश्चात् उपासक को होने वाली गति का विचार किया गया है।

तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" (बृ० ४-४-२) इति श्रूयते। अस्यायमर्थः—'वाङ्मनसि संपद्यते' इति क्रमेण सजीवं लिङ्गशरीरं शब्दस्यवशेषं परमात्मनि यदा लीयते, तदा पूर्वजन्म समाप्तं भवति। अथ जन्मान्तराय तल्लिङ्गं पुनर्हृदये प्रादुर्भवति। तस्मिन्नवसरे हृदयाग्रेऽवस्थितस्य लिङ्गस्य गन्तव्यभाविजन्मालोचकात्मकोऽन्त्यप्रत्ययत्वेन लोके प्रसिद्धः कश्चित्प्रद्योतो भवति। तेन युक्तः सन्नाडीभ्यो निर्गच्छति इति। एतच्च सर्वेषां समानम्। तस्मान्नोपासकस्येतरेभ्यो विशेषः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—मूर्धन्ययैव नाड्योपासको निर्गच्छति। इतराभ्य एव नाडीभ्य इतरे। कुतः? उपासकेन मूर्धन्यनाड्याश्चिन्तितत्वात्। सगुणब्रह्मविद्यासामर्थ्याच्च। श्रुत्यन्तरे चायमर्थः स्पष्टमेव गम्यते—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति (छा० ८-६-६) इति।

अन्या नाड्य उत्क्रमणायोपयुज्यन्ते, न त्वमृतत्वप्राप्तय इत्यर्थः। तस्मादस्त्युपासकस्य विशेषः ॥१८॥

दशमाधिकरणमारचयति—

"अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते" (छा० ८-६-५) इति मूर्धन्यनाड्या निर्गतस्य रश्मिसंबन्धः श्रूयते। स चाहन्येव मृतस्य संभवति, न तु रात्रौ'। रश्म्यभावात्।

यावद्देवं रश्मिनाड्योर्योगो ग्रीष्मक्षपास्वपि । देहदाहाच्छ्रुतत्वाच्च रश्मीनिश्यपि यात्यसौ ॥२०॥

(१७९) दक्षिणायनाधिकरणम् ॥११॥

अयने दक्षिणे मृत्वा धीफलं नैत्यथौति वा । नैत्युत्तरायणाद्युक्तेर्भीष्मस्यापि प्रतीक्षणात् ॥२१॥

---

३. संशय—क्या दिन में ही मरा हुआ सुर्यरश्मियों को प्राप्त करता है या रात्रि में मरा हुआ भी ?

४. पूर्वपक्ष—रात्रि के समय सूयरश्मि का अभाव होने के कारण दिन में मरा हुआ जीव ही सूर्यरश्मियों को प्राप्त करता है, रात्रि में मरा हुआ नहीं।

५. सिद्धान्त—रश्मि और नाड़ो का सम्बन्ध जीवनपर्यन्त बना रहता है, ग्रोष्मकाल की रात्रि में भी देहताप का अनुभव होता है । श्रुति भी अहोरात्र जीवात्मा का रश्मि से सम्बन्ध बतलाती है, अतः रात्रि में मरा हुआ उपासक भी सूर्यरश्मियों को प्राप्त कर ही लेता है।

(१७९) दक्षिणायनाधिकरण

१. सङ्गति—पूर्वोक्त न्याय का अतिदेश होने के कारण इस अधिकरण की सङ्गति पृथक् नहीं है अर्थात् उपजीव्य-उपजीवकभाव सङ्गति ही है।

२. विषय—उपासक के मरने पर होने वाली गति का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या दक्षिणायन में मरा हुआ उपासक उपासना का फल प्राप्त करता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—दक्षिणायन में मरे हुए उपासक को उपासना का फल-ब्रह्मलोक प्राप्त नहीं होता, इसीलिए श्रुति-स्मृति में उपासक के लिए उत्तरायण मार्ग कहा गया है। विद्या की फलप्राप्ति के लिए भीष्म पितामह ने भी उत्तरायण की प्रतीक्षा की थी।

५. सिद्धान्त—उत्तरायण शब्द से काल अर्थ बतलाना अभीष्ट नहीं है किन्तु आतिवाहिक देवता अर्थ बतलाना अभीष्ट है। भीष्म पितामह ने पितृप्रसाद से लब्ध स्वच्छन्दमरण वरदान की प्रसिद्धि के लिए उत्तरायण की प्रतीक्षा की थी। अतः विद्या का फल एकान्तिक है जिसे उपासक

इति प्राप्ते ब्रूम.—रश्मिनाड्यो. संबन्धो यावद्देहभावी । अत एव ग्रीष्मनिशासु देहदाह उपलभ्यते । ऋत्वन्तरेषु तु प्रतिबिद्धत्वादनुपलम्भः । श्रुतिश्च रश्मिनाड्योरवियोगं दर्शयति—"अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः" (छा० ८-६-२) इति । तस्मान्निश्यपि मृतो रश्मीन्याति ॥१०॥

एकदशाधिकरणमारचयति—

दक्षिणायने मृतस्योपासकस्य न विद्याफलं ब्रह्मलोकप्राप्तिः संभवति । उत्तरायणस्य ब्रह्मलोक-मार्गस्य श्रुतिस्मृत्योः पाठात् । दक्षिणायने मृतस्यापि विद्याफलाङ्गीकारे भीष्मस्योत्तरायणप्रतीक्षणं निरर्थकं स्यात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'नोत्तरायणशब्देन कालो विवक्षितः । किंत्वातिवाहिकदेवता' (ब्र० सू० ४-३-४) इति वक्ष्यति । भीष्मस्य प्रतीक्षणं तु पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमरणवरख्यापनाय । यदि कालविशेषमरणापराधेन फलं प्राप्नुयात्, तर्हि पाक्षिकफला विद्या प्रसज्येत । तस्माद्दक्षिणायने

आतिवाहिकदेवस्त्वेवंरश्यात्यं प्रतीक्षणात् । फलैकान्त्याच्च विद्यायाः फलं प्राप्नोत्युपासकः ॥२२॥

(आदितः श्लो. सं० ३८०)

(इति द्वितीयः पादः)

* * *

❀ अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ❀

(१८०) अर्चिराद्यधिकरणम् ॥१॥

नानाविधो ब्रह्मलोकमार्गो यद्वाऽर्चिरादिकः । नानाविधः स्याद्विद्यासु वर्णनादन्यथाऽन्यथा ॥१॥

प्राप्त करता ही है। अतएव दक्षिणायन में मरा हुआ भी सगुण ब्रह्म उपासक विद्या का फल प्राप्त कर ही लेता है।

(चतुर्थ अध्याय–द्वितीय पाद समाप्त)

॥ चतुर्ध्याय – तृतीय पाद ॥

द्वितीय पाद में उत्क्रान्ति का निरूपणकर अब उसके तत्साध्य मार्ग और गन्तव्यस्थान को बतलाने के लिए हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति के कारण इस तृतीय पाद को प्रारम्भ करते हैं।

(१८०) अर्चिराद्यधिकरण

१. सङ्गति—जब कभी भी मरा हुआ व्यक्ति जैसे विद्या का फल प्राप्त कर लेता है, वैसे ही जिस किसी मार्ग से गया हुआ व्यक्ति विद्या का फल प्राप्त कर लेगा; ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—सगुण उपासक के अर्चिरादि मार्ग का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—ब्रह्मलोकप्राप्ति का मार्ग भिन्न-भिन्न है अथवा अनेक विशेषणों से युक्त एक ही मार्ग है?

४. पूर्वपक्ष—भिन्न प्रकरण में पढ़े जाने के कारण और भिन्न उपासना के अंग होने से ब्रह्मलोकप्राप्ति के मार्ग नाना हैं।

मृतोऽपि विद्याफलं प्राप्नोति ॥११॥

॥ इति चतुर्थाऽध्यायस्यः द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

तृतीयपादे प्रथमाधिकरणमारचयति—

ब्रह्मलोकमार्गश्छान्दोग्यबृहदारण्यकयोः पञ्चाग्निविद्यायामर्चिरादिकः पठितः—"तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति," "अर्चिषोऽहः" (बृ० ६-२-१५) इति। विद्यान्तरे तु वाय्वादिकः—"स वायुमागच्छति" (बृ० ५-१०-१) इति। कौषीतकिनः पर्यङ्कविद्यायामग्निलोकादिकमामनन्ति—"स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति" (कौ० १-३) इति। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। तस्माद्बहुविधो मार्गः।

एक एवार्चिरादिः स्यान्नानाश्रुत्युक्तपर्वकः । यतः पञ्चाग्निविद्यायां विद्यान्तरवतां श्रुतः ॥२॥

(१८१) वाय्वधिकरणम् ॥२॥

संनिवेशयितुं वायुरत्राशक्योऽथ शक्यते । न शक्यो वायुलोकस्य श्रुतक्रमविवर्जनात् ॥३॥
वायुच्छिद्राद्विनिष्क्रम्य स आदित्यं व्रजेदिति । श्रुतेरर्वाग्रवेर्वायुर्देवलोकस्ततोऽप्यधः ॥४॥

५. सिद्धान्त—अनेक श्रुतियों में कहा गया अर्चिरादि मार्ग एक ही है क्योंकि पञ्चाग्नि विद्या और कुछ अन्य विद्याओं में यह माग सुना गया है। अतः अर्चिब्रह्मलोकप्राप्ति का अर्चिरादि माग एक ही है।

(१८१) वाय्वधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार जैसे सर्वत्र अर्चिरादि एकदेश की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण ब्रह्मलोक-प्राप्ति का मार्ग एक ही है, वैसे ही अग्नि के पश्चात् वायु की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण अग्नि के बाद ही वायु का निर्देश करना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण इस अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—इस अधिकरण में अर्चिरादि मार्ग में पढ़े गए लोकों का विचार किया गया है।

३. संशय—अर्चिरादि मार्ग में वायु का सन्निवेश होता है या नहीं?

४. पूर्वपक्ष—श्रौतक्रम न होने के कारण अर्चिरादि मार्ग में वायुलोक का सन्निवेश नहीं हो सकता।

५. सिद्धान्त—संवत्सर से पर और आदित्य से पूर्व वायु का सन्निवेश सम्भव है क्योंकि 'वायु-छिद्र से निकलकर वह उपासक आदित्य लोक में जाता है' ऐसी श्रुति है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अर्चिरादिक एक एव मार्गः। कुतः? पञ्चाग्निविद्यावाक्यशेषे पञ्चाग्निविद्या-विदो विद्यान्तरोपासकांश्चोद्दिश्यार्चिरादिमार्गस्यैव पठितत्वात्—"य इत्थं विदुः, ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति" (छा० ५-१०-१) इति। श्रुत्यन्तरोक्तानां वाय्वादीनां गुणोपसंहार-न्यायेनार्चिरादिमार्गप्रवेशे सति तत्पूर्वात्वसंभवात्। तस्मादर्चिरादिमार्ग एक एव ॥१॥

द्वितीय धिकरणमारचयति—

"तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति, अर्चिषोऽहः, अह्न आपूर्यमाणपक्षम्, आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्, मासेभ्यः संवत्सरम्, संवत्सरादादित्यम्, आदित्याच्चन्द्रमसम्, चन्द्रमसो विद्युतम्, तत्पुरुषोऽमानवः, स एतान्ब्रह्म गमयति" (छा० ५-१०/१,१) इति श्रूयमाणेऽर्चिरादिमार्गे शाखान्तरे श्रुतो वायुः केनापि संनिवेशेनान्तर्भावयितुमशक्यः। 'अस्योपरि वायु' इति क्रमस्याश्रुतत्वात्। कल्पकाभावाच्च।

इति प्राप्ते ब्रूमः—श्रुत्यन्तरं तत्कल्पकम्। तथा हि—"स वायुमागच्छति तस्मै स विजिहीते यथा रथचक्रस्य खम्। तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति' (बृ० ५-१०-१) इति। 'इतो निर्गत्योपासको यदा वायुमागच्छति, तदा तद्वायुमण्डलं छिद्रितं भवति। तेन रथचक्रच्छिद्रप्रमाणेन वायुच्छिद्रेण वायुमण्डलमुल्लङ्घ्याऽऽदित्यमण्डलं प्राप्नोति' इत्यर्थः। एवं च वायोरादित्यात्पूर्वत्व-प्रतीत क्रमविशेषोऽवगन्तुं शक्यते। "मासेभ्यः संवत्सरम्, संवत्सराद्वायुम्, वायोरादित्यम्" इत्येवं संनिवेशः कर्तव्यः। बृहदारण्यके तु—मासानन्तरं संवत्सरं परित्यज्य तस्य स्थाने देवलोकः पठितः। स च संवत्सरानन्तरं वायोरर्वाङ्निवेशयितव्यः। माससंवत्सरयोः संबन्धित्वेन प्रसिद्धयोरानन्तर्यस्या-निवारणीयत्वात्। तदेव संवत्सरादित्ययोर्मध्ये देवलोकवायुलोकौ संनिवेशयितव्यौ ॥२॥

(१८२) तडिदधिकरणम् ॥३॥

वरुणादेः संनिवेशो नास्ति तत्रोत विद्यते । नास्ति वायोरिवैतस्य व्यवस्थाश्रुत्यभावतः ॥५॥
विद्युत्संबन्धिवृष्टिस्थनीरस्याधिपतित्वतः । वरुणो विद्युतोऽस्त्यूर्ध्वं तत इन्द्रप्रजापती ॥६॥

(१८३) आतिवाहिकाधिकरणम् ॥४॥

मार्गचिह्नं भोगभूर्वा नेतारो वार्ऽचिरादयः । आद्यौ स्यातां मार्गचिह्नसारूप्याल्लोकशब्दतः ॥७॥

---

(१८२) तडिदधिकरण

१. सङ्गति—मान लिया कि स्थानविशेष सुने जाने के कारण अर्चिरादि मार्ग का पर्व वायुलोक है, फिर भी वरुणादि का स्थानविशेष न सुने जाने के कारण इस देवयान मार्ग में उनका सम्बन्ध कैसे हो सकेगा; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ करते हैं।

२. विषय—देवयान मार्ग में वरुणादि लोक के सन्निवेश का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—इस अर्चिरादि माग में वरुणादि का सन्निवेश हो सकता है या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—वायु के समान वरुणादि लोक की व्यवस्थापकश्रुति न होने के कारण यहाँ पर उनका सन्निवेश सम्भव नहीं है।

५. सिद्धान्त—विद्युतसम्बन्धी वृष्टि में स्थित जल का अधिपति वरुण है, अतः विद्युतलोक से पर वरुणादि का सन्निवेश उचित है। आगन्तुकों का अन्त में सन्निवेश न्यायसंगत भी है।

(१८३) आतिवाहिकाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार अर्चिरादि का क्रम बतलाने के बाद अब उनके स्वरूप का विचार किया जायेगा। सम्बन्धित विद्युत से पर वरुणादि का सन्निवेश होना चाहिए, ऐसा कहा गया; वैसे ही सादृश्यसम्बन्ध के कारण अर्चिरादि को मार्गचिह्न क्यों नहीं माना जाय, इस आक्षेप का समाधान इस अधिकरण द्वारा किया गया है।

२. विषय—अनुशासक अथवा लोकश्रुति के मुख्यत्व का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—अर्चिरादि मार्ग के चिह्न हैं, भोगभूमि हैं अथवा अतिवाहिक नेता हैं ?

४. पूर्वपक्ष—मार्गचिह्न के सादृश होने के कारण वे मार्गचिह्न हैं। अथवा लोक शब्द का प्रयोग होने के कारण वे भोगभूमि हैं, ये अतिवाहिक नेता नहीं हैं।

तृतीयाधिकरणमारचयति—

कौषीतकिनः पठन्ति—"स वरुणलोकम् स इन्द्रलोकम्, स प्रजापतिलोकम्" (कौ० १·३) इति। ते वरुणादयस्त्रयो लोका अर्चिरादिमार्गे निवेशयितुमशक्याः। वायोरिव व्यवस्थापकाभावात्।

इति प्राप्ते ब्रूम—विद्युल्लोकस्योपरि वरुणलोकः सम्बन्धवशाद्व्यवस्थाप्यते। 'विद्युत्पूर्वकवृष्टिगतनीरस्य वरुणोऽधिपतिः' इति विद्युद्वरुणयोः, संबन्धः। इन्द्रप्रजापत्योस्तु स्थानान्तरासंभवेऽपि 'आगन्तुकानामन्ते संनिवेशः' इति न्यायेन वरुणलोकस्योपरि संनिवेशः। तदेव वरुणादीनां संनिवेशादर्चिरादिमार्गो व्यवस्थितः ॥३॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

य एतेऽर्चिरादयः श्रुतास्ते मार्गाह्वनानि भवितुमर्हन्ति। लौकिकमार्गचिह्नसारूप्येण निर्दिश्यमानत्वात्। लोका हि मार्गज्ञानायैवं निर्दिशन्ति—ग्रामान्निर्गत्य नदीं व्रज, ततः पर्वतम्, ततो घोषमिति। तद्वदत्रापि "अर्चिषोऽहः। अह्न आपूर्यमाणपक्षम्" इति निर्दिश्यते। तस्मान्मार्गचिह्नानि। यद्वा ब्रह्मलोकं जिगमिषोर्विश्रामस्थानभोगभूमयोऽर्चिरादयः। कुतः ? वायुलोकं वरुणलोकमिति प्रयुक्तस्य लोकशब्दस्य भोगभूमौ प्रसिद्धत्वात्।

अन्ते गमयतीत्युक्तेर्नेतारस्तेषु चेदृशः । निर्देशोऽस्त्यत्र लोकाख्या तन्निवासिजनान्प्रति ॥८॥

(१८४) कार्याधिकरणम् ॥५॥

परं ब्रह्माथ वा कार्यमुदङ्मार्गेण गम्यते । मुख्यत्वादमृतत्वोक्तेर्गम्यते परमेव तत् ॥९॥
कार्यं स्याद्गतियोग्यत्वात्परस्मिंस्तदसंभवात् । सामीप्याद्ब्रह्मशब्दोक्तिरमृतत्व क्रमाद्भवेत् ॥१०॥

---

५. सिद्धान्त—'स एतान्ब्रह्म गमयति' ऐसा अन्त में सुने जाने के कारण अमानव पुरुष जिस प्रकार नेता निश्चित जान पड़ता है, उसके सहचर होने के कारण अर्चिरादि भी आतिवाहिक देवता जान पड़ते हैं। आतिवाहिक देवताओं के लिए वे भोगभूमि भले हो हों, किन्तु ब्रह्मलोकयात्री के लिए वे भोगभूमि नहीं हैं। अतः अर्चिरादि आतिवाहिक देवता ही हैं।

(१८४) कार्याधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार गति का निरूपण करने के बाद गन्तव्य का निरूपण होते के कारण पूर्वापर अधिकरण की हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है।

२. विषय—इस अधिकरण में देवयान मार्ग से प्राप्त होने वाले गन्तव्य के स्वरूप का विचार किया गया है।

३. संशय—अर्चिरादि मार्ग से उपासक परब्रह्म को प्राप्त करता है अथवा अपरब्रह्म को ?

४. पूर्वपक्ष—मुख्य अमृतत्व का कथन होने के कारण उन उपासकों को परब्रह्म की ही प्राप्ति होती है।

५. सिद्धान्त—गति के योग्य होने से कार्यब्रह्म को ही उपासक प्राप्त करते हैं, परब्रह्मप्राप्ति के लिए गति की आवश्यकता नहीं है। परब्रह्म के समीप होने से हिरण्यगर्भ को भी ब्रह्म शब्द से कहा गया है, अमरत्व की प्राप्ति क्रमशः होती है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"तत्पुरुषोऽमानवः। स एतान्ब्रह्म गमयति" (छा० ४-१५-५) इत्यन्ते श्रूयमाणस्यामानवस्य विद्युत्पुरुषस्य नेतृत्वावगमात्, तत्साहचर्यार्दचिरादयोऽप्यातिवाहिकदेवता इत्यवगम्यते। यत्तु निर्देशसाम्यमुक्तं तदातिवाहिकदेवतास्वपि समानम्। 'गच्छ त्वमितो बलवर्माणम्, ततो जयगुप्तम्, ततो देवदत्तम्' इत्यादिनिर्देशदर्शनात्। लोकशब्दस्तूपासकानां तत्र भोगाभावेऽप्याति-वाहिकदेवानां भोगमपेक्ष्योपपद्यते। तस्मादातिवाहिका अर्चिरादयः ॥४॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

"स एतान्ब्रह्म गमयति" इति श्रूयमाणं यदुत्तरमार्गप्राप्यं वस्तु तत्परं ब्रह्म भवितुमर्हति। ब्रह्मशब्दस्य तत्र मुख्यत्वात्। "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" (छा० ८-६-६) इत्यमृतत्वकथानाच्च।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सत्यलोकाख्यं कार्यं ब्रह्म, उपासकव्यतिरिक्तत्वात्परिच्छिन्नत्वाच्च गति-पूर्वकप्राप्तियोग्यम्। न तु तथा परं ब्रह्म। तस्य सर्वगतत्वात्। उपासकस्वरूपत्वाच्च। ब्रह्मशब्दस्तु मुख्यार्थासंभवेन सामीप्यसंबन्धात्सत्यलोकमाचष्टे। समीपो हि सत्यलोकः परब्रह्मणः। तल्लोक-वासिनां तत्त्वज्ञानेऽवश्यंभाविनि सति पुनर्जन्मव्यवधानमन्तरेण मोक्ष्यमाणत्वात्। अत एव स्मृतिराह—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥ इति।

एवं च सत्यमृतत्वश्रुतिः क्रममुक्त्यभिप्राया। तस्मादुत्तरमार्गेण प्राप्यं कार्यं ब्रह्म ॥५॥

(१८५) अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ॥६॥

प्रतीकोपासकान्ब्रह्मलोकं नयति वा न वा । अविशेषश्रुतेरेतान्ब्रह्मोपासकवन्नयेत् ॥११॥
ब्रह्मक्रतोरभावेन प्रतीकार्हफलश्रवात् । न तान्नयति पञ्चाग्निविदो नयति तच्छ्रुतेः ॥१२॥

(आदितः श्लोक सं० ३९२)

॥ इति तृतीयः पादः ॥

(१८५) अप्रतीकालम्बनाधिकरण

१. सङ्गति—इस प्रकार गन्तव्यविशेष बतलाने के बाद गन्ताविशेष को बतलाने के लिए गन्तृगन्तव्यभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—ब्रह्मलोक प्राप्त करने वाले अधिकारी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—प्रतीक उपासक ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं या नहीं ?

४. पूर्वपक्ष—नियामक न होने के कारण सभी उपासक सामान्यरूप से ब्रह्मलोक प्राप्त करते ही हैं।

५. सिद्धान्त—प्रतीक उपासक के लिए योग्य फल पृथक् पढ़ा गया है। वे ब्रह्म उपासक नहीं होते, अतः वे ब्रह्मलोक प्राप्त नहीं करते। श्रुति के बल से केवल पञ्चाग्नि विद्या के उपासक ही ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं, अन्य प्रतीक उपासक नहीं।

षष्ठाधिकरणमारचयति—

"स एतान् ब्रह्म गमयति" इति श्रूयमाणोऽमानवः पुरुषो ब्रह्मोपासकवत्प्रतीकोपासकानपि सत्यलोकं प्रापयति। अविशेषश्रवणात्।

इति प्राप्ते ब्रूम—"तं यथा यथोपासते तदेव भवति" (मुद्गलोप० ३·३) इति श्रुतौ ब्रह्मभावनारूपः क्रतुर्ब्रह्मप्राप्तिहेतुरित्यवगम्यते। न हि प्रतीकोपासकानां ब्रह्मक्रतुरस्ति, येन ते सत्यलोकं गच्छेयुः। किंच यथाप्रतीकमर्वाचीनानि फलानि तेषु श्रूयन्ते—"यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति" (छा० ७-१-५)। नामब्रह्मोपासितुः शब्दशास्त्रादिलक्षणे नामविशेषे स्वातन्त्र्यं भवति' इत्यर्थः। कथं तर्हि पञ्चाग्निविदां प्रतीकोपासकानां सत्यलोकप्राप्तिः ? वचनबलादिति ब्रूमः। तस्मात्प्रायतो न प्रतीकोपासकान्सत्यलोकं प्रापयति ॥६॥

(इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पाद)

※ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ※

(१८६) सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥१॥

नाकवन्नूतनं मुक्तिरूपं यद्वा पुरातनम् । अभिनिष्पत्तिवचनात्फलत्वादपि नूतनम् ॥१॥
स्वेन रूपेणेति वाक्ये स्वशब्दात्तत्पुरातनम् । आविर्भावोऽभिनिष्पत्तिः फलं चाज्ञानहानितः ॥२॥

❀ चतुर्थ अध्याय–चतुर्थ पाद ❀

तृतीय पाद में सगुण उपासना के फलोपयोगी गति, गन्तव्य और गन्ताविशेष का विचार किया गया। अब निर्गुण ब्रह्म उपासकों के ब्रह्मभाव का आविर्भाव और सगुण ब्रह्म उपासकों के हिरण्यगर्भतुल्य भोग की प्राप्ति बतलाने के लिए यह चतुर्थ पाद प्रारम्भ किया जाता है।

(१८६) सम्पद्याविर्भावाधिकरण

१. सङ्गति—पादान्तर होने के कारण पूर्व अधिकरण के साथ इसकी सङ्गति अपेक्षित नहीं है।

२. विषय—स्वर्ग एवं मोक्ष की समानता-असमानता पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।

३. संशय—स्वर्ग के समान मोक्ष भी कोई नूतनावस्था जीव को प्राप्त होती है अथवा पुरातन अवस्था प्राप्त होती है ?

४. पूर्वपक्ष—'एष सम्प्रसाद' इस श्रुतिवचन के आधार पर स्वर्ग के समान मोक्ष में भी फलत्व तुल्य होने के कारण मोक्ष कोई नूतन अवस्था ही है।

५. सिद्धान्त—'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा विशेषित पूर्व अवस्था ही मुमुक्षु को प्राप्त होती है। वहाँ पर अज्ञान के नाश हो जाने पर स्वरूपाविर्भाव ही फल है, अन्य कुछ भी नहीं है।

चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे प्रथमाधिकरणमारचयति—

"एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० ८-१२-३) इति श्रूयते। अस्यायमर्थः—'सम्यक्प्रसीदत्युपाध्युपशान्तौ' इति संप्रसादो जीवः। स च शरीरत्रयाभिमानं परित्यज्य परं ब्रह्म प्राप्य मुक्तिरूपेणावतिष्ठत इति। तत्रैतन्मुक्तिरूपं न जीवस्य पूर्वसिद्धम्, किं तु स्वर्गवदागन्तुकम्। कुतः ? 'अभिनिष्पद्य' इत्युत्पाद्यत्वश्रवणात्। पूर्वसिद्धत्वे संसारदशायामपि सद्भावेन फलत्वं न स्यात्। तस्मात्स्वर्गवदिदं नूतनं मुक्तिरूपम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति स्वशब्देन विशेषितत्वात्पूर्वमपि विद्यत एवेदं मुक्तिरूपम्। न चात्र स्वशब्दः स्वकीयमभिधत्ते विशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। यद्यद्रूपं मुक्तावुपादत्ते तत्तत्स्वकीयमेवेति कस्य व्यावृत्तये विशेष्येत। आत्मवाचित्वे तु स्वशब्दस्य स्वकीयत्वव्यावृत्तिः प्रयोजनम्। न चाभिनिष्पत्तिरुत्पत्तिः। पूर्वसिद्धस्योत्पत्तेरसंभवात्। किं तर्हि ? तत्त्वज्ञानेन ब्रह्मत्वाविर्भावोऽभिनिष्पत्तिः। न चैवं सति 'उपसंपद्य, अभिनिष्पद्यते' इत्यनयोः पुनरुक्तिरिति शङ्कनीयम्। उपसंपत्तिशब्देन तत्पदार्थशोधनस्य विवक्षितत्वात्। अभिनिष्पत्तिस्तु वाक्यार्थावबोधः। न च पूर्वसिद्धत्वे मुक्तिरूपस्य फलत्वविरोधः। निवृत्ताज्ञानत्वाकारेण पूर्वसिद्धत्वाभावात्। तस्मात्पुरातनं वस्त्वेव मुक्तिरूपम् ॥१॥

(१८७) अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् ।।२।।

मुक्तरूपाद्ब्रह्म भिन्नमभिन्नं वा, विभिद्यते । संपद्य ज्योतिरित्येवं कर्मकर्तृभिदोक्तितः ।।३।।
अभिनिष्पन्नरूपस्य स उत्तमपुमानिति । ब्रह्मत्वोक्तेरभिन्नं तद्भेदोक्तिरुपचारतः ।।४।।

(१८८) ब्राह्माधिकरणम् ।।३।।

क्रमेण युगपद्वाऽस्य सविशेषाविशेषते । विरुद्धत्वात्कालभेदाद्व्यवस्था श्रुतयोस्तयोः ।।५।।

---

(१८७) अविभागेन दृष्टत्वाधिकरण

१. सङ्गति—ब्रह्म उपासकों को अविशेषरूप से परज्योति की प्राप्ति पहले बतला दी गयी, अब उसी में कुछ अन्य बातों का विचार करने के लिए उपजीव्योपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. विषय—मोक्षावस्था में जीव का ब्रह्म के साथ अत्यन्त भदाभेद का विचार इस अधिकरण में किया गया है ।

३. संशय—क्या अपने रूप से अभिनिष्पन्न जीव मोक्षकाल में ब्रह्म के साथ भिन्न होकर रहता है अथवा अभिन्न हो जाता है ?

४. पूर्वपक्ष—'परम ज्योति को प्राप्तकर' इस श्रुतिवाक्य में कर्तृकर्मरूप भेद का कथन होने से मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म से भिन्न ही रहता है ।

५. सिद्धान्त—मोक्षकाल में अभिनिष्पन्न जीव को उत्तम पुरुष कहा गया है; इससे जीव और ब्रह्म का मोक्षावस्था में अभेद मानना ही उचित है, भेदकथन तो उपचारमात्र है ।

(१८८) ब्राह्माधिकरण

१. सङ्गति—पहले कहे गये ब्रह्म से अभिन्न मुक्त पुरुष को उपजीव्य बनाकर कुछ अन्य बातों का विचार करने के लिए उपजीव्योपजीवकभाव सङ्गति के कारण यह अधिकरण कहा गया है ।

२. विषय—पूर्वोत्तर पक्ष में अपने-अपने पक्ष की सिद्धि हो इस अधिकरण में बतलायी गयी है ।

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

पूर्वाधिकरणे निर्णीतं यदेतन्मुक्तस्वरूपं, तत्परस्माद्ब्रह्मणो भिन्नं भवितुमर्हति । कुतः ? कर्मकर्तृभेदव्यपदेशात् । 'एष संप्रसादः परं ज्योतिरुपसंपद्य' इत्यत्र संप्रसादशब्दोदितो जीव उपसपत्तौ कर्तृत्वेन व्यपदिश्यते । ज्योतिःशब्दवाच्यं च ब्रह्म कर्मत्वेन । तस्मान्मुक्तस्य जीवस्य स्वरूपं ब्रह्मणो भिन्नम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'ज्योतिरुपसंपद्य' इति वाक्यं तत्पदार्थशुद्धिविषयमुक्तम् । अतस्तदानीं भेदोऽस्तु नाम । तत उपरि "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति वाक्य वाक्यार्थदशापन्नं मुक्तिस्वरूपं प्रतिपादयति । न च तस्य ब्रह्मणा भेदोऽस्ति । "स उत्तमः पुरुषः" इति वाक्ये तच्छब्देनाभिनिष्पन्न-मुक्तस्वरूपं परामृश्य तस्योत्तमपुरुषशब्दवाच्यब्रह्मस्वरूपत्वाभिधानात् । तस्मान्मुक्तस्वरूपं ब्रह्माभिन्नम् ।।२।।

तृतीयाधिकरणमारचयति—

मुक्तस्य स्वरूपमूतं ब्रह्म श्रुतिषु द्विधा प्रतिपाद्यते-क्वचित्सविशेषम्, क्वचिन्निर्विशेषम् । तथा हि—"य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः"

मुक्तामुक्तदृशोर्भेदाद्व्यवस्थासंभवे सति । अविरुद्धं यौगपद्यमश्रुतं क्रमकल्पनम् ॥६॥

(१८९) संकल्पाधिकरणम् ॥४॥

भोग्यसृष्टावस्ति बाह्यो हेतुः संकल्प एव वा । आशामोदकवैषम्याद्धेतुर्बाह्योऽस्ति लोकवत् ॥७॥

---

३. संशय--क्या ब्रह्मभाव से सम्पन्न जीव ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि धर्म से भी युक्त हो जाता है या चिन्मात्ररूप से अथवा उभयरूप से स्थित रहता है।

४. पूर्वपक्ष--आचार्य जैमिनि के मतानुसार मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि धर्म से युक्त हो जाता है तथा आचार्य औडुलोमि के मतानुसार मोक्षकाल में जीव चिन्मात्ररूप से अवस्थित रहता है।

५. सिद्धान्त—पारमार्थिक चैतन्यमात्रस्वरूप मानने पर भी सर्वज्ञत्वादि ब्राह्मभाव व्यावहारिक दृष्टि से जीव में हो सकता है। अतः आचार्य बादरायण के मत से मुक्तात्मा में सप्रपञ्चत्व एवं निष्प्रपञ्चत्व उभयधर्म का विरोध नहीं है क्योंकि सर्वज्ञत्वादि सभी धर्म कल्पित हैं।

(१८९) सङ्कल्पाधिकरण

सङ्गति—मुक्तात्मा में व्यावहारिक दृष्टि से सप्रपञ्चत्व और तात्त्विक दृष्टि से निष्प्रपञ्चत्व पिछले अधिकरण में कहा गया, किन्तु इस अधिकरण में संकल्प से भिन्न साधनों का भाव और अभाव आपाततः एक उपाधि में मान लेने पर भी लौकिक अनुमान से श्रुति का बाध नहीं हो सकता; ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—मोक्षकाल में आत्मासे अतिरिक्त भोग के साधन का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय--ब्रह्मलोक में स्थित उपासक के पास पित्रादि की प्राप्ति में संकल्प ही एकमात्र साधन है अथवा अन्य साधन भी हैं ?

४. पूर्वपक्ष--भोग प्रयत्नसापेक्ष ही होते हैं, आशामोदक की भाँति संकल्पमात्र से नहीं ? इस लौकिक अनुमान से यत्नान्तरसापेक्ष संकल्प से ब्रह्मलोक में विभूति की प्राप्ति माननी चाहिए।

(छा० ८-७-१) इति सविशेषत्वश्रुतिः। "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव। एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" (बृ० ४-५-१३) इति निर्विशेषत्वश्रुतिः। ते एते सविशेषत्वनिर्विशेषत्वे मुक्तिदशायां ब्रह्मणो न युगपत्संभवतः। परस्परविरुद्धत्वात्। अतः कालभेदेनोभे व्यवस्थापनीये।

इति प्राप्ते ब्रूमः--प्रतिपत्तृभेदाद्युगपदेव सविशेषत्वनिर्विशेषत्वे उपपद्येते। मुक्तप्रतिपत्त्या निर्विशेषत्वमेव। बद्धप्रतिपत्त्या तु सविशेषं मुक्तस्वरूपं ब्रह्म सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टं सज्जगत्कारणत्वेनावभासते। न हि मुक्ताः पुरुषाः कदाचिदपि 'सर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वादिगुणयुक्ता वयम्' इति प्रतिपद्यन्ते। तत्प्रतिपत्तिहेतुभूताया अविद्याया विनाशितत्वात्। बद्धस्वरूपास्त्वविद्यायुक्ताः सन्तो निर्विशेषमेव ब्रह्म 'सर्वज्ञत्वादिविशिष्टम्' इति कल्पयन्ति। अतः प्रतिपत्तृभेदाद्व्यवस्थासिद्धौ किमनेन कालभेदकल्पनेन। तस्मात्-युगपदेव सविशेषत्वनिर्विशेषत्वे ॥३॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

पूर्वाधिकरणत्रयेण विदेहमुक्तौ विचारितायां ब्रह्मलोकलक्षणायां मुक्तेरवशिष्टत्वात्तद्विचार आ पादसमाप्तेः प्रवर्तते। तत्रार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकस्य भोग्यवस्तूनां सृष्टौ बाह्यहेतुरपेक्षितः। न तु मानससंकल्पमात्रं तद्धेतुः। तथात्वे सत्याशामोदकसमत्वेन पुष्कलभोगाभावप्रसङ्गात्।

संकल्पादेव पितर इति श्रुत्याऽवधारणात् । संकल्प एव हेतुः स्याद्वैषम्यं चानुचिन्तनात् ।।८।।

(१९०) अभावाधिकरणम् ।।५।।

व्यवस्थितावैच्छिकौ वा भावाभावौ तनोर्यतः । विरुद्धौ तेन पुंभेदादुभौ स्यातां व्यवस्थितौ ।।९।।
एकस्मिन्नपि पुंस्येतावैच्छिकौ कालभेदतः । अविरोधात्स्वप्नजाग्रद्भोगवद्युज्यते द्विधा ।।१०।।

---

५. सिद्धान्त—'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इस अवधारणार्थक एवकारयुक्त श्रुति से ब्रह्मलोक में स्थित जीव को तत्रस्थ भोग की प्राप्ति संकल्पमात्र से ही होती है। अतः लौकिक अनुमान से संकल्पातिरिक्त साधनों की कल्पना उचित नहीं है।

(१९०) अभावाधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में 'संकल्पादेव' इस श्रुति में एवकार अवधारण के कारण उपासकों की साधनान्तरनिरपेक्ष विभूति कही गयी थी; ऐसे ही यहाँ भी 'मनसा' यह विशेषण अन्य योगव्यवच्छेदक होने के कारण अवधारणार्थक है। अतः उपासक के देहादि का अभाव क्यों न माना जाय; ऐसी आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय-'संकल्पादेव' इस अवधारणार्थक श्रुति का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या प्राप्तऐश्वर्य ब्रह्मलोक गये उपासक पुरुष के शरीर, इन्द्रियादि होते हैं या नहीं होते ?

४. पूर्वपक्ष—आशामोदक से विलक्षण होने के कारण ब्रह्मलोक गये उन उपासकों को शरीरादि बाह्यसाधन भी होते हैं। जैसे लोक में भोगसुख प्राप्त करने के लिए शरीर और इन्द्रियों की अपेक्षा होती है, ऐसे ही ब्रह्मलोकवासियों को भी शरीरादि की अपेक्षा होती ही है।

५. सिद्धान्त—'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इस अवधारणार्थक श्रुति के बल से ब्रह्मलोक गये उपासकों के पास संकल्प के लिए केवल मन रहता है, अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। बादरि आचार्य के मत से देहादि का अभाव कहा गया है और जैमिनि के मत से देहादि भी माना है; पर बादरायण ने दोनों ही पक्ष का समर्थन किया है, देहादि के अभाव में स्वप्न के समान और भाव में जाग्रत् के समान उनका भोग होता है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"स यदि पितृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" (छा० ८-२-१) इत्यादिना पितृमातृभ्रातृगन्धमाल्यादिभोग्यसृष्टौ संकल्पस्य साधनत्वमभिधायैवकारेण बाह्यहेतुं निराचष्टे। न च संकल्पकार्याणामाशामोदकसमानत्वं शङ्कनीयम् । उपार्जितमोदकसमानत्वस्यापि संकल्पयितुं शक्यत्वात् । संकल्पशक्तेरुपासनाप्रसादेन निरङ्कुशत्वात् । तस्मात्संकल्प एव भोग्यसृष्टौ हेतुः ।।४।।

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

"मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते-" "य एते ब्रह्मलोके" (छा० ८-१२-५,६) इति मानसं भोगमुपपादयन्ती श्रुतिर्बाह्यदेहस्य सेन्द्रियस्याभावमाह। "स एकधा भवति त्रिधा भवति" (छा० ७-२६-२) इति श्रुतिर्देहसद्भावं ब्रूते। तावेतौ देहभावाभावावेकस्मिन्पुरुषे विरुद्धौ। तयोः पुरुषभेदेन व्यवस्थितिः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—एकस्यापि पुरुषस्य कालभेदेन तौ व्यवस्थितौ । यदा देहमिच्छति तदा संकल्पेन देहं सृष्ट्वा तत्रावस्थितो जाग्रद्दशायामिव भोगान्भुङ्क्ते । यदा देहं नेच्छति तदा संकल्पेन तमेव देहमुपसंहृत्य स्वप्नदशायामिव मनसैव भोगान्भुङ्क्ते । तस्मादेकस्यापि पुरुषस्यैच्छिकौ देहभावाभावौ ।।५।।

(१६१) प्रदीपाधिकरणम् ।।६।।

निरात्मनोऽनेकदेहाः सात्मका वा निरात्मकाः । अभेदादात्ममनसोरेकस्मिन्नेव वर्तनात् ।।११।।
एकस्मान्मनसोऽन्यानि मनांसि स्युः प्रदीपवत् । आत्मभिस्तदवच्छिन्नैः सात्मकाः स्युस्त्रिधेत्यतः ।।१२।।

(१६२) जगद्व्यापाराधिकरणम् ।।७।।

जगत्स्रष्टृत्वमस्त्येषां योगिनामथ नास्ति वा । अस्ति स्वाराज्यमाप्नोतीत्युक्तैश्वर्यानवग्रहात् ।।१३।।

---

(१६१) प्रदीपाधिकरण

१. सङ्गति—जब संकल्पमात्र से ही सृष्टि हो सकती है तो फिर शरीर की क्या आवश्यकता, अतः शरीरादि के अभाव में ब्रह्मलोक गये जीव को भोग हो नहीं सकता; इस प्रकार आक्षेप सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. विषय—ब्रह्मलोकवासी जीव के स्वरूप का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. संशय—क्या ब्रह्मलोकस्थ उपासक के द्वारा रचे गये शरीर दारुयन्त्र की भाँति निरात्मक होते हैं अथवा अस्मदादि शरीर की भाँति सात्मक होते हैं?

४. पूर्वपक्ष—आत्मा और मन का भेद न होने के कारण एक शरीर सजीव होता है, उसी से भोग होता है और शेष सभी शरीर निर्जीव होते हैं।

५. सिद्धान्त—प्रदीप की भाँति एक ही मन उपासनासामर्थ्य से सभी शरीरों में भोग कर लेता है। जैसे एक प्रदीप अनेक प्रदीपों को प्रज्वलित कर देता है, वैसे ही एक ही मन अनेक मनों में चेतना भर देता है; इसीलिए 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' ऐसी श्रुति कही गयी है।

(१६२) जगद्व्यापाराधिकरण

१. सङ्गति—स्वाराज्य-कामचारादि श्रुति के बल से ब्रह्मलोकवासियों में जो निरङ्कुश ऐश्वर्य जान पड़ता था, उसका अपवाद "जगद्व्यापारवर्ज्यम्" इस श्रुति के बल से हो जाता है; अतः उत्सर्ग-अपवाद सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. विषय—ब्रह्मलोक में स्थित सगुण उपासकों के ऐश्वर्य का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

षष्ठाधिकरणमारचयति—

"स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा, सप्तधा, नवधा" (छा० ७-२६-२) इति युगपदनेकशरीरस्वीकार ऐच्छिक आम्नायते। तत्रैको देहः सात्मकः। इतरे निरात्मकाः। आत्ममनसोर्बहुभावस्याश्रुतत्वात्। कल्पकाभावाच्च।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अस्ति कल्पकं युगपदनेकदेहभोगानुपपत्तिरूपम्। भोगाय हि बहवो देहा निर्मिताः। न चैकेनैवाऽऽत्मना मनसा च युगपद्बहुदेहानां भोगो दृष्टचरः। तस्मादात्ममनसोर्बहुत्वं कल्पयितव्यम्। यद्यपि नाऽऽत्मान उत्पाद्यास्तथाऽप्येकेन मनसा संकल्प्य बहुषु मनःसूत्पादितेषु तैर्मनोभिरवच्छिन्ना आत्मानो बहवः स्युः। एतदेवाभिप्रेत्य "स एकधा भवति, त्रिधा भवति" इत्यादि श्रुतम्। तस्मात्सात्मकाः सर्वे देहाः ।।६।।

सप्तमाधिकरणमारचयति—

ब्रह्मलोकं प्राप्तानामुपासकानां यथा भोगयोग्यदेहेन्द्रियस्रष्टृत्वमस्ति, तथा वियदादिजगत्स्रष्टृत्वमस्ति। 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १-६-२) इति श्रुत्या निरवग्रहैश्वर्यावगमात्।

सृष्टावप्रकृतत्वेन स्रष्टृता नास्ति योगिनाम् । स्वराज्यमीशो भोगाय ददौ मुक्तिं च विद्यया ।।१४।।

(आदितः श्लोक संख्या–४८७)

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।४।।

---

३. संशय—क्या सगुण ब्रह्म के उपासक का ऐश्वर्य ब्रह्मलोक में ईश्वर के तुल्य निरङ्कुश होता है ?

४. पूर्वपक्ष–'आप्नोति स्वाराज्यम्' इस श्रुति के बल से सगुण ब्रह्मोपासक का ऐश्वर्य निरङ्कुश जान पड़ता है।

५. सिद्धान्त—सृष्टिप्रतिपादक प्रकरण में परमात्मा को ही स्रष्टा कहा गया है, सगुण ब्रह्म उपासक योगियों को नहीं। ईश्वर उन उपासकों को भोग में स्वतन्त्रता देता है, सर्गादि रचना में नहीं। मुक्ति तो विद्या से ही प्राप्त होती है। अतः जगत्सृष्टि में उनकी स्वतन्त्रता न होने पर भी भोग एवं मोक्ष में उनकी स्वतन्त्रता है ही, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार वैयासिकन्यायमाला चतुर्थ अध्याय की कैलासपीठाधीश्वर आचार्य म० मं० श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज द्वारा रचित ललिता व्याख्या पूर्ण हो गयी।

इति प्राप्ते ब्रूमः—वियदादिजगत्सृष्टिप्रतिपादकेषु प्रकरणेषु सर्वत्रः परमात्मैव स्रष्टृत्वेनावगम्यते । न क्वापि योगिनस्तथाऽवगम्यन्ते । अतो न तेषां जगत्स्रष्टृत्वम् । अन्यथाऽनेकेश्वरत्वे सति कश्चित्सिसृक्षति, कश्चित्संजिहीर्षतीति जगद्व्यवस्था न सिध्येत् । कथं तर्हि स्वाराज्यश्रुतिः ? 'ईश्वराधीनस्वाराज्याभिप्रायेण' इति ब्रूमः । ईश्वरो ह्युपासनया तोषितस्तेषां भोगमात्रसिद्धये स्वाराज्यं ददौ । मुक्तिं च तत्त्वविद्योत्पादनेन दत्तवान् । तस्माज्जगत्सृष्टौ स्वातन्त्र्याभावेऽपि भोगमोक्षयोस्तेषां स्वातन्त्र्यमस्ति ।।७।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां टीकायां चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।४।।

वैदिकदशशान्तिमन्त्राः

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।१।।

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।२।।

ॐ यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव ! धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधय पिहितः । श्रुतं मे गोपाय ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।३।।

ॐ अहं वृक्षस्य रेरिव । कीर्तिः पृष्ठं गिरोरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् । समेधा अमृतोऽक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।४।।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।५।।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च । सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिरा-करणमस्त्व-निराकरणं मे अस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।६।।

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वादिष्यामि । सत्यं वादिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।७।।

ॐ भद्रं नो अपिवातय मनः ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥८॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांस स्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः । स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः । स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥९॥

ॐ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवमात्मबुद्धि-प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१०॥

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदाय कर्तृभ्योवंशर्षिभ्यो महद्भ्योनमो गुरुभ्यः । सर्वोपप्लवरहितः प्रज्ञानघनः प्रत्यगर्थो ब्रह्मैवाहमस्मि ।

ॐ विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया । यःसाक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इद श्रीदक्षिणामूर्तये ॥

ॐ नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च ।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्द योगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥२॥
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
तं तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून्सन्ततमानतोऽस्मि ॥३॥

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् । नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम् ॥४॥
शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम् । सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥५॥
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने । व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥६॥
अशुभानि निराचष्टे तनोति शुभसन्ततिम् । स्मृतिमात्रेण यत्पुंसां ब्रह्म तन्मङ्गलं परम् ॥
अतिकल्याणरूपत्वान्नित्यकल्याणसंश्रयात् । स्मर्तॄणां वरदात्वाच्च ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः ॥
ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ
तस्मान्माङ्गलिकावुभाविति ॥
यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः । व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

सूत्राणां वर्णानुक्रमणिका

इति बादरायणप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमणिका सम्पूर्णम्। इत्योंशम्

श्री कैलासपीठाधीश्वर अनन्त श्रीविभूषित श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

एवं श्री कैलास आश्रम के पूर्वाचार्यों की अनुपम कृतियां।

श्री कैलास विद्या प्रकाशन के सोपान

१. ईशावास्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ६८ ३०-००

२. ईशावास्य प्रवचनसुधा, डिमाई साइज पृष्ठ ३२० ... ५०-००

३. ईशावास्य प्रवचनसुधा (आंग्ल अनुवाद) डिमाई १६ पेजी सजिल्द २००-००

४ केनोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता) क्राउन साइज पृष्ठ १३८ ५०.००

आई. एस. बी. एन. ८१-९००६२५-७-३

५ कठोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १४० ५०.००

६. प्रश्नोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय-समलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १२० ... ४० ००

७. मुण्डकोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय समलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ९० ... ४०.००

८. माण्डूक्य कारिका (सटिप्पण, हिन्दी, संस्कृत टीका सहित शाङ्करभाष्य) सजिल्द क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ३२० २५०.००

आई. एस. बी. एन. ८१-९००६२५-८-१

९. माडूक्य कारिका (सानुवाद शाङ्करभाष्ययुता) ... ५०.००

१०. तैत्तिरीयोपनिषद् (सटिप्पण-टीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता) क्राउन साइज पृष्ठ १९८ ... ५०.००

आई.एस बी.एन. ८१-९००६२५ ९-X

११. एतरेयोपनिषद् (सटिप्पणटीका-द्वद संवलित शांकरभाष्ययुता क्राउन साइज पृष्ठ ११२ ... ४०.००

१२. छान्दोग्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शांकरभाष्ययुता क्राउन साइज पृष्ठ ७३४ ... २००-००

१३. बृहदारण्यकोपनिषद् (सटिप्पण-टीकाद्वय समलङ्कृत शांकरभाष्य-युता) सजिल्द क्राउन ८ पेजी २ खण्ड, पृष्ठ १६६२ ... ५००.००

१४. ईशादि सप्तोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय शांकरभाष्योपेता) क्राउन साइज २००-००

१५. ईशादि द्वादशोपनिषद् (विद्यानन्दी मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या) सजिल्द डबल डिमाई १६ पेजी पृष्ठ ५३२ २००-०० (ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है)

१६. ब्रह्मसूत्र (सानुवाद-विद्यानन्दवृत्ति) सजिल्द डबल डिमाई १६ पृष्ठ ५२० २००-०० (ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है)

१७. ब्रह्मसूत्र (संस्कृत विद्यानन्दवृत्ति-परीक्षोपयोगी) डबल डिमाई साइज १६ पेजी पृष्ठ २४७ ... २५-००

१८. ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य सटिप्पण-रत्नप्रभा ललिता व्याख्यायुतम्)
(भाग-१) ... ३००-००
(भाग-२) ... ५००-००

आई.एस.बी.एन. ८१-९००६२५-३-०

१९. ब्रह्मसूत्र (चतुःसूत्री, शांकरभाष्य सटिप्पण ललिता व्याख्यायुतम्) १००.००
आई.एस.बी.एन. ८१-९००६२५-०-६

२०. ब्रह्मसूत्र मूलपाठ ... १०-००

२१. वैयासिक न्यायमाला (संस्कृत, हिन्दी, टीकाद्वय सम्वलिता व्याख्यायुता १५०-००
आई. एस. बी. एन. ८१-९००६२५-४-९

२२. वैयासिक न्यायमाला (सानुवाद ललिता व्याख्यायुता १००-००
आई. एस. बी. एन. ८१-९०००६२५-४-७

२३. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य सटिप्पण आनन्दगिरि टीका ललिता व्याख्यायुतम् दो भाग) ... ४००-००
आई० एस० बी० एन० ८१-९००६२५-१-४

२४. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य ललिता व्याख्यायुतम् ... २५०-००
आई० एस० बी१ एन० ८१-९०००६२५-२-२

२५. श्रीमद्भगवद्गीता (अष्टादशाह प्रवचन) ... २५०-००
(ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है)

२६. वेदान्त परिभाषा (अर्थदीपिका एवं सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या) सजिल्द क्राउन साइज ८ पेजी ... ८०-००

२७. वेदान्त परिभाषा (परीक्षाब्धि-संतरणी) ... २०-००

२८. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी-छात्रतोषिणी टीका परिक्षाब्धिसंतरणी अष्टोत्तरशतन्यायमालायुता) १२०-००

२९. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी सटिप्पणटीकाद्वय संवलिता भाग १-२ ... १८०-००

३०. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी परिक्षाब्धि संतरणी) ४०- ००

३१. चतुःसूत्री (भामती परीक्षाब्धि संतरणी) ... २०-००

३२. व्याप्तिपञ्चकम् (सानुवाद माथुरी छात्रतोषिणी संवलितम्) ... ४०-००

३३. सिद्धान्तलक्षणम् (जागदीशी छात्रतोषिणी हिन्दी व्याख्यात्रय संवलितम। ... यन्त्रस्थ

३४. संक्षेप शारीरकं (सानुवाद-मधुसूदनी सटिप्पणं संवलितं [भाग-१-२] ... ५००-००

३५. संक्षेप शारीरकं (सानुवाद ललिता व्याख्यायुता) ... २००-००

३६. सागरसेतु सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२० ... ५०-००

३७. कैलास आश्रम शताब्दी स्मारिका सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ४३४ .... ५०-००

३८. यतीन्द्रतिलक सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२४ .... ५०-००

३९. दिव्यस्मृति पृष्ठ ३८८ ... २०-००

४०. आचार सहिता ... ५०-००
आई. एस. बी. एन. ८१-९००६२५-६-५

४१. व्यासपूजापद्धति(शङ्खकलशप्रधान-वेदोमण्डलैःसमलङ्कृता) २०-००

४२. चित्राञ्जलिः १२५-००

४३. श्रद्धासुमनाञ्जलिः १२५-००

४४. अमृताञ्जलिः ५०-००

४५. श्रुतिसारसमुद्धरणम् (हिन्दी-टीकायुतम्) क्राउन १६ पेजी पृष्ठ १५२ २०/-

४६. तत्त्वबोध, आत्मबोध सानुवाद पृष्ठ १०० २०/-

४७. वेदान्त रत्नाकर क्राउन १६ पेजी पृष्ठ ११६ २०/-

पाणिनीय-प्रशस्तिः

आचार्यमहामण्डलेश्वरेण कैलासपीठाधीश्वरेण
श्रीमत्स्वामिना विद्यानन्दगिरिणा विरचिता ।

अष्टाध्यायो मया दृष्टा यल्लब्धं फलमीप्सितम् ।
तच्छक्यं नहि केनापि प्राप्तुं तद्दर्शनं विना ॥१॥

अष्टाध्यायीमदृष्ट्वा च योऽन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
वृथैव जीवनं यातं तस्य हा हन्त मन्मतम् ॥२॥

तस्मादग्रे न कर्तव्यमित्थं कैश्चिच्च पण्डितैः ।
नो चेत् स्वस्य च स्वीयानां वृथा यास्यति जीवनम् ॥३॥

पाणिनीयरहस्यं चेज्ज्ञातुमिच्छति यो नरः ।
अवश्यं तेन द्रष्टव्यः पाणिन्युक्तमहोदधिः ॥४॥

शङ्का बोभूयते यस्मात् सूत्रस्यार्थोऽतियत्नतः ।
न कर्त्तुं शक्यते कैश्चिद्विस्मरद्वृत्तिभिर्नरैः ॥५॥

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः ।
अनेन वचसा येन ह्यार्षग्रन्थोऽवहेलितः ॥६॥

प्रत्यक्षं तत्फलं लब्धं तेन प्रेत्यापि लप्स्यते ।
यथा स्वरापराधेति नेदुर्भाष्ये च तत्कृतः ॥७॥

नागेशादिमहाभट्टैः सादरं पाणिनिक्रमम् ।
गृहीत्वा लब्धपाण्डित्यैर्नैपुण्यं चित्रकारकम् ॥८॥

प्राप्तमद्यापि नाप्राहि यैश्च स्वीयप्रमादतः । ।
क्रमस्तेषां कृते चिन्ता भूरिशो मे हृदिस्थिता ॥९॥

तस्मात्पण्डितवर्याणामन्तिके चातिसादरम् ।
कायेन मनसा वाचा ज्ञापनेयं समर्पिता ॥१०॥

गर्वादिकं परित्यज्य श्रूयतां सादरं वचः ।
पाणिनीयक्रमत्यागो भारतीयैरसाम्प्रतम् ॥११॥

भो ! भो ! विद्यार्थिनः ? सर्वैः श्रोतव्यं खलु मद्वचः ।
वारमेकं समाधीत्य सूत्राणि पाणिनिक्रमात् ॥१२॥

अध्येतव्यं प्रयत्नेन सादरं कौमुदीत्रिकम् ।
नाग्रहो मे यतः पश्चादस्ति तत्र कथञ्चन ॥१३॥

सप्तद्वीपपृथिव्याञ्च पारं शब्दमहोदधेः ।
गन्तुमिच्छन्ति चेत् केचित् गम्यतां तैर्यथा-
सुखम् ॥१४॥

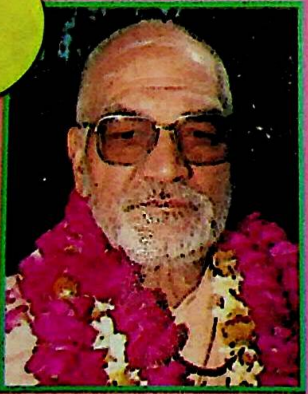
विद्यानन्दस्य वाञ्छा चेद्विस्तृते शब्दसागरे ।
पाणिनिक्रमिकां नौकमारुह्य यान्ति नो भयम् ॥१५॥

निगमशास्त्रमुखे निहितं फलं,
ऋषिविनिर्मितरीतिविभूषितम् ।
त्रिमुनिवंशपरम्परयागतं,
पठत भाष्यसमन्वितसूत्रकम् ॥१६॥

इति पाणिनिप्रशस्तिः समाप्तिं गता ।

देवानुग्रहत्रिदशकमहोत्सवप्रसङ्गे प्रकाशितम्





श्रीकैलास[illegible]धीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

आप का जन्म २९ नवम्बर, सन् १९२१ को जिला पटना (बिहार) के गाजी पुर ग्राम में हुआ। आपके पिता श्रीमान् जवाहर शर्मा जी और माता श्रीमती ललिता देवी थीं। आप बाल्यकाल से ही भगवान् की उपासना में रुचि रखते थे। २० वर्ष की आयु में आपने घर गृहस्थी को त्याग कर साधु जीवन अपनाया। आपके गुरुदेव परमहंस स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज एवं उनके गुरुदेव योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज से आपने परमार्थ पथ की दीक्षा ली। अपनी सारस्वत साधना में आपने काशी में वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य तक अध्ययन कर परीक्षा पास की। तत्पश्चात् आप अध्यापन कार्य में संलग्न हुए। दस वर्षों तक दिल्लीस्थ विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य रहे। वहीं पर निरञ्जनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज एवं निरञ्जनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की प्रेरणा से संन्यास दीक्षा ली।

२१ जुलाई सन् १९६९ में आप कैलास ब्रह्मविद्यापीठ ऋषिकेश के महामण्डलेश्वर पद पर आसीन हुये। आपके कार्य कलापों से तब विद्यमान कैलास आश्रम के दो पूर्वाचार्य म.मं. स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज एवं म.मं. स्वामी चैतन्य गिरि जी महाराज अत्यन्त संतुष्ट हुये। आपने ग्रन्थ रचना एवं प्रकाशन में विशेष रुचि ली और अनेकों ग्रन्थों का लोककल्याणार्थ प्रकाशन बड़े धैर्यपूर्वक करवाया। आप भारत के आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र के आचार्यों में अग्रगण्य हैं। साधु समाज की दृष्टि में आप की क्षमता, शक्ति, लगन, तत्परता, विद्वत्ता तपश्चर्या सहिष्णुता एवं उदारता सभी गगन-चुम्बी और अलौकिक हैं। आध्यात्मिक संस्कृति के सर्वाङ्गीन विकास और जन जीवन को दिव्यालोक प्रदान करने में आप ने युगपुरुष की भूमिका निभाई है।

१० दिसम्बर १९९६ को आप के पावन जीवन के ७५ वर्ष पूर्ण होने पर आप का अमृत महोत्सव सन्तों एवं भक्तों ने बड़ी धूम धाम से [illegible]या और आप के सुदीर्घ स्वस्थ जीवन की आशुतोष भगवान् शंकर से प्रार्थना की। आषाढ़ शु. ७ वि.सं. २०५५ से एक वर्ष पर्यन्त कैलासाश्रम [illegible] आपके पीठासीन हुए तीस वर्ष होने के उपलक्ष्य में "देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव" मनाया जा रहा है।

Price : Rs. 150.00

ISBN 81-900625-4-9